गगनांचल

साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम

वर्ष: 41, अंक: 2-4, मार्च-अगस्त, 2018 (संयुक्तांक)

11वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक

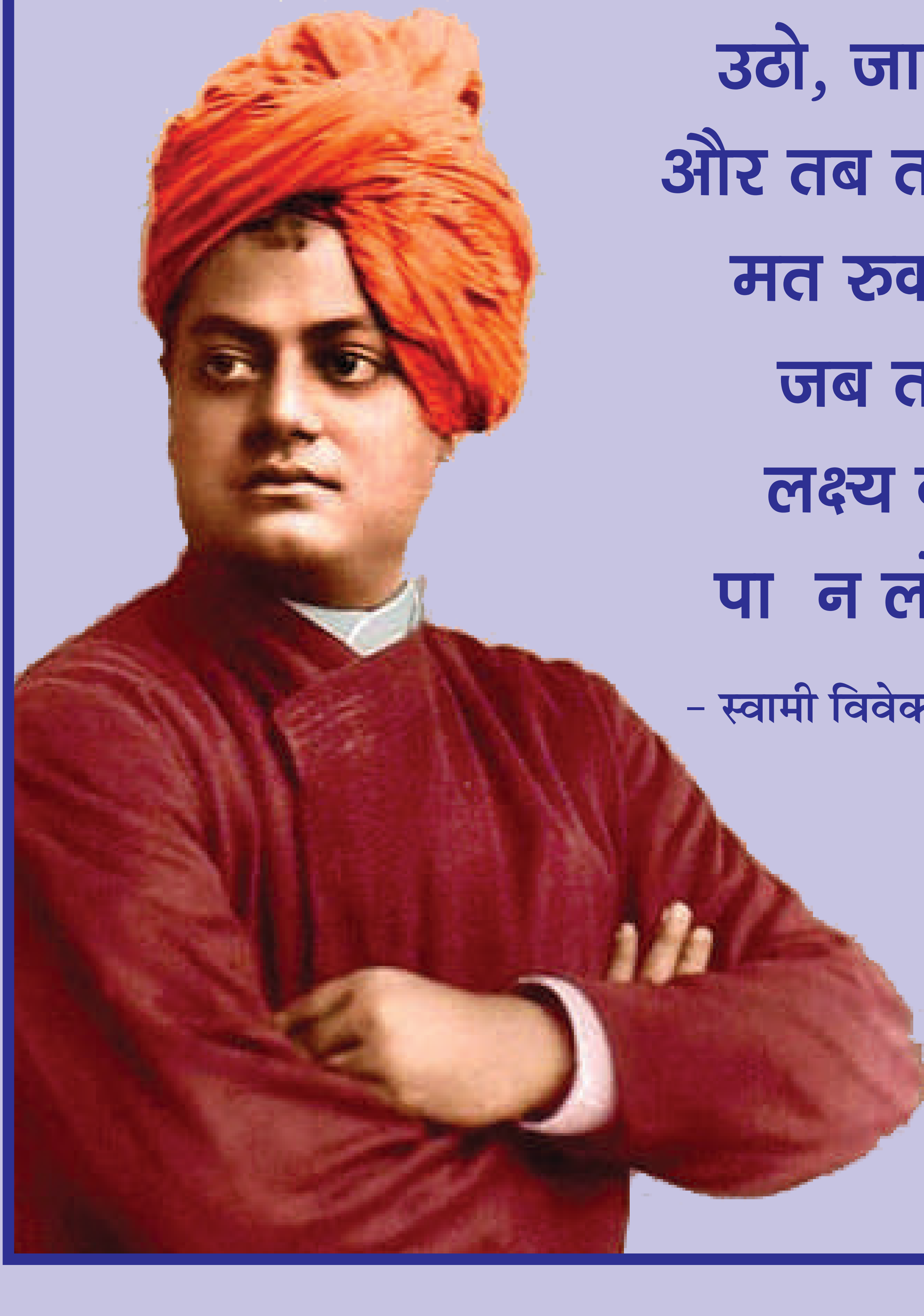

उठो, जागो
और तब तक
मत रुको,
जब तक
लक्ष्य को
पा न लो।

– स्वामी विवेकानंद

गगनांचल

मार्च–अगस्त, 2018 (संयुक्तांक)

11वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक

भारतीय संस्कृति : विविध आयाम

11 वां

विश्व हिंदी सम्मेलन

मॉरीशस, 18–20 अगस्त, 2018

प्रकाशक

रीवा गांगुली दास

महानिदेशक

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली

संपादक

डॉ. हरीश नवल

सह संपादक

डॉ. आशीष कंधवे

ISSN : 0971-1430

प्रकाशन सामग्री भेजने का पता

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट, नई दिल्ली–110002

ई–मेल: **spdawards.iccr@gov.in**

गगनांचल अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध है।
www.iccr.gov.in/journals/hindi-journals
पर क्लिक करें।

गगनांचल में प्रकाशित लेखादि पर प्रकाशक का कॉपीराइट है किंतु पुनर्मुद्रण के लिए आग्रह प्राप्त होने पर अनुमति दी जा सकती है। अत: प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना कोई भी लेखादि पुनर्मुद्रित न किया जाए। गगनांचल में व्यक्त विचार संबद्ध लेखकों के होते हैं और आवश्यक रूप से परिषद की नीति को प्रकट नहीं करते। प्रकाशित चित्रों और फोटोग्राफ्स की मौलिकता आदि तथ्यों की जिम्मेदारी संबंधित प्रेषकों की है, परिषद की नहीं।

शुल्क दर

वार्षिक	:		₹ 500
		यू.एस.	$ 100
त्रैवार्षिक	:		₹ 1200
		यू.एस.	$ 250

उपर्युक्त शुल्क–दर का अग्रिम भुगतान 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली' को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

मुद्रक : इमेज इंडिया, नई दिल्ली–110002
9953906256

अनुक्रम

सांस्कृतिक मंथन

भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता 9
डॉ. करुणा शंकर उपाध्याय

भारत के सांस्कृतिक मूल्य 15
डॉ. दादूराम शर्मा

संस्कृत, संस्कार और संस्कृति 22
मूल: डॉ. वेदज्ञ आर्य
प्रस्तुति: आदित्य आर्य

भारतीय संस्कृति एक संपूर्ण संस्कृति 26
डॉ. आशीष कंधवे

भारतीय संस्कृति की अंतश्चेतना 30
डॉ. रामवृक्ष सिंह

संस्कृति, साहित्य और वर्तमान परिवेश 37
डॉ. मिथिलेश दीक्षित

भारतीय संस्कृति और भाषा 41
डॉ. के. श्रीलता

संस्कृतिवाहिनी भाषा 46
डॉ. राजश्री रावत 'राज'

भारतीय भाषायें संस्कृति का अस्तित्व 49
डॉ. एम. एल. गुप्ता 'आदित्य'

सर्वसार-ओंकार 53
इंदिरा मोहन

भारतीय संस्कृति राम की संस्कृति 56
डॉ. राजेश श्रीवास्तव

विश्व में भारतीय संस्कृति का आधार 61
डॉ. श्रुति

इक्कीसवीं सदी और भारतीय संस्कृति 64
प्रो. उमेश कुमार सिंह

हिंदी, हिन्दुस्तानी और भारतीय संस्कृति 68
डॉ. ओम निश्चल

वैश्विक संदर्भ में भारतीय संस्कृति और हिंदी 74
प्रो. शैलेंद्र कुमार शर्मा

हिंदी का सांस्कृतिक रंग 81
स्वाति श्वेता

भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं का वैज्ञानिक आधार 84
मोनिका अग्रवाल

सांस्कृतिक सूर्य

समावेशी संस्कृति के प्रतीक: गुरु जम्भेश्वर 87
प्रो. अनिल राय

कबीर साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना 90
रेखा यादव

अद्भुत संत दादू दयाल 95
अखिलेश आर्येन्दु

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि:
महाकवि सूरदास 102
सुशील सरित

विश्व कवि तुलसीदास 107
डॉ. चंद्रकांता किनरा

सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक संत रविदास 110
डॉ. सुरेंद्र गुप्त

विवेकानंद का ऐतिहासिक शिकागो जयघोष 113
सुभाष सेतिया

सांस्कृतिक विस्तार

जैसा मैंने देखा और समझा: अमेरिका में भारतीय संस्कृति 117
आस्था नवल

ब्रिटेन में भारतीय संस्कृति 121
दिव्या माथुर

चीन में हिंदी एवं भारतीय संस्कृति 126
नवीन चंद्र लोहानी

जापान में भारतीय संस्कृति 130
सुरेश ऋतुपर्ण

हंगरी में भारतीय संस्कृति 134
डॉ. विजया सती

नार्वे में भारतीय संस्कृति 138
सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक'

कोरिया का सांस्कृतिक वैभव और भारत 141
दिविक रमेश

भारतीय संस्कृति—मेरे भीतर का त्रिनिदाद और टुबैगो 144
प्रेम जनमेजय

ऑस्ट्रेलिया में भारतीय संस्कृति 151
रेखा राजवंशी

नीदरलैंड में भारतीय संस्कृति 156
पुष्पिता अवस्थी

फ्रांसीसी साहित्य में भारत और भारतीय संस्कृति 159
राज हीरामन

'मुस्कानों का देश' थाईलैंड में मुस्कराती भारतीय संस्कृति 164
डॉ. करूणा शर्मा

प्रवासी भारतीय और लोकप्रिय संस्कृति 168
डॉ. मुन्नालाल गुप्ता

जापान में भारतीयता की झलक 173
हरजेंद्र चौधरी

सांस्कृतिक वैविध्य

धर्म, संस्कृति और सभ्यता की प्रतीक गाय 177
शशिकांत 'सदैव'

लीला पुरूषोतम कृष्ण 181
प्रो. योगेश चंद्र शर्मा

लोक संस्कृति नियामक नटराज 185
डॉ. विनय कुमार सिंघल

मानवता और संस्कृति 187
डॉ. सुधेश

भारतीय आभूषण संस्कृति 189
आर.के. जायसवाल

भारतीय तिलक संस्कृति 194
निर्दोष खुराना

विदेश मंत्री
भारत

सत्यमेव जयते

सुषमा स्वराज
Sushma Swaraj

Minister of External Affairs
India

संदेश

मॉरीशस में आयोजित हो रहे 'विश्व हिंदी सम्मेलन' के अवसर पर 'गगनांचल' के विशेषांक के लिए मेरी शुभकामनाएं प्रेषित है। विशेषांक का मुख्य विषय 'भारतीय संस्कृति : विविध आयाम' मुझे बहुत महत्वपूर्ण लगा है। वास्तव में भारतीय संस्कृति अध्यात्म और दर्शन की संस्कृति है जो सामाजिक उत्थान का मूलाधार बनती है। सभ्यता के विकास क्रम में संस्कति का ह्रास सामाजिक पतन का, अपसंस्कृति का कारण बन सकता है। अपसंस्कृति से बचाव हेतु संस्कृति के और उसके अवयवों को जानना, समझना आवश्यक है।

मेरी दृष्टि में 'गगनांचल' का प्रस्तुत अंक 'भारतीय संस्कृति' को समझने के सूत्र दे सकेगा और प्रेरणा देगा कि हम उस चेतना को जागृत कर सकेंगे जो सांस्कृतिक मूल्यों को अक्षुण्ण रख सकेगी।

इसी विश्वास के साथ।

सुषमा स्वराज

(सुषमा स्वराज्य)

172, South Block, New Delhi-110011 Tel: 91-1123011127, 23011165 Fax: 91-11-23011463

प्रकाशकीय

रीवा गांगुली दास

महानिदेशक

ग्यारहवें विश्व हिंदी सम्मेलन के शुभ अवसर पर आपका अभिनंदन। 'गगनांचल' का यह विशेषांक भारत और मॉरीशस के लिए बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकेगा, ऐसी आशा है।

'भारतीय संस्कृतिः विविध आयाम' इस विशेषांक का मूल स्वर है जो दोनों देशों का वैचारिक आधार भी है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता, संस्कार, भाषा के साथ संस्कृति का सहचर्य आदि अनेक विषयों को समेटते हुए लेख इस अंक में समाहित हैं। विषय का महत्व और गहनता देखते हुए इस बार 'गगनांचल' में हम केवल और केवल लेख ही प्रस्तुत कर रहे हैं, कहानी, कविता आदि गद्य व पद्य की अन्य विधाएँ इसमें नहीं हैं। विचार मंथन के लिए ऐसा प्रावधान उचित है, ऐसी हमारी सोच है।

ग्यारहवां विश्व हिंदी सम्मेलन सफल हो, ऐसी कामना है। 'गगनांचल' भारतीय संस्कृति की सुगंध आप तक पहुँचा सके, ऐसी अपेक्षा है।

आप अपनी प्रतिक्रिया देंगे ऐसा विश्वास है।

नमस्कार!

रीवा दास

संपादकीय

हरीश नवल
संपादक

अप्रतिम भारतीय संस्कृति

ग्यारहवां 'विश्व हिंदी सम्मेलन' मॉरीशस में आयोजित हो रहा है। मॉरीशस में यह आयोजन तीसरी बार है। मॉरीशस को 'लघु भारत' कहा जाता है, भारतीय संस्कृति भारत से अधिक लघु भारत में देखने को मिलती है। भारतीय संस्कृति के रक्षक मॉरीशसवासी अपने घर के प्रवेश द्वार पर एक छोटा सा मंदिर या एक देव प्रतिमा रखते हैं, जिस पर रोज शुद्ध जल से आचमन किया जाता है। 'रामकथा' वाचन एक समारोह की भांति किया जाता है। उपयुक्त अवसरों, दिवसों पर व्रत रखे जाते हैं आदि आदि...

ऐसे भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत देश में इस बार के सम्मेलन का मुख्य विषय 'हिंदी विश्व और भारतीय संस्कृति' निश्चित कर विदेश मंत्री माननीय श्रीमती सुषमा स्वराज ने उचित निर्णय लिया है। विदेश मंत्रालय के अंतर्गत 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद' की अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका 'गगनांचल' ने सम्मेलन अवसर पर प्रकाशित होने वाले इस विशेषांक का आधार विषय 'भारतीय संस्कृति: विविध आयाम' रखा है जिसे परिषद के अध्यक्ष माननीय श्री विनय सहस्त्रबुद्धे ने संस्तुत किया है।

प्रस्तुत विशेषांक में आप भारतीय संस्कृति संदर्भित अनेक महत्वपूर्ण लेख पढ़ सकेंगे जो भारतीय मनीषा के प्रतिनिधि लेखकों और विचारकों ने लेखनीबद्ध किए हैं, जो भारतीय संस्कृति के अनेक पक्षों को उद्घाटित करते हैं।

'संस्कृति' क्या है, इस पर विद्वानों ने समय-समय पर अपनी राय दी हैं। समवेत दृष्टिपात करने से निष्कर्ष कुछ ऐसा निकलता है कि 'संस्कृति भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, अध्यात्मिक, दार्शनिक और धार्मिक अभ्युदय के उपयुक्त मानव की श्रेष्ठ साधनाओं और सम्यक प्रयासों की सूक्ष्म एवं वृहद् अभिव्यक्ति है।

संस्कृति प्रकट नहीं होती अपितु वर्षों वर्ष बाद उसका आविर्भाव होता है। स्थान, समय, स्थिति के अनुसार वह विकसित होती है। यह विकास सांस्कृतिक प्रतिमानों के परिवर्तन की प्रक्रिया होता है।

यह ऐसी जीवनपद्धति है जिसे आदर्श या लक्षित माना जाता है। व्यवहार से यह आदर्श की ओर ले जाती है, प्राय: यह प्रतीकों के माध्यम से व्यवहारगत नियम आदि तय करती है जिसे एक से विचार वाले जन ग्रहण करते हैं।

भारतीय संस्कृति, विशेषत: जिसे 'हिंदू संस्कृति' भी कहा जाता है उसकी विशिष्टताएं, विचार और धरोहर उसे अन्य विदेशज संस्कृतियों से अलग कर एक अन्य पहचान देते हैं जिसे लगभग संपूर्ण विश्व में सर्वग्राह्यता सिद्ध माना जाता है। इस संस्कृति का मूलाधार धर्म है और नैतिक आचरण इसकी धुरी है। भारतीय संस्कृति समन्वय की संस्कृति है, सदाचार की संस्कृति है, सत्य के अन्वेषण की संस्कृति है, सद्व्यवहार और आस्था की संस्कृति है। ये ही वे कारण हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति का सिरमौर बनाया है।

युगों-युगों से ऋषित्व संपन्न व्यक्ति सत्य का अन्वेषण करते आये हैं, उन्हीं के कारण विश्व ने सत्य की खोज करने वालों को 'भारतीय' कहा और सिंधु सभ्यता के बल पर 'हिंदू' संज्ञा दी। हिंदुत्व का उद्भव यहीं से हुआ और इस प्रकार हिंदू संस्कृति ज्ञानबोध और आत्मबोध का पर्याय बनी। हमारी वैभवशाली इस संस्कृति को कुछ अन्य नाम भी मिले जिनमें 'आर्यसंस्कृति' और 'वैदिक संस्कृति' बहुत प्रसारित हुए। सनातन होने के बावजूद भी हमारी संस्कृति प्रगतिशील रही। यहीं नहीं, ये प्रगतिशील मूल्य विश्व को आकर्षित करते रहे और वैज्ञानिक संभावनाओं से संपन्न सांस्कृतिक चिंतन को मथते रहे।

भारतीय संस्कृति के उस उद्घोष ने आज भी विश्व को सम्मोहित किया हुआ है जिसका लेखा-जोखा आप इस विशेषांक के लेखों में पा सकेंगे। चित्त को परिष्कृत करने में भारतीय संस्कृति आज भी समीचीन है क्योंकि यह वृत्तियों को उदात्त करने वाले दर्शन को पनपाती है। अध्यात्म, जागरण, दानशीलता, नारी सम्मान, शांति कामना, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का संतुलन और व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय भावना को प्रश्रय देने वाली यह संस्कृति दूसरे देशों में कितनी प्रभावी है, इसका आकलन आप 'गगनांचल' के इस अंक के एक विशेष खंड 'सांस्कृतिक विस्तार' के अंतर्गत देखेंगे। इस खंड में अमरीका, जापान, कोरिया, ऑस्ट्रेलिया, त्रिनिदाद, चीन, ब्रिटेन, नार्वे, नीदरलैंड, हंगरी, थाईलैंड और फ्रांस में भारतीय संस्कृति कैसे संरक्षित है, इसका विशेष लेखा-जोखा 'गगनांचल' ने इन देशों में प्रवासरत् प्रबुद्ध रचनाकारों से सानुरोध लिखवाया है।

भारतीय संस्कृति राम की संस्कृति भी कही जाती है। हमारे सांस्कृतिक शिखर पुरुषों में वे सर्वोपरि हैं। राम संदर्भित और शिव, कृष्ण, आलवार संत समुदाय, कबीर, दादू, सूरदास, तुलसीदास, रविदास और विवेकानंद हमारे सांस्कृतिक सूर्यो में हैं जिन पर 'गगनांचल' ने विशेष सामग्री अधिकारी विद्वानों से उपलब्ध की है।

'गगनांचल' का यह अंक आपको भारतीय सांस्कृतिक वैभव का परिचय दे सके, यह हमारा उद्देश्य है। भाषा का संस्कृति से अंत:संबंध है अत: हिंदी विषयक संदर्भ भी आप इन लेखों में पा सकेंगे।

आइये इस अप्रतिम सांस्कृतिक यात्रा का शुभारंभ करें।

सादर,

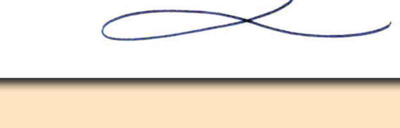

भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता

—डॉ. करुणा शंकर उपाध्याय

वर्तमान उत्तर आधुनिक दौर में जब वैश्वीकरण की आँधी चल रही है और सम्पूर्ण विश्व को एक रीति-नीति के अंतर्गत लाने का प्रयास हो रहा है तब यह जरूरी है जाता है कि हम अपनी हजारों साल पुरानी भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता पर नए सिरे से विचार करें। भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीनता और कालजयता के कारण विश्व प्रसिद्ध है। यह आरंभ से ही 'वसुधैव कुटुंबकम्' के महती आदर्श को लेकर चली है। आज वैश्वीकरण अर्थशास्त्र और प्रौद्योगिकी के सानुपातिक समायोजन द्वारा एक ऐसी विश्व-व्यवस्था कायम करने का हिमायती है कि जहाँ किस्म-किस्म की अर्थव्यवस्थाओं में स्वाभाविक संश्लेषण होगा। यह अंग्रेजी के 'ग्लोबलाइजेशन' शब्द का हिंदी रूपांतर है जो एक ही विश्व-व्यवस्था को कायम करने के लक्ष्य को लेकर संकल्पित है। वैश्वीकरण विश्व बाजारवाद के रथ पर आरूढ़ होकर शिक्षण प्रौद्योगिकी के सहारे वैश्विक अर्थ तंत्र को प्रतिष्ठित एवं विकसित करने के लिए हरेक देश की व्यवस्था से अनिवार्य रूप से जुड़ने के लिए कृत संकल्प है। इसे साकार करने के लिए पहले 'गेट' के द्वारा तथा बाद में विश्व व्यापार संगठन के सटीक माध्यम द्वारा सक्रिय अभियान चलाया गया। इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व के अर्थ तंत्र को एक खुली व्यवस्था के तहत लाकर निश्चित विधान का दायरा प्रदान किया गया। आज वैश्वीकरण एक विराट वर्चस्वी संरचना के रूप में हमारे सामने है तथा विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष, कारपोरेट जगत, बहुराष्ट्रीय निगम तथा तकनीकी आविष्कृतियाँ उसके आधार-स्तंभ के रूप में कार्यरत हैं।

ऐसे तीव्र बदलाव वाले समय में भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता पर खुला विमर्श होना चाहिए जिससे उसके सर्वोत्तम पक्षों को विश्व मनुष्यता के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके।

आज जब समूचा विश्व मूल्यहीनता और भयावह अनास्था का शिकार हो रहा है तब भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता और भी

विश्व हिंदी सम्मेलन
मॉरीशस, 18-20 अगस्त, 2018

सम्पर्कः प्रोफेसर हिंदी विभाग मुम्बई, विश्वविद्यालय मुम्बई—400098
मो. : 09167921043, 09869511876

बढ़ जाती है। वस्तुत: भारतीय संस्कृति एक विशेष भौगोलिक और ऐतिहासिक परंपरा के भीतर मनुष्य के सर्वोत्तम अंश को प्रकाशित करने के प्रयास की अभिव्यक्ति है। उसकी प्रमुख विशेषता, चिंतन की स्वतंत्रता, बाहरी ग्रहण करने योग्य तत्वों को पचा कर हजम कर जाने की क्षमता और समय के अनुकूल इसी में परिवर्तन कर देने की योग्यता है। अनेक धर्मों, विचारधाराओं, जीवन प्रणालियों और भौगोलिक विविधता के रहते हुए उसमें विद्यमान एकता असंदिग्ध और रमणीय है।

भारतीय संस्कृति चराचर जगत के प्रति अभेदता एवं एकता का भाव लेकर चली है। सर्वप्रथम वेदों और उपनिषदों में यह विचार आया कि एक ही प्राणवान सत्ता सभी स्थानों पर व्याप्त है, वह ऊर्जा के विभिन्न रूपों में सारे संसार में महसूस की जा सकती है—ईशावास्यम इदम् सर्वम यात्किंच जगत्यम जगत। धूल के इस कण को जिसे हम पृथ्वी कहते हैं, उसी में नहीं बल्कि उस जैसी अरबों पृथ्वियों, आकाशगंगाओं तथा समूचे ब्रह्माण्ड में ईश्वरीय शक्ति के संधान की दृष्टि ही भारतीय संस्कृति की मूल चेतना है। हमारे ऋषियों द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त, एक ही ऊर्जा और एक ही शक्ति समूची सृष्टि में व्याप्त है, हजारों साल पुराना है जबकि पश्चिम में आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक की समझ में यह बात एक शताब्दी पूर्व आई।

इस सूत्र को व्यावहारिक अर्थ देने वाली एक संकल्पना और है जो भारतीय संसद के मुख्य द्वार पर भी अंकित है—

''अयं निज: परोवेति गणना लघुचेतसां। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकं।।''

अर्थात् यह मेरा है, और वह तेरा, संकुचित ह्रदय वाले ही सोच सकते हैं जिसका चित विशाल है, उसके लिए तो सारा विश्व एक परिवार के समान है। यही बात गोस्वामी तुलसीदास 'रामचरितमानस' में दूसरे ढंग से कहते हैं—'मैं अरु मोर तोर यह माया, जिहि बस कीन्हें जीव निकाया।' इससे बचने का वे मार्ग भी सुझाते हैं—'सीय-राममय सब जग जानी। करउं प्रणाम जोरि जुग पाणी।' प्रसाद जी ने कामायनी में दिखलाया है कि जब मनु श्रद्धा की सहायता से आनंद की प्राप्ति करते हैं तब तब वे विराट विश्वचेतना से पुलकित होकर कह उठते हैं—''हम अन्य न और कुटुम्बी, हम न केवल एक हमी हैं। तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ कमी नहीं है।'' कहना न होगा कि इस विराट दृष्टिकोण ने भारतीय संस्कृति को अविरोधी रूप में विकसित किया। हमारे ऋषियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा अविरोधी धर्म एवं संस्कृति की जो संकल्पना विकसित की, वह सम्पूर्ण विश्व में अपना दृष्टान्त आप ही है। गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविंद से निकले दो सूत्र भारतीय संस्कृति को उस ऊँचाई पर ले जाते है। जिसके आगे राह नहीं, कहा जा सकता है, सारे जगत में भारतीय संस्कृति ही यह प्रतिपादित कराती है कि किसी भी धर्म के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति संभव है। ऋग्वेद में एक मन्त्र है कि 'एकम सत विप्रा: बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत्य एक है, विद्वान उसे भिन्न नामों से पुकराते हैं। हिंदी के कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी लिखा है—विधना के मारण हैं तेते। सरग नखत तन रोवां तेते।' भारतीय समाज को एक सूत्र में पिरोने तथा संगठित रखने में इस चिंतानात्मकता का विशेष योगदान रहा है। महाभारतकार वेदव्यास ने भारतीय संस्कृति की एक सूत्रता प्रमाणित करते हुए बहुलात्मक समाज वाले सामासिक संश्लिष्टता से युक्त भारत का सपना देखा। उन्होंने समग्र भारतीय समाज को कुल का स्वरूप दिया, जिसके अंतर्गत सात-सात कुल नदियों का समावेश किया गया। इसमें अनंत की एकता प्रमाणित करने के लिए अनजान क्षितिज को सहारा देने वाले बन्धुसागर को विशेष स्थान दिया गया। देशव्यापी सात पुरियों की अवधारणा से यह कुल परिपुष्ट हुआ। इस कुल का जो स्वभावसिद्ध आचार नियत हुआ वह देश भक्ति और लोकशक्ति के अंतरालंबन पर आधारित था। फलत: इस कुल के लिए कोई भी पराया नहीं था, सब अपने थे। समूचा विश्व एक अद्वितीय नीड़ के रूप में देखा गया। समूची पृथ्वी सबकी माता मानी गयी। केवल मनुष्य की ही नहीं, चर और अचर की भी। इस संकल्पना ने समूचे देश को पुष्पहार की भाँति एक सूत्र में पिरो दिया।

भारतीय संस्कृति को एक सूत्र में पिरोने में शिव का सबसे बड़ा योगदान रहा है। शिव ने सती के शव को लेकर जो तांडव किया उसी के फलस्वरूप इस देश का चप्पा-चप्पा एक सूत्र में ग्रथित हो गया। वह शव खंड-खंड होकर सारे देश में गिरा और

चौरासी शक्तिपीठों की स्थापना का कारण बना। ये पीठ अथवा साधना केंद्र अरुणाचल से लेकर सिंध तक तथा कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। भारत वर्ष की आध्यात्मिक एंव धार्मिक एकता बनाए रखने में इनका विशेष योगदान रहा है। विश्व के किसी भी साहित्य अथवा संस्कृति में अपनी पत्नी को प्यार करने वाला ऐसा नायक अत्यंत दुर्लभ है। यह शिव के चरित्र का प्रकर्ष है।

संस्कृति जीवनचर्या के मूल्यों और मानों का नाम है। इस देश में देवालय, तीर्थस्थान, आध्यात्मिक मान्यताएँ, कलात्मक स्थल एवं दर्शनीय वस्तुएँ सर्वत्र मिल जाती हैं। आदि शंकराचार्य द्वारा देश के चार बड़े तीर्थस्थानों की उसके चारों कोनों में स्थापना होने से भी भारतीय संस्कृति की मूलभूत एकता को बल मिला। यहाँ कथित कुल लोगों की जीवनचर्या के भीतर सात ऐसी पुरियों के नाम मुक्तिदायनी के रूप में आते हैं जो देश के बहुत बड़े भूभाग में छिटकी हुई हैं–

''अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्ष दायिका।।''

इसी तरह एकता मंत्र की चर्चा भी लोगों की दिनचर्या के भीतर हुई है जिसमें व्यक्ति अपने कल्याण के लिए देश की समस्त प्रसिद्ध नदियों और समुद्र का स्मरण करता है–

''गंगा सिन्धु सरस्वती च यमुना गोदावरी नर्मदा
कावेरी सरयू महेंद्रतनया चर्मणवती वेदिका
क्षिप्रा वेत्रवती महासुर नदी ख्याता जाया गण्डकी
पूर्णा: पूर्णजलै: समुद्रसहिता: कुर्वन्तु में मंगलम।।''

इसी तरह देश भर के पर्वतों का भी सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है जो देशवासियों के पारस्परिक रागात्मक बोध का परिचायक है–

''महेन्द्रो मलय: सह्यो देवतात्मा हिमालय:
ध्येयो रैवतको विंध्यो गिरीश्वारावालिस्तथा।।''

हमारे यहाँ धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थ भी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। उनका प्रतिपाद्य भी एकता, समरसता और सामंजस्य है। उनका प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उनकी मौलिक एकता और भी रमणीय है। भारतीय साहित्य का विकासक्रम लगभग एक सा ही है। संस्कृत भाषा के साहित्यिक और धार्मिक ग्रंथों का प्रभाव देशव्यापी रहा है और भारतीय संस्कृति को सबसे ज्यादा खुराक वहीं से प्राप्त हुई है। इस देश में राजनीतिक परिसिथतियों की तुलना में सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं अंतर्वृत्तियों में अपेक्षाकृत ज्यादा समानता पाई जाती है।

यदि हम पिछली अनेकानेक शताब्दियों पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि इस देश में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए हैं जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्दी के आरम्भ में उत्तर तिब्बत, दक्षिण में पूर्व घाट के प्रदेशों, पश्चिम में महाराष्ट्र और पूर्व में प्राय: सर्वत्र फैला हुआ था। इनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे जो योगी होते हुए भी जीवन के विचार और भावपक्ष की उपेक्षा नहीं करते थे। इनके उतराधिकारी संत सम्प्रदायों और सूफियों के मत का प्रसार भी देश के भिन्न-भिन्न लोगों में हुआ। संत सम्प्रदाय पर वेदांत दर्शन का प्रभाव था और वे निर्गुण भक्ति की साधना तथा प्रचार पर बल देते थे। भक्ति के आविर्भाव के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है–

''भगति द्राविड ऊपजी लाए रामानंद।
परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नवखंड।।''

यहाँ सप्त द्वीप नवखंड शब्द भक्ति के भारतव्यापी प्रभाव का ही द्योतक है। भक्तिकाल के प्राय: सभी कवियों ने भारतीय समाज को एकजुट रखने के लिए सामान्य भक्ति मार्ग का सिंह द्वार सबके लिए खोल दिया। इन कवियों में विशेषकर तुलसीदास ने रामकथा का लोकभाषा में प्रणयन करके व्यक्ति, समाज, संस्कृति, राजनीति, धर्म-दर्शन और साहित्य के परस्पर विपरीत ध्रुवों के बीच अंतरावलंबन, सह अस्तित्व, सहयोग और सौमनस्य का भाव भरकर बिखर रहे भारतीय समाज को भावनात्मक धरातल पर समन्वित कर दिया। वर्तमान सन्दर्भ में जिसे हम तनाव और संघर्ष का निराकरण कहते हैं तुलसी का समन्वयवाद उसका साकार विग्रह है। इसके द्वारा वे भारतीय संस्कृति तथा सामाजिक

व्यवस्था में हिंसा, आतंक और संघर्ष के बजाय अनुकूलन, लचीलापन और एकीकरण बनाये रखने में कामयाब होते हैं। उनकी समन्वय भावना भारतीय संस्कृति का तत्त्व बन जाती हैं गोस्वामी तुलसीदास ने रामलीला मंडलियों का बाकायदा गठन एवं मंचन करवाकर भारतीय सांस्कृतिक एकता के लिए मंच उपलब्ध करवाया। भारतीय संस्कृति में भावात्मक एकता का गुण पैदा करने में मुल्ला दाउद, जायसी, रहीम, रसखान, जैसे मुस्लिम कवियों की विशेष भूमिका रही, जिसके चलते भारतेंदु हरिश्चंद जैसे जन-कवि को लिखना पड़ा कि—'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिन्दू वारिये।' भक्त कवियों द्वारा जब राम कृष्ण की लीलाओं का गान समूचे देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया तब राम और कृष्ण की अनेक मधुर पद्धतियों का देशभर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीलागान से गुंजिरत हो उठा। इसके बाद ईरानी संस्कृति के प्रभाव के कारण सांस्कृतिक शिथिलता का दौर चला। आगे चलकर पाश्चात्य संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति के बीच के द्वन्द्व ने देशव्यापी सांस्कृतिक नवजागरण को उपस्थित किया। नतीजतन भारतीय संस्कृति अपनी एकरूपता और समन्वय में पुनः उठ खड़ी हुई।

सन् 1857 की क्रांति के उपरांत भारतीय समाज में जो पुनर्जागरण उपस्थित हुआ उसके कारण भारतीय समाज में असाधारण बौद्धिक क्षमता से सम्पन्न अनेक समाज-सुधारक आते हैं जो भारतीय संस्कृति का परिष्कार करते हैं। साथ ही भारतीय समाज-व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन करने के बजाय उसमें रासायनिक परिवर्तन उपस्थित करते हुए उसे स्वस्थ एवं संगठित बनाने का उपक्रम करते हैं। महर्षि दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद तथा महर्षि अरविन्द भारतीय संस्कृति का नया पाठ तैयार करते हुए उसे विश्वव्यापी प्रतिष्ठा और वैश्विक विमर्श का हिस्सा बनाते हैं। महर्षि अरविन्द 'भारतीय संस्कृति के आधार' जैसा ग्रन्थ लिखकर उसकी सैद्धांतिकी निर्मित करते हैं। लोकमान्य तिलक सार्वजनिक गणेशोत्सव की प्रतिष्ठा द्वारा भारतीय संस्कृति में निहित सांगठनिक क्षमता को उजागर करते हैं। इससे स्वाधीनता संग्राम के कठिन संघर्ष के दिनों में भारतीयों के समक्ष 'संघे शक्तिः कलियुगे' को चरितार्थ करने का सुअवसर उपलब्ध हुआ। इसी क्रम में गाँधी जी और डॉ. अम्बेडकर भारतीय संस्कृति एवं समाज में व्याप्त जड़ता दूर करते हुए नूतन लक्ष्य के प्रति सन्नद्ध करते हैं। हिंदी के विश्वस्तरीय आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल यदि कर्म सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करते हुए उसे भारतीय संस्कृति के केन्द्र में लाते हैं तो महाकवि जयशंकर प्रसाद 'कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनंद' कहकर कर्म-फल का पुनर्विश्लेषण करते हैं।

भारतीय संस्कृति नाना जातियों, नाना धर्मों, नाना विश्वासों तथा अनेक प्रकार की उपासना पद्धतियों का संश्लेषण है। यह जिन अभिलक्षणों के आधार पर वैविध्य में एकत्व बनाए हुए है उसमें मानवजाति की एकता में विश्वास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति मानवजाति की एकता को लेकर संकल्पित है जो किसी अन्य संस्कृति में शायद ही मिले। हमारी संस्कृति काल, महाकाल तथा इतिहास विधाता की अवधारणा में विश्वास रखती है। साथ ही यह प्रतिपादित करती है कि काल जितना न्यायी है उतना ही क्रूर भी। वह अपने साथ उन्हीं को ले चलना पसंद करता है जिनमें उसके कंधे पर सवार होने की शक्ति होती है। भारतीय संस्कृति 'चयन' और 'वरण' के प्रति अतिशय सतर्क है। वह हजारों वर्षों की अपनी जय यात्रा में अनेक अनुपयोगी चीजों का त्याग कर चुकी है। उसमें बहुत सारे बाहरी तत्त्वों ने अपना स्थान सुरक्षित भी कर लिया है। भाषा, भवन, भेष और भोजन चारों ही आधारों पर इसकी पड़ताल की जा सकती है। भारतीय संस्कृति 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।' जैसे आदर्श का पुरस्करण करती है। वह 'नहिं मानुषात् परा धर्मः' अर्थात् मनुष्यता से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, के उद्घोष द्वारा अपनी व्यापक दृष्टि तथा उच्चतर मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता को रेखांकित करती है। वह मानवीय धर्म की प्रतिष्ठा करते हुए सर्वधर्म समभाव ओर सर्वजन हिताय की संकल्पना प्रस्तुत करती है। वह मानव के देवत्व और आत्मोन्नयन में विश्वास व्यक्त करती है। मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत' में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम से जो सवाल 'राम तुम मानव हो देवता नहीं हो क्या?' के रूप में करते हैं उसका उत्तर वे स्वयं राम से दिलवाते हैं—

''सन्देश यहाँ नहीं मैं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।''

इस देश की संस्कृति आत्मिक उत्कर्ष में विश्वास रखते हुए अतिशय भौतिकवादिता तथा स्वार्थन्धता का निषेध करती है। आज जब विश्व बाजारवाद की आयोजक-नियोजक शक्तियाँ उपभोक्तावाद, स्वार्थपरकता और लाभवृत्ति को विश्व स्तर पर प्रसारित कर रही हैं तब ''कामायनी'' में श्रद्धा द्वारा कथित अग्रांकित पंक्तियाँ अतिशत प्रसांगिक एवं दिशादर्शक बन पड़ी हैं—

''अपने भर सब कुछ केसे व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
औरों को हंसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।।

भारतीय संस्कृति अपनी विराट दृष्टि और सर्वसमावेशकता के साथ-साथ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य संतुलन साधती है। वह निर्मल भाव से गृहस्थ जीवन जीने के आदर्श की प्रतिष्ठा करती है। इस सन्दर्भ में गोस्वामी तुलसीदास का निम्न दोहा विशेष रूप से चिंतनीय बन पड़ा है—

घर राखे घर जात है, घर छांड़े घर जाय।
तुलसी घर-वन बीच ही, राम प्रेमपुर छाय।।

यदि आज 21वीं सदी में भारत महाशक्ति बनने की ओर अग्रसर है तथा धर्म के नाम पर जो राष्ट्र बने वे बंट गए अथवा विसंगतियों का शिकार होकर भटक गए तो इसके पीछे हमारे ऋषियों, मनीषियों की तपश्चर्या तथा भारतीय संस्कृति में विद्यमान आत्मविश्लेषण, बौद्धिक खुलापन तथा सर्वमंगलाशा जैसी अंतर्वृतियाँ हैं। यदि हमारा समाज जातिप्रथा की जकड़न से निजात पा लेता है, चाणक्य जैसे महामनीषी का नेतृत्व पा जाता है, भ्रष्टाचार को मर्यादित करने में सफल हो जाता है तथा शक्ति के बिखरे पड़े विद्युत्कणों एवं परमाणुओं को एकत्र कर लेता है तो वह भारत को विश्वगुरु की स्वाभाविक प्रतिष्ठा दिलवा सकता है। हम डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रतिपादित 'संगठन' का अर्थ आतंरिक समता को चरितार्थ करके ही मनुष्य के भीतर निहित उदार रमणीय भाव को विश्वमंगल में रूपांतरित कर सकते हैं।

तभी हमारी संस्कृति एवं धर्म मठों, मंदिरों, कर्मकांडों, संग्रहालयों, धर्मध्वजों तथा पोथियों की मर्यादा अक्षुण्ण रखते हुए समता एवं बन्धुत्व को अभ्यास एवं आचरण का अविच्छिन अंग बना देगा। जिस तरह भारत को जोड़ने का कार्य सहस्राब्दियों से प्रयाग, नासिक, उज्जयिनी तथा हरिद्वार के कुम्भ कर रहे हैं उसी तरह भारतीय संस्कृति अपनी विश्वपरक संदृष्टि तथा लोकोन्मुख गतिशीलता द्वारा निरन्तर अपने को परिमार्जित करते हुए सर्वग्राह्य वरणीय बनाए रख सकती है। जब हम वर्तमान सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति के समक्ष विद्यमान चुनौतियों पर गहनता पूर्वक विचार करते हैं तो पाते हैं कि उसे पश्चिम की उपभोक्तावादी वैश्विक संस्कृति से अपनी अस्मिता को बचाना होगा। उसे धर्मशास्त्रीय तथा तत्वमीमांसीय उलझनों से मनुष्य को मुक्त करके विज्ञान द्वारा प्राप्त अनिश्चितताओं तथा बेचैनियों का निदान ढूँढ़ना होगा। उसे अहिंसा जैसे मूल्य को विश्व स्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए यह बताना होगा कि विज्ञान की निस्पृह वस्तुनिष्ठता, मूल्यनिरपेक्षता एवं अवैयक्तिकता के अंतरतम में भयानक हिंसा निहित है। यह हिंसा प्रकृति के प्रौद्योगिकीय-दोहन, आर्थिक उपनिवेशीकरण तथा अत्याधुनिक वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों द्वारा होने वाले युद्ध के रूप में देखी जा सकती है। प्रसाद ने 'कामायनी' में इस दिशा में विश्व-मनुष्यता को सचेत किया था जिसे और भी प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने की जरूरत है। भारतीय संस्कृति अपनी विशद परम्पराओं, उच्चतर मानवीय मूल्यों, ज्ञान पद्धतियों तथा वैश्विक एवं ब्रह्मांडीय शांति का आदर्श रखकर ही विश्व मानवता का मार्गदर्शन कर सकती है। उसे दुनिया को यह बताना होगा कि जीवन एवं जगत तथा मानवीय व्यवहार अपने वैविध्यपूर्ण स्वरूप में ही रमणीय हैं। समूची विश्वमानवता को एक रीति-नीति तथा विश्वव्यापी सांस्कृतिक माडल के अंतर्गत रूढ़िबद्ध तरीके से नहीं लाया जा सकता। भारतीय संस्कृति अपनी विश्व संदृष्टि, मानवीय चिंता, अध्यात्म निष्ठा, प्रकृति के प्रति रागपरक रहस्य चेतना तथा लौकिक-अलौकिक सन्दर्भों को तार्किक परिणति प्रदान करके जीवन एवं संस्कृति के पश्चिमी दृष्टिकोण तथा औद्योगिक स्वरूप की श्रेष्ठता के प्रति संदेह पैदा कर सकती है, उस पर सवालिया निशान लगा सकती है। ऐसा करके वह अपने

बौद्धिक स्तर को ऊँचा कर सकती है। अपने प्रति विश्व की समझ में वृद्धि करते हुए उनकी उन्मुखता आकर्षित कर सकती है। भारतीय संस्कृति ब्रह्म और ब्रह्माण्ड की अनंतता का ज्ञापन करते हुए भारतीय समाज को दीर्घावधि तक संगठित और एकजुट रहने का आश्वासन देती है। संक्षेप में भारतीय संस्कृति हजारों वर्षों की जय यात्रा के बाद अपनी बहुलता, बहुस्तरीयता तथा विविधता में भी आन्तरिक संलग्नता एवं एकता का भान कराती है। वह सृष्टि रूपी फूल के समाप्त हो जाने पर भी उच्चतम मानवीय मूल्यों तथा आत्मा को नाभि केन्द्र में रखने के कारण सुगंध की तरह विद्यमान रहने वाली है। जायसी ने ठीक ही कहा है कि–

'फूल मरै पर मरै न बासू।'

सारांश यह है कि भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवं स्थायी आधार है भाषा और साहित्य। कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय साहित्य और भाषाएँ अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को रौंदती हुई एक समंजित इकाई के रूप में निरंतर विकासमान हैं। भारतवर्ष अपनी सांस्कृतिक अविच्छिन्नता एवं एकता के कारण ही प्राकृतिक राष्ट्र बना है, जिसके फलस्वरूप उसकी आतंरिक ऊर्जा एवं महाप्राणता असंदिग्ध है। हमारी संस्कृति में ग्रहण और त्याग का विवेक है, जिससे हमारे राष्ट्रीय मूल्य एवं मान समय-समय पर परिष्कृत होते रहते हैं। हम सदा सर्वदा से विराट के उपासक रहे हैं जिसके कारण वैश्विक चेतना और विश्व संदृष्टि से भारतीय संस्कृति अनुप्राणित है। वह 'स्व' से 'पर' और 'सर्व' की ओर बढ़ने वाली सुदीर्घ श्रृंखला है। वह ऐसा प्रवाह है जिसकी एक-एक बूँद में विद्यमान चुनौतियों के शिलाखंड को बहा ले जाने की क्षमता ने ही भारतीय राष्ट्रीयता को विश्वमैत्री, विश्वबंधुत्व ओर विश्वशांति तक विस्तीर्ण किया है। कुल मिलाकर भारतवर्ष में सांस्कृतिक एवं भाषागत जटिलता के बीच एक उच्चकोटि का रागात्मक बोध अन्त:वर्तनी धारा के रूप में विद्यमान जो हमारी सांस्कृतिक एकता का प्रमाण है। हमारी यह एकता भी जटिल और बहुस्तरीय है। लेकिन मानवमात्र के प्रति समदृष्टि तथा समूची मनुष्यता की मंगल-कामना उसका केन्द्र बिंदु है।

हमारे समकालीन वैश्विक परिवेश में जब मनुष्य का धैर्य और सहिष्णुता जैसे भाव भौतिक जीवन की आपाधापी के दबाव के चलते तिरोहित हो रहे हैं तब मनुष्यता के उच्चतम आदर्श को लेकर संकल्पित हमारे मूल्य नूतन अर्थवत्ता पा रहे हैं। आज हिंदी भारतवर्ष की सांस्कृतिक एवं भाषिक एकता का मेरुदंड सिद्ध हो रही है। देश की 78 प्रतिशत जनता उसमें संवाद करने में सक्षम है। यह भी संभव है कि निकट भविष्य में साक्षरता का प्रतिशत बढ़ने के साथ-साथ हिंदी में संवाद करने वालों का प्रतिशत भी बढ़े। उसके माध्यम से समूचा भारतीय समाज सांस्कृतिक स्तर पर जुड़ाव महसूस कर रहा है। साथ ही समस्त भारतीय भाषाओं में क्या लिखा जा रहा है इसकी सूचना भी समूचे भारत को हिंदी के माध्यम से ही पहुँच रही है। संक्षेप में, हमारी सांस्कृतिक एवं भाषिक एकता की जड़ें बहुत गहरी एवं विस्तृत हैं तथा राष्ट्रभाषा हिंदी उसके प्रतिबिम्ब का सबसे सशक्त माध्यम है। इस दौर में जब समूचा संसार मूल्यहीनता और अनास्था के चलते भटकाव का शिकार हो रहा है तब भारतीय संस्कृति की सनातन मूल्यवत्ता उसमें जीवन के प्रति स्वीकृति का भाव भर सकती है। उन्हें भौतिक और आत्मिक उन्नति के संतुलित मार्ग पर ले जा सकती। फलत: उसकी प्रासंगिकता भी लगातार बढ़ती जा रही है।

✦✦✦

भारत के सांस्कृतिक मूल्य

—डॉ. दादूराम शर्मा

संस्कृति का अभिप्राय प्राणी होने के नाते मानव चिरकाल से ही विभिन्न समूहों, जातियों और राष्ट्रों के रूप में संगठित होकर रहते आये हैं। उन्होंने दीर्घ कालीन साधना द्वारा समाज की सापेक्षता में व्यक्ति की चेतना को उद्‌बुद्ध करने, उसके आचरण को संयत करने और समुन्नत बनाने तथा समष्टि को ''सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'' से मण्डित करने के लिए जो जीवन-मूल्य निर्धारित किए हैं और परम्परागत आदर्शों की स्थापना की है, उनका समाहार ही 'संस्कृति' कहलाता है। संस्कृति का कार्य समाज की सापेक्षता में व्यक्ति के गुणों को स्वतः स्फूर्त करना और उसके आचरण को स्वयमेय प्रेरित करना है। वह बाध्यकारी नहीं, प्रेरक है। आत्मानुशासन उसका मार्ग है। संस्कृति मानव के चरित्र में प्रकट होती है।

प्रत्येक जाति अथवा राष्ट्र के जीवन की, उसके चिन्तन-मनन, आचार-विचार और रीति-नीति की अपनी एक सुदीर्घ परम्परा होती है, यही उसकी संस्कृति कहलाती है। एक जाति के परम्परागृहीत जीवन-मूल्य एवं संस्थापित आदर्श दूसरी से स्वभावतः ईषद् भिन्न हुआ करते हैं। संस्कृति विरोध का नहीं, सौमनस्य का नाम है, समन्वय और समझौते का नाम है। समग्र मानवता का समुत्कर्ष ही विभिन्न संस्कृतियों का सर्वमान्य लक्ष्य है।

संस्कृति प्रकृति की नियामक है। प्रकृति काम, युयुत्सा आदि की सहजात प्रवृत्तियों का नाम है। क्रोध करना प्रकृति है किन्तु क्रोध पर नियंत्रण रखना संस्कृति हैं काम का उल्लंग आचार प्रकृति है किन्तु काम को बँधे घाट पर बहाना संस्कृति है। हिंसा ओर स्वार्थ-परता प्रकृति है तथा अहिंसा और त्याग संस्कृति है। वह सरिता की तरह सतत प्रवहमान और विकासशील है। उसमें विलेयता और ग्रहणशीलता का गुण होता है। युगानुरूपता और जीवन्तता उसका स्वभाव है। कट्टरता, रूढ़िवादिता, जड़ता या गतिहीनता विकृति है। जब किसी संस्कृति में यह विकृति आ जाती है तब उसका पतन और विलोप हो जाता है।

भारत के सांस्कृतिक मूल्य —

1. पुरुषार्थचतुष्टय : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को मानव-जीवन

सम्पर्क: महाराज बाग, भैरवगंज, सिवनी, जिला-सिवनी, म.प्र.-480661

के चार पुरुषार्थ माना गया है। प्रथम पुरुषार्थ 'धर्म' शेष तीन पुरुषार्थों का नियामक है। मानव धर्मपूर्वक अर्थ (धन) का उपार्जन करे और धर्म-सम्मत 'काम' (कामनाओं और विषयोपभोग) का सेवन करे तभी उसे सांसारिक माया-मोह और आवागमन के चक्कर ''पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी-जठरे शयनम्'' से छुटकारा मिल सकता हैं मोक्ष वैयक्तिक और पारिवारिक—''अयं निज: परोवेति'' की संकीर्णताओं से मुक्त होकर अपने व्यक्तित्व को विराट बनाकर जन-जन का बन जाने—'विश्वमानव' हो जाने का नाम है। यह आत्ममुक्ति ही नहीं, विश्वमुक्ति का भी नाम है।

2. विश्व-मंगल बोध : भारत का लक्ष्य विश्व-कल्याण है। उसने विश्व को एक परिवार के रूप में स्वीकार करके सबके सुख, स्वास्थ्य और कल्याण की कामना और प्रयत्न किए हैं—

''सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्''।।

उसके उत्थान के प्रयत्न कभी भी व्यक्ति और जाति किंवा देश की चहारदीवारी में घिरे नहीं रहे। अपनी राष्ट्रीय प्रगति के लिए उसने कभी भी अन्य राष्ट्रों का शोषण और स्वत्वापहार नहीं किया। अपने ज्ञान के आलोक से जगत के अंधकार को दूर करने का उसने सदैव प्रयत्न किया है।

3. धर्मप्राणता : भारतीय संस्कृति का प्राण तत्व है धर्म। मानव-जीवन के उन्नायक चार पुरुषार्थों—धर्म अर्थ, काम और मोक्ष में धर्म का प्रमुख स्थान है। यह अर्थ और काम का नियामक बनकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। भारत में धर्म अविरोध और सौमनस्य का जनक है। धार्मिक सहिष्णुता भारत का चिर आदर्श है। साम्प्रदायिकता को यहाँ कोई स्थान नहीं। विभिन्न धर्मों और धर्मावलम्बियों में विरोध और विद्वेष भड़काने वाला धर्म भारतीय संस्कृति में धर्म की संज्ञा नहीं पा सकता—

''धर्म यो वाधते धर्म: न स धर्म: कुधर्म एव तत्।
अविरोधी तु यो धर्म: स धर्म: सत्यविक्रम।।'' ('महाभारत')

''सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा'' में महाकवि इकबाल ने भी कहा है—''मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।'' भारत में जितनी भी महान्-क्रांतियाँ हुई हैं, महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हुए हैं, सबके मूल में अध्यात्म और धर्म ही रहे हैं। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के पुरोधा लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी मूलत: आध्यात्मिक पुरुष ही थे, राजनेता नहीं।

4. त्यागोन्मुखता : भारतीय चेतना के मूल में आस्तिकता की प्रधानता है। हमारा जीवन प्रभु की देन है, हम सभी प्राणियों के भीतर वही परमात्मा अनेक रूपों में आत्मा के रूप में विद्यमान है। धरा पर हमारे उपभोग के लिये जो कुछ भी है, वह उसी का दिया हुआ है, इसलिये हम त्याग-भावना से—निष्काम भाव से उसका उपभोग करें, दूसरों की सुख-सुविधाओं पर ललचाई नजर न डालें और किसी का हक छीनने की कोशिश न करें—

''ईशवास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।।''
—ईशावास्योपनिषद्

इस 'तेन व्यक्तेन भुंजीथा:' त्यागमय भोग की शिक्षा ने दानशीलता की बुनियाद रखी और परहित के लिए स्वार्थत्याग का दिव्य आदर्श स्थापित किया। हमारे जीवन की सार्थकता इसी में है कि हमें परमात्मा से जो कुछ भी मिला है, हम उसे उसी के विराट् विग्रह (समष्टि) को समलंकृत करने के लिए स्वेच्छा से समर्पित कर दे। भारत चिरकाल से त्याग का पूजक रहा है, संग्रह को उसने कभी बहुमान नहीं दिया। अपरिग्रह उसका आदर्श रहा है।

5. समन्वयशीलता : व्यष्टि और समष्टि के सर्वांगीण और पूर्ण विकास के लिए भारत ने समन्वय का मार्ग चुना है। पूर्वाग्रह, दुराग्रह और अतिवाद के लिए यहाँ अवकाश नहीं। समन्वय की विराट चेष्टा ही भारतीय संस्कृति है।

(क) प्रवृत्ति और निवृत्ति का विलक्षण समन्वय : प्रकृत जीवन और जगत् को ही सत्य, सार्थक और सब कुछ मानकर उसके ऐकान्तिक उपभोग में पूर्णत: प्रवृत्त हो जाना 'प्रवृत्ति' है। भौतिकवाद इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। ''जीवन क्षणभंगुर और नश्वर है, संसार माया का प्रपंच है और स्वप्नवत् मिथ्या है'' ऐसा मानकर ऐहिक जीवन से उदासीन होकर और जगत् से दूर रहकर आध्यात्मिक साधना में लग जाना 'निवृत्ति' है। दोनों का अतिवाद व्यक्ति और समाज के लिए घातक है। प्रवृत्ति का आधिक्य समाज में शोषण, भ्रष्टाचार, अनाचार और संघर्ष को जन्म देता है तो निवृत्ति की एकांत आराधना अकर्मण्यता को जन्म देकर अरक्षणीयता की स्थिति उत्पन्न कर देती है। संसार को असार मानने वाले दूसरों से अपने अस्तित्व और सम्मान की

रक्षा नहीं कर सकते। अत: समाज के भौतिक उत्कर्ष के लिए प्रवृत्ति अनिवार्य है और प्रवृत्तिवाद समाज में पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न करके उसकी शांति और सुव्यवस्था को भंग करके उसके विनाश का कारण न बन जाए इसके लिए 'निवृत्ति' परमावश्यक है। ''विश्व के संकट का मूल कारण शायद यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के संघर्ष में निवृत्ति बिल्कुल पराजित हो गई है।''

विश्व को अविरोध और सौहार्द की भूमि पर भौतिक समृद्धि चाहिए, वह प्रकृत जीवन को तो आनंदमय बनाना चाहता है किन्तु भीतर से खोखला होकर नहीं हमारे सूक्ष्म द्रष्टा मनीषियों ने इसीलिए विश्व के मंगलमय उत्कर्ष के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया हैं प्रकृत आनंदों को भोगो अवश्य किन्तु त्याग के साथ, निष्काम भावना के साथ। ''तेन त्यक्तेनं भुजीथा:'' में प्रवृत्ति और निवृत्ति का यही समन्वय है। भारतीय संस्कृति का झुकाव यद्यपि निवृत्ति की ओर है तथापि उसमें प्रवृत्ति का बहिष्कार नहीं, संस्कार किया गया है। उसने जीवन को नकारा नहीं, सम्यक् रूप से स्वीकारा है। इस तरह कर्म और ज्ञान का, पुरुषार्थ और चिन्तन का तादात्म्य स्थापित किया गया है। कर्म ज्ञान से आलोकित और महिमामय होता है तो ज्ञान कर्म से मूर्त और जीवन्त बनता है।

(ख) धार्मिक समन्वय : भारतीय संस्कृति सामाजिकता प्रधान है। उसमें नाना धर्मों का समन्वय हुआ हैं। वेदों में भी इस तथ्य को स्पष्टत: स्वीकारा गया है कि भारत की धरित्री में वैदिक युग से ही नाना धर्मावलम्बी जन हिलमिलकर रहते थे—''जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्''—अथर्ववेद

(ग) सांस्कृतिक समन्वय : भारतीय संस्कृति नाना संस्कृतियों के संगम का परिणाम है। प्राचीन काल में उसमें आर्य ओर आर्योतर संस्कृतियों (यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, असुर, राक्षस आदि जातियों की संस्कृतियों) का सम्मेलन हुआ और आज इस्लाम और ईसाई संस्कृतियों ने उसे वर्तमान स्वरूप ग्रहण करने में योगदान दिया है।

(घ) धर्म और राजनीति का समन्वय : राजनीति सामाजिक उन्नति का मेरुदण्ड है। ''सत्ताधारी निरंकुश और स्वेच्छाचारी होकर जनहित की उपेक्षा कर सकते हैं, इसलिये प्राचीन भारत की राजनीति धर्मगुरुओं के नियंत्रण में थी। धर्म शासकों को आत्मानुशासित कर जनहित के लिए प्रेरित करता था। आधुनिक युग में भारत की राजनीति को सत्तालोलुपता, छल-छद्म और भ्रष्टाचार से बचाने के लिए महात्मा गाँधी ने उसे धर्म से समन्वित करके अभिनव राजनीतिक आदर्श की स्थापना की थी और जनविरोधी शासन को झुकाने के लिए 'सत्याग्रह' और 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' के सर्वथा नवीन अस्त्रों का अनुसंधान किया था, जिनसे भारत पराधीनता पाश से मुक्त हुआ।''

(ड.) व्यष्टि और समष्टि का समन्वय : व्यक्ति समाज की इकाई है और व्यक्तियों का संगठित समुदाय समाज कहलाता है। समाज की उन्नति व्यक्तियों की उन्नति पर निर्भर है और समुन्नत समाज व्यक्तियों के लिए उन्नति के अवसर उपलब्ध कराता है। इसलिए दोनों का समन्वय आवश्यक है। यदि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सर्वोपरि मान ले और समाज को उनकी पूर्ति का साधन मात्रा मानकर उसका शोषण करने लगे अथवा समाज अपनी उन्नति के लिए व्यक्तियों को उसके समग्र वैयक्तिक अधिकारों से वंचित करके एक यांत्रिक साधन मात्रा बना ले तो ये दोनों अतिवादी स्थितियाँ अनुचित और घातक होंगी। प्रथम में जहाँ पारस्परिक स्वार्थों के टकराव के कारण संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, वहाँ द्वितीय में मनुष्य समाज रूपी मशीन का एक जड़ कलपुर्जा मात्रा बनकर रह जाएगा, उसकी जीवन्तता समाप्त हो जाएगी। इसीलिए हमारी संस्कृति में व्यष्टि और समष्टि का समन्वय किया गया हैं यद्यपि हमारी संस्कृति समष्टिपरक है किन्तु, उसमें व्यष्टिहित की उपेक्षा नहीं की गई है, अपितु उसमें व्यष्टि के सर्वांगीण विकास के समुचित साधनों की व्यवस्था की गई है ताकि वह स्वयं उन्नत होकर समष्टि को उन्नति की ओर ले जा सके।

(च) संतत्व और शूरत्व का समन्वय : संतत्व भारत का आदर्श है किन्तु उसने शूरता की उपेक्षा नहीं की है। संत शूरत्व के अभाव में दुष्टों और आततायियों से आत्मरक्षा नहीं कर सकता तो संतत्व के बिना शूरत्व स्वयं परोत्पीड़क बन जाता है। इसलिए भारतीय संस्कृति में दोनों का समन्वय किया गया है। धनुर्धर वनवासी राम का व्यक्तित्व अथवा परशुराम का व्यक्तित्व ही उसका मूर्त स्वरूप है, जिसमें ब्राह्मणत्व (संतत्व) और क्षत्रियत्व (शूरत्व) का विलक्षण समन्वय है—''मुख में वेद, पीठ पर तरकस, कर में कठिन कुठार—''परशुराम की प्रतीक्षा'' (पृ. 42) में राष्ट्र कवि दिनकर ने उसे भावी भारत के भाग्य पुरुष के रूप में देखा है।

6. युगानुरूपता : युगानुरूपता भारतीय संस्कृति की मौलिक और महनीय विशेषता है। वह युग की आशा-आकांक्षाओं, विश्वासों

और मान्यताओं के अनुरूप स्वयं को ढाल लेती है जैसे द्रव्य पदार्थ पात्र का आकार ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उनका अपना महत्त्व और मूल्य बना रहता है और उन्हीं के कारण पात्र का भी महत्त्व होता है। इसी तरह भारतीय संस्कृति का स्वरूप बाहर से युगानुरूप आकार ग्रहण कर लेने पर भी भीतर से मूलत: अविकल बना रहता है। उसमें बहिरंग के परिवर्तन और अंतरंग के संरक्षण की शक्ति है। इसलिए भारतीय संस्कृति के आलोक में नवयुग का आख्यान और भी जीवन्त और मूल्यवान हो जाता है। शंकराचार्य के समय जो संस्कृति निवृत्ति का राग अलाप रही थी, विवेकानंद और तिलक के समय वही प्रवृत्ति शंखनाद कर उठी। आध्यात्मिकता तो अविकल रही किन्तु पहले वह संन्यासी के कमंडलु में थी और अब उसने कर्मयोगियों की भगीरथ-साधना से सर्वसुलभ सतत प्रवहमान भागीरथी का रूप ले लिया था। रामायणीय संस्कृति ने सर्वप्रथम वाल्मीकि के युग की आकांक्षाओं को मूर्त रूप दिया, फिर तुलसी के युग के अनुरूप स्वरूप लिया और वर्तमान में उसने गुप्त जी के पात्र में कर्त्तव्यपरायणता, स्वावलम्बन, सेवाभाव, श्रमनिष्ठा, विनोदपूर्ण पारिवारिक जीवन और राष्ट्रीय आदर्श के रूप में अभिनव आकार ग्रहण किया हैं। 'महाभारत' का युद्धदर्शन 'कुरुक्षेत्र' में विकसित होकर तृतीय विश्वयुद्ध की सर्वसंहारकारी विभीषिका से मानव जाति को सावधान कर रहा है। उसी युगानुरूपता के कारण भारतीय संस्कृति चिरपुराण होते हुए भी चिरनवीन है, अदम्य और मृत्युंजय हैं कितनी ही प्रतिकूल और उच्छेदनकारी परिस्थितियाँ आईं, किन्तु इसी गुण के कारण वह मिट न सकी।

7. अनेकता में एकता : जैसे भाँति-भाँति के पुष्प अपने-अपने सौन्दर्य और सौरभ के वैशिष्ट्य से उपवन की श्रीवृद्धि करते हैं, उसी तरह नाना धर्मों, भिन्न-भिन्न भाषाओं और अनेक संस्कृतियों का सम्मिलन भारतीय संस्कृति का श्रृंगार है। यहाँ अनेकता संघर्ष की नहीं, सौमनस्य की जननी है, सहिष्णुता की ही नहीं, हमारी वैचारिक और व्यवहारगत उदारता की भी परिचायक है। भारतीय संस्कृति सहिष्णुता की ही नहीं, हमारी वैचारिक और व्यवहारगत उदारता की भी परिचायक है। भारतीय संस्कृति सहिष्णुता, उदारता और विशालहृदयता का भव्य नमूना है। ''यह अनेकांतवाद की भूमि है। अनेकांतवादी वह है जो दुराग्रह नहीं करता, अनेकांतवादी वह है जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है।''

8. सतत प्रवहमानता और ग्रहणशीलता : विश्वमंगल के महासागर की ओर बहने वाली भारतीय संस्कृति की भागीरथी सतत प्रवाहशील है। यह अवरोधों से रुकती नहीं, प्रतिकूलताएँ इसके मार्ग को मोड़ नहीं सकतीं, उसकी प्रखर-स्फीत धारा मरुभूमि में विलीन नहीं हो सकती क्योंकि उसमें अनेक स्त्रोतों का जल निरन्तर आ-आकर मिल रहा है। जहाँ-कहीं से जो कुछ भी सत् और जीवनोपयोगी मिला, हमने उसे सहर्ष ग्रहण किया है और आवश्यकता पड़ने पर अपना कोश दूसरों को मुक्त हस्त से वितरित भी किया है। ''चरैवेति, चरैवेति-चलते ही रहो, निरन्तर आगे बढ़ते रहो, गतिशीलता ही जीवन है'' यही भारत का जागरण मंत्र है। दूसरों की (विरोधियों की भी) अच्छी बातों और सद्गुणों की मुक्त कंठ से सराहना करना, उन्हें अपनाना तथा दूसरों के स्वागत के लिए अपने विशाल हृदय के कपाट सदैव खुले रखना इस संस्कृति का स्वभाव है।

9. वर्णाश्रम व्यवस्था : भारत में मनुष्य की सहजात योग्यता और क्षमता के अनुसार कार्य-विभाजन ही 'वर्णव्यवस्था' थी। 'ऋग्वेद' के 'पुरुष सूक्त' में समष्टि को 'पुरुष' रूप में परिकल्पित किया गया है—

''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:।
ऊरूतदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।''

समाज के व्यवस्थापक मनीषी-विधिवेत्ता न्यायाधीश, कवि, विचारक, अध्यापक आदि ही उसके मुख या उत्तमांग सिर माने गए। समाज और राष्ट्र की रक्षा एवं व्यवस्था के लिए सन्नद्ध राजन्य (राजा, राजपुरुष, सैनिक, आरक्षक आदि) भुजा कहे गए। अन्नोत्पादक कृषक, उपभोक्ता-वस्तु-निर्माता और वितरक वैश्य इसके उदर कहलाए। श्रमजीवी, शिल्पी, वास्तुकार आदि शूद्रों को इसके गतिशील चरण कहा गया जो समाज को सतत गतिमान और उन्नतिशील बनाते हैं। यह व्यवस्था जन्म पर नहीं कर्म पर आधारित थी। ब्राह्मण भी शूद्रों के कर्म में रुचि रखने और दक्ष होने पर शूद्र बन जाते थे और शूद्र भी विद्या और चिन्तनादि के क्षेत्र में अग्रणी होने पर ब्राह्मण बन जाया करते थे।

मानव को 'शतायु' (सौ वर्ष की आयु वाला) मानकर 'आश्रम व्यवस्था' की गई थी। पच्चीस वर्ष तक की अवस्था 'ब्रह्मचर्याश्रम' थी, जिसमें बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक 'ब्रह्म' (ज्ञान) की चर्या अर्थात् विद्योपार्जन द्वारा व्यक्तित्व-निर्माण

किया जाता था। पचास वर्ष तक की अवस्था 'गृहस्थ आश्रम' थी जिसमें युवक-युवतियाँ परिणय के पवित्र बंधन में बंधन में बँधकर सुयोग्य संतानों को उत्पन्न करके मातृत्व और पितृत्व के गौरव से मंडित होते थे और अपने सृजनात्मक पुरुषार्थ से समाज को उन्नति शील बनाकर अपने पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करते थे। फिर पचहत्तर वर्ष तक की अवस्था परिवार के दायित्वों से पूर्णत: मुक्त होकर समाज ओर राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व करने की अवस्था थी, यही 'वानप्रस्थ आश्रम' था। इसके लिए नर-नारी वानप्रस्थी होकर तपोवनों में चले जाते थे या समाज में ही रहकर उसके सर्वांगीण विकास के लिये स्वयं को अनाकांक्ष भाव से समर्पित कर देते थे। चौथा था 'संन्यास आश्रम' जिसमें मानव समाज और राष्ट्र के दायित्वों से पूरी तरह मुक्त होकर आत्ममुक्ति की साधना में संलग्न हो जाया करते थे। किन्तु यह आश्रम अनिवार्य न था वस्तुत: थोड़े से व्यक्ति ही संन्यासी होते थे। आत्ममुक्ति और विश्वकल्याण के लिये कुछ महामानव आदिशंकराचार्य की तरह ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे संन्यासी हो जाया करते थे।

सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास के कारण—

पुरुषार्थचतुष्टय में से केवल अर्थ और काम का अंगीकार : सम्प्रति भारत में धर्म हमारे आत्मोत्थानपरक और समष्टिहित-साधक कर्मों और आचरणों में प्रकट नहीं होता। वह तो थोथे कर्मकांडों और पाखण्डों में सिमट गया है या साम्प्रदायिकता में परिणत हो गया है तथा 'अर्थ' जो हमारे धर्मोपार्जन और कामनापूर्ति का साधना मात्रा है, वह हमारा साध्य बन गया है। इसीलिए इसे पाने के लिए हम अपना धर्म, अपना ईमान, अपना चरित्र, अपने रिश्ते-नाते, अपनी इंसानियत सबकी बलि चढ़ाने को सन्नद्ध हैं। पहले वृत्त (चरित्र, धर्मसम्मत आचरण) सर्वोपरि था और 'वित्त' (धन) गौण—

''वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च।
अक्षीण: वित्तत: क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हत:।।''

मनुष्य अपने चरित्र (वृत्त, सदाचरण) की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे। धन (वित्त) तो आता-जाता रहता है। धन हानि कोई बड़ी हानि नहीं होती किन्तु चरित्र भ्रष्ट होने पर मनुष्य अपना सबकुछ खो देता है। किन्तु आज के भारतीयों ने उक्त नीतिवाक्य को उलट दिया है और धन को सर्वोपरि बना डाला है—मनुष्य को अपने वित्त की पूरी तरह हिफाजत करनी चाहिए। चरित्र तो बनाया और बिगाड़ा जाता है। चरित्रहीन होने से कुछ नहीं होता किन्तु धन चला गया तो सबकुछ नष्ट हो गया ''वित्तं यत्नेन संरक्षेद् वृत्तमायाति याति च। अक्षीण: वृत्तत: क्षीणो वित्तनस्तु हतो हत:।।'' तभी तो भ्रष्टाचार खुलकर खेल रहा है। आज हम देहात्मवादी बन गए हैं, शिश्नोदर-परायण हो गए हैं, चार्वाक के सिद्धान्त ''यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत।। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:?'' का अनुगमन करने लगे हैं। स्वाधीनता-संग्राम काल में जहाँ हमारे जननायक अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को कटिबद्ध रहते थे, जनता भी इन बलिपंथी वीरों के चरण-चिह्नों पर चल रही थी, वहाँ स्वधीन भारत के नेता स्वयं को राष्ट्र मान बैठे हैं, उन्हें ''कल्पान्त न नास गुमान असा'' है, उन्हें अपनी कुर्सी-प्राप्ति और भौतिक उन्नति में ही राष्ट्र का सर्वांगीण विकास और कुर्सी से वंचित हो जाने पर सर्वनाश दिखाई दे रहा है। वे राष्ट्र और जनता को जोंक की तरह चूस रहे हैं। तदनुरूप जनता भी स्वार्थ—परायण हो गई है। जहाँ पहले जीवन का लक्ष्य त्याग था, आज भोग हो गया है। कर्त्तव्य गौण और अधिकार प्रधान हो गए हैं। सभी सुविधाजीवी बन गए हैं। राष्ट्र की रक्षा और समुन्नति की चिन्ता हमारे राष्ट्र के कर्णधारों, नीतिनियामकों और संरक्षकों को भी नहीं है। तभी तो आए दिन भारत माता के अंग-प्रत्यंगों पर देशी-विदेशी आतंकी और चरमपंथी घाव पर घाव बनाते जाते हैं और ये कड़े शब्दों में उनकी निन्दा करके अपने उत्तरदायित्वों से मुक्ति पा लेते हैं। अपने दुर्वृत्तों से जनता का ध्यान हटाकर उसे आपस में लड़ाते रहने के लिए तो नेताओं को 'साम्प्रदायिकता' के रूप में 'धर्म' का अमोध अस्त्र ही मिल गया है।

वैदिक युगीन वर्णव्यवस्था की जातिवाद में परिणति : कर्म पर आधारित वैदिक कालीन वर्णव्यवस्था पुराण काल में जन्म पर आधारित अभिशप्त जाति-प्रथा में परिणत हो गई जिसने हमारे समाज के गलितकुष्ठ अस्पृश्यता (छुआछूत) को जन्म दिया जिसके कारण सर्वत्र 'ब्रह्म' के दर्शन करने वाले भारतीय को संसार अछूतमय दिखाई देने लगा! हमारा ईश्वर ''भात की हांडी'' में सिमट गया ओर महामंत्र हो गया—''हमें मत छुओ, हमें मत छुओ हम महापवित्र हैं!''

सर्वप्रथम महाभारतकार ने कर्ण के द्वारा इस धारणा पर बज्रप्रहार कराकर जन्म (कुल और जाति) पर कर्म (पुरुषार्थ) की श्रेष्ठता कीमुहर लगाई थी—

सूतोवा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्।।

जाति-जाति रटते जिनकी पूँजी केवल पाखण्ड!
मैं क्या जानूँ जाति, जाति हैं ये मेरे भुजदंड।।

—'दिनकर' ('रश्मिरथी')

फिर भगवान बुद्ध ने जातिवाद की शल्य-क्रिया की, तदुपरान्त गुरुनानक देव ओर उनके उत्तराधिकारी गुरुओं ने इसके उपचार का दीर्घकालीन प्रयास किया पुन: विवेकानंद ने अपने जागरण मंत्र से हमारी प्रसुप्त चेतना को उदबुद्ध किया और राष्ट्रपिता ने तो अपने एकादशव्रतों में 'स्पर्शभावना' को सम्मिलित करके अस्पृश्यता-निवारण में अपना समग्र जीवन ही समर्पित कर दिया। इस सामाजिक महारोग का स्थायी उपचार हो गया होता यदि हमारी सत्तालोलुप राजनीति 'जातिवाद' को अपने वोट बैंक के रूप में इस्तेमाल न करती और दलित वर्ग भी "आरक्षण व्यवस्था" को अपना जन्म-सिद्ध स्थायी अधिकार न मान लेता अपितु इसे "उनको समुन्नत करके सवर्णों की समकक्षता में खडत्र कर देने वाली समयसीमा-बद्ध राष्ट्रीय नीति और योजना" के रूप में स्वीकारता! फिर भी समय और परिस्थितियों ने छुआछूत को तो प्राय: मिटा दिया है किन्तु आरक्षण-जन्य अधिकार और सुविधाएँ जातिवाद को लगातार फैला रही हैं और उसे जटिल से जटिलतर बनाती जा रही हैं। राजस्थान में अनुसूचित जाति में शामिल होने के लिए किये गये गुर्जरों के दीर्घकालीन व्यापक आन्दोलन ने 2008 के विधान सभा चुनाव में सरकार को बाहर का रास्ता दिखा दिया और मध्यप्रदेश के सिवनी-छिन्दवाड़ा जिले के बागरी बघेलों ने लम्बे समय तक अनशन पर बैठकर अपने को अनुसूचित जाति में फिर से सम्मिलित करने के लिए सरकार पर दवाब डाला और विफल होने पर 2008 के विधान सभा निर्वाचन का ही बहिष्कार कर दिया!

सर्वधर्मसमभाव और साम्प्रदायिक सौहार्द का विलोप : मुसलमानों के शासनकाल में भी, जबकि हमारे पूर्वज हमारी तुलना में बहुत कम पढ़े-लिखे थे किन्तु वे धर्म के मर्म को खूब जानते थे। सत्तमद में मुसलमानों ने प्रारम्भ में बलपूर्वक इस्लाम का प्रचार-प्रसार अवय किया किन्तु जब उनका शासन स्थापित हो गया और वे यहाँ बसकर भारतीय हो गए तो हिन्दू धर्मावलम्बियों के प्रति उनमें न केवल सौहार्द उत्पन्न हुआ अपितु उन्होंने उनके धर्म को समुचित सम्मान और स्थान भी दिया। अब्दुर्रहीम खानखाना सम्राट् अकबर के जाँबाज सिपहसालार और दरबार के नवरत्नों में एक पंचनमाजी सच्चे मुसलमान थे किन्तु उनका हिन्दी काव्य एक परमभागवत हिन्दू का ही काव्य है जिसमें हिन्दू देवी-देवताओं की भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हो रही हैं उस युग के मौलवी, उलेमा और इमाम भी इदनते उदार और पर-धर्म-सहिष्णु थे कि उन्होंने उनके खिलाफ कोई फतवा जारी नहीं किया। जबकि सभ्यता के शिखर पर पहुँची इक्कीसवीं सदी में गणेशोत्सव में अपने घर गणेशजी की प्रतिमा स्थापित करने वाले अभिनेता सलमान खान के खिलाफ फौरन फतवा जारी कर देने वाले इस्लाम के धर्मप्रमुख (इमाम, उलेमा, मौलाना, मौलवी) न तो जेहाद का अर्थ समझाने के लिए आगे आते हैं ओर न ही जेहाद के नाम पर भारत में निरीह जनों का लगातार कत्लेआम करने वाले आतंकियों और उन्हें सहयोग देने वालों के खिलाफ कभी फतवा जारी करते। भारत सरकार से प्रतिवर्ष हज के लिए समस्त सुविधाएँ, सुरक्षा और अनुदान पा रहे मुसलमान भाई अमरनाथ-यात्रियों के शिविरों के लिए श्राइनबोर्ड को दी गई भूमि के आवंटन को निरस्त करा देने वाले अलगाववादी मुस्लिम संगठनों के खिलाफ फतवा जारी क्यों नहीं कराते? राष्ट्रविरोधी 'सिमी' के मदरसे बंद क्यों नहीं करा देते?

धन के प्रलोभन में पाकिस्तान द्वारा प्रशिक्षित धर्मोन्मादी मुस्लिम युवकों का एक वर्ग भले ही पाकिस्तानी आतंकवादियों से मिलकर भारत के विरुद्ध हथियार उठा रहा हो किन्तु आम मुसलमान तो हिन्दुओं की तरह ही अमन पसन्द हैं, सदियों से भाईचारे के साथ सबसे हिलमिल कर रहते आ रहे हैं और पक्के राष्ट्रभक्त हैं। देवबन्द के दारुल-उल-मुल्क द्वारा तथाकथित जेहाद और जेहादी आतंकवादियों के खिलाफ जारी फतवा हमें आशान्वित कर रहा है कि देश के समस्त इमाम, उलेमा, मौलवी ऐसा ही अनुकरणीय साहसिक कदम उठाकर भारत से इस्लामिक आतंकवाद को नेस्तनाबूत करा देंगे। जम्मू-कश्मीर में अमरनाथ यात्रियों के शिविरों के लिए श्राइनबोर्ड को पुन: भूमि आवंटित कराने के लिए हिन्दुओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आन्दोलन करने वाले देशभक्त कश्मीरी मुसलमानों ने हमारे मन में धार्मिक-सामाजिक सौहार्द की सुखद आशा पुन: जगा दी है।

साहित्य, संचार-साधनों और दूरदर्शन-कार्यक्रमों की अनुत्तरदायित्वपूर्ण भूमिका : पहले साहित्य समाज का पथ-प्रदर्शक होता था और समाचार-पत्र जनचेतना को उदबुद्ध करके समाज को दिशा देते थे ओर शासन के स्वेच्छाचार पर अंकुश लगाते थे। आज भी अच्छा साहित्य लिखा तो जा रहा है किन्तु वह ग्रंथालयों की ही शोभा बढ़ा रहा है, उसके पाठक नगण्य

रह गए हैं। साहित्यिक पत्रिकाएँ भी पाठकों के लिए तरस रही हैं। चटपटे-मसालेदार लेखों और ऐसी तस्वीरों से भरी पत्रिकाएँ ही आज बाजार में धड़ल्ले से बिक रही हैं, जिन्हें देखकर मूर्तिमान अश्लीलता भी शर्म से पानी-पानी हो जाए! निरर्थक और चटपटी खबरें जुटाने में अथवा पीत-पत्रकारिता में लगे समाचार-पत्र भी अपनी 'लोकतंत्र के सजग पहरी' की भूमिका का सम्यक् निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं। दूरदर्शन पर प्रस्तुत समाचार भी अपराधजगत पर ही विशेष रूप से अपना फोकस केन्द्रित कर रहे हैं। फिल्में भी प्रायः अपराधों, हिंसाचारों और तथाकथित संभ्रांत वर्ग की जीवन-शैली पर केन्द्रित हैं। दूरदर्शन चैनलों पर दिखाए जाने वाले सीरियल भी अपसंस्कृति के प्रचार-प्रचार में लगे हैं। ये दर्शकों को चिन्तन, आचरण ओर व्यवहार की दृष्टि और दिशा नहीं दे रहे हैं। मनुष्य के भीतर देवता भी है और राक्षस भी। किन्तु ये उसके देवत्व की उपेक्षा करके उसके भीतर के राक्षस को जागृत करने में अपना समस्त कला-'कौशल और सामर्थ्य लगा रहे हैं। उनका देवता पदे-पदे उपेक्षित, लांछित, प्रताड़ित और पराजित होकर उपहास का पात्र बन रहा है ओर उसे रौंद-रौंदकर राक्षस निरंतर अट्टहास कर रहा है! स्नेह, ममता, उदारता, त्याग, सहिष्णुता और सच्चरित्रता भारतीय नारी की सहज वन्दनीय प्रकृति है, जिसके कारण भारत सदैव से नारी की पूजा करते आया है। किन्तु इनकी सन्नारियाँ तो कदम-कदम पर लुटती-पिटती, प्रताड़ित और लांछित होती दिखाई जाती हैं।

शिक्षा का लक्ष्य मात्र जीविकोपार्जन या धनार्जन हो जाना: शिक्षा का उद्देश्य है मानव का सर्वांगीण विकास करके उसे बेहतर इन्सान बनाना। किन्तु आज वैश्वीकरण ओर बाजारवाद की चपेट में आकर उसका भी व्यवसायीकरण हो गया है। सभी ऐसी व्यावसायिक शिक्षा पाने में जुट गए हैं जिससे अधिकाधिक धनार्जन किया जा सके। निकम्मे बेरोजगारों की जननी अव्यावसायिक सामान्य शिक्षा आज बेमानी हो गई है। यद्यपि जीविकापार्जन की क्षमता प्राप्त करना मनुष्य की प्रथम अनिवार्यता है किन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण है मानवीय गुणों और संवेदनाओं का विकास, जिसके बिना मुनष्य अपने में ही सिमटा स्वार्थों का पुतला बनता जा रहा है। जिन प्रतिभाओं को राष्ट्रोत्थान और राष्ट्रनिर्माण में लगना था, वे अधिकाधिक धनार्जन के लिए विदेशों में पलायन कर रही हैं और जो यहाँ हैं भी, वे समाज और राष्ट्र को निर्ममता से चूसने में लगी हैं।

विलुप्त होती राष्ट्रीय भावना और सिर उठाता क्षेत्रवाद एवं भाषावाद : भारत का नक्शा भूगोल की किताबों में भले ही हो, हमारे मन-मस्तिष्क और हृदय में वह कहीं दिखाई नहीं दे रहा! हमारा समग्र चिन्तन, हमारे समस्त क्रिया-कलाप व्यष्टिसत्ता में सिमट गये हैं। कोई भी देश को कुछ देना नहीं चाहता, सभी उससे वसूलने में लगे हैं।

राष्ट्र पर राजकीय मशीनरी का दुर्वह व्ययभार बढ़ाने वाले अनेक छोटे-छोटे राज्यों का जनक क्षेत्रवाद भले ही समय की माँग होने से युक्तिसंगत और उचित हो किन्तु राज ठाकरे द्वारा प्रायोजित उन्मादी भाषावाद से तो भयानक भावी गृहयुद्ध की पदचाप स्पष्ट सुनाई दे रही है और मुम्बई पर हुए पाकिस्तान-प्रायोजित आतंकी आक्रमण पर उसकी चुप्पी क्या संकेत दे रही है?

संयुक्त परिवारों का विखंडन और वृद्धों का बहिष्कार : आधुनिक स्वच्छन्द जीवन-शैली, वृद्धों के अवांछनीय बोझ और हस्तक्षेपों से मुक्ति की चाह और जीविकोपार्जन के लिए घर छोड़ने की अनिवार्यता के कारण संयुक्त परिवार बिखर रहे हैं और एकल परिवारों की भरमार हो गई है और वे वृद्धों की छत्रछाया, उनके मार्गदर्शनों और आशीर्वाद से वंचित हो रहे हैं। अब दादा-दादियों और नाना-नानियों की स्नेहिल गोदों में खेलकर उनकी रोचक-प्रेरक कहानियों से चरित्र-निर्माण की सहज शिक्षा लेते हुए बच्चे बड़े नहीं हो रहे अपितु धनार्जन हेतु नौकरी-पेशा में लगे माता-पिता के स्नेह को तरसते झूलाघरों, आयाओं या नौकर-चाकरों के संरक्षण में पल-बढ़कर असुरक्षा और उपेक्षा के भाव से ग्रस्त हो रहे हैं, तो तथाकथित सम्भ्रांत परिवारों के अवांछनीय शिथिलांग वृद्ध वृद्धाश्रमों में बलात् रखे जा रहे हैं। घर के अनपुपयोगी व्यर्थ सामान को कवाड़ियों का बेचने से तो कुछ रुपये मिल जाते हैं। काश! इन वृद्धों का भी कुछ मोल देने वाला कोई कवाड़िया मिल जाता!

हम आशान्वित ही नहीं, पूर्णतः आश्वस्त भी हैं कि सदियों से प्रतिकूलताओं के आघातों पर आघात झेलकर सतत परिष्कृत होती तथा और अधिक भव्य, नव्य ओर दिव्य स्वरूप धारण करती, अपने सशक्त सान्निध्य और पावन संस्पर्श से विश्व को संस्कृत कर देने की क्षमता से समन्वित भारतीय संस्कृति कभी विखंडित और क्षीण नहीं होगी अपितु प्रखरधारा स्वच्छसलिला जाह्नवी की तरह अनेक संस्कृतियों के नदी-नदों को अपने में समाहित करती हुई अपने सहस्त्रों मुखों से मानवता के महासागर को निरन्तर समृद्ध करती रहेगी।

✦✦✦

संस्कृत, संस्कार और संस्कृति

मूलः डॉ. वेदज्ञ आर्य
प्रस्तुतिः आदित्य आर्य

संस्कृत

संस्कृत–सुभाषित पदावली में कहा गया है : "भाषासु मुख्या मधुरा दिव्या गीर्वाणभारती" संस्कृत भाषा के सन्दर्भ में विद्वानों की यह धारणा सनातन काल से चली आ रही है कि वह सरस और मधुर ध्वनियों के शब्दार्थों से श्रोताओं को आनन्दविभोर कर देती है। इसमें अन्तर्निहित शब्दशक्तियों के कारण इसे देववाणी एवं दिव्याभाषा भी कहा जाता है। वस्तुः परिमार्जित या परिष्कृत भाषा का नाम ही संस्कृत है और विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में इसकी गणना मुख्य रूप से की जाती है। कतिपय भारतीय एवं विदेशी विद्वान संस्कृत को सब भाषाओं की जननी मानते हैं, परन्तु भाषा वैज्ञानिकों ने संस्कृत, ग्रीक और लैटिन को तीन प्राचीनतम भगिनी भाषाओं के रूप में स्वीकार किया है। सृष्टि के विकास क्रम में आदिमानव की प्रथम अवतारणा और उसकी संवदेनाओं को अभिव्यक्त करने वाली भाषा के उदय होने का समय बिन्दु वैज्ञानिकों के लिए भी अविदित है। किन्तु संस्कृत के अतिप्राचीन होने का थोड़ा श्रेय एक शोधपरक इतिहास की पुस्तक के निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञाता होता है कि ईस्वी की छठी शताब्दी में संस्कृत कथा–साहित्य का अनुवाद विश्व की प्रमुख भाषाओं में उपलब्ध होना आरम्भ हो गया था–

"केलर, हर्टेल, कास्फिन, लूडर्स आदि विद्वानों ने इस विषय पर बहुत खोजबीन की है और स्वीकार किया है कि संसार का कथा–साहित्य बहुत कुछ भारतीय कथा–सात्यि से प्रभावित है। इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' है। इसके पुराने पाठ की पहलवी भाषा में अनुवाद हकीम बुर्जोई ने किया था जो खुसरो और नौशेरवां (531–79 ई.) के आश्रित थे। यह अनुवाद अब नहीं मिलता। किन्तु सन् 570 ई. तक इसका अनुवाद वूद नामक एक लेखक ने सीरिया की भाषा में कर लिया था। सन् 750 ई. में अब्दुल्ला इब्न मोकफ्फा ने इसका उल्था अरबी भाषा में किया था। इसी अरबी रूपान्तर से यूरोपीय अनुवाद निकले हैं।"

सम्पर्कः मोः 9810009099

संस्कृत के मूर्धन्य कवियों ने अपनी कालजयी रचनाओं में भाषा–सौष्ठव का जो उच्चतम स्तर स्थापित किया है उससे देश–विदेश के काव्यप्रेमी विमुग्ध हो उठे और भाषा की गरिमा बढ़ती चली गई। अपनी उपमा–प्रयोग की प्रक्रिया में प्रख्यात कविकुल गुरु कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में प्रस्तावित प्रथम श्लोक में सम्पूर्ण जगत् के संरक्षक शिव–पार्वती को शब्दार्थ के सम्पृक्त रूप में जिस प्रकार उपमित किया है, वह अपने आप में अद्‌भुत प्रयोग है। नीतिशतक, शृंगार शतक और वैराग्यशतक के लोकप्रिय कवि भर्तृहरि के शब्दों में संस्कृत मनुष्य की वाणी को परिशुद्ध करने वाली अकेली अलंकृत भाषा है। संस्कृत वाङ्‌मय में अर्थगौरव की अभिव्यंजना करने वाले महाकवि भारवि ने एक ऐसी वाणी को साक्षात् सरस्वती देवी कहा है जिससे प्रस्फुटित शब्दार्थों में हृदय की पारदर्शिता रही है और जिसकी कर्णमधुर ध्वनि को सुनकर विरोधियों का मन भी प्रसन्न हो जाता है। पर, ध्यान रहे; ऐसी वाणी केवल पुण्य कर्मों के करने पर ही प्रकट होी है। वस्तुत: शब्दशक्तियों के प्रभावों से पूर्णत: अवगत होकर ही गुरुकुल एवं आश्रमों के आचार्यगण शिक्षा के प्रारम्भिक सोपानों पर पग धरने वाले छात्रों को इन्द्रियों पर संयम रखने की बात इस प्रकार समझाते हैं–"संस्कृत वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र, काव्य, काव्याशास्त्र के अध्ययन से ज्ञान–प्राप्त करने और आत्मसात् करने की विशुद्ध भाषा है। अत: यदि उनकी वाणी संस्कृत नहीं; यदि दृष्टि संस्कृत नहीं, यदि मन संस्कृत नहीं है तो संस्कृत पढ़ने का कोई औचित्य नहीं और जीवन में कोई उपलब्धि नहीं होगी।" आचार्यवर्ग के इन उद्‌बोधक वचनों से छात्रों में संस्कारों की जो भूमि तैयार होती है, वही भारतीय संस्कृति को शाश्वत रूप से पल्लवित और पुष्पित बनाये रखती हैं ऐसी संस्कृतमयी वाणी जीवन को सार्थक बनाने के लिए दिव्य वरदान है।

संस्कार

संस्कार शब्द का प्रयोग धार्मिक विधि–विधान वाले बारह अथवा सोलह संस्कारों के अतिरिक्त निम्नांकित अर्थों में भी किया जाता है–परिष्कार परिमार्जन, प्रशिक्षण, संशोधन, अलंकृत करना, प्रभावोत्पादन, शालीनता आदि गुणों को प्रकट करना। संस्कारों का सम्बन्ध मनुष्य के किसी एक जीवन से ही नहीं, अपितु जन्म–जन्मान्तरों से बंधा रहता हैं कालिदास का कहना है कि व्यक्ति की चेष्टाओं और कार्यप्रणालियों से उसके प्राक्तन कर्मों का अनुमान लगाया जा सकता है। पातंजलयोगदर्शन में संस्कारों को वासनाओं के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वस्तुत: संस्कार रूपी वासनाएँ मानव जीवन की अनुभूतियों से उत्पन्न होती हैं। वासना का धात्वर्थ स्पष्ट हैं–'वसति इति वासना' अन्त:करण में जो बस जाती है वही वासना या संस्कार है। जब–जब अनुभूतियों की स्मृतियाँ जाग उठती हैं, तब–तब संस्कार अंगारों के समान धधक उठते हैं। सम्भवत: यही कारण है कि तर्कसंग्रह के रचयिता ने स्मृतिजन्य ज्ञान को संस्कार कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि समृति-संस्कारों का परस्पर अपेक्षित रहने का सिद्धान्त अल्बर्ट आइन्स्टीन के डेढ़ सौ साल पुराने सापेक्षता के सिद्धान्त से योगदर्शन और तर्कसंग्रह का सिद्धान्त सैकड़ों और हजारों वर्ष पुराना है। इससे यह भी प्रतिपादित होता है कि मनुष्य के जन्म–जन्मान्तरों को कर्मफल के परिपक्व होने तक स्मृति रूपी राख में चिंगारी बनकर सुलगते रहना पड़ता है। इसमें जातिगत, देश–देशान्तरगत और कालगत व्यवधानों के होते रहने पर भी कर्मगत संस्कारों में व्यवधान नहीं होता। इस सूत्रार्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका की निम्नांकित व्याख्या प्रेक्षणीय है–

"जन्म, देश और काल का व्यवधान होते हुए भी जिस कर्म का फल प्राप्त होने वाला है, उसके अनुसार भोगवासना उत्पन्न होने में कोई अड़चन नहीं पड़ती।" इस सन्दभ्र कमें एक संक्षिप्त, किन्तु गम्भीरतम वाक्य द्वारा संशयशील व्यक्तियों को सावधान किया गया है कि बिना भोगा हुआ कर्मफल सैकड़ों और करोड़ों वर्ष तक क्षीण नहीं होता–"नाभुमुक्तं कर्म क्षीयते वर्षकोटिशतैरपि" इस प्रकार मानव–जगत में पूर्व जन्मों के संस्कारों की भोगपरक भूमिका बनी रहती है। मनुष्य के वर्तमान जीवन में अच्छे–बुरे संस्कारों का प्रभाव अवश्य पड़ता रहता है। शैशवास्था से किशोरावस्था तक प्रशस्त, धार्मिक माता के संस्कार बालक–बालिका पर पड़ते हैं और अनुभवी पिता का मार्गदर्शन सन्तान को मिलता रहता है। उपनयन संस्कार से समावर्तन संस्कार तक (विद्या–समाप्ति तक) आचार्य के प्रवचनों का प्रभाव शिष्य को पूर्ण संस्कारवान बना देता है। आचार्य का प्रथम प्रवचन है–'प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़ो, प्रमाद से धर्म का त्याग मत करो, मातृदेव, पितृदेव, आचार्य देव और अतिथिदेव बन, जितने अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं; उनका सम्पादन कर, घृणित एवं अन्यायपूर्ण कर्मों का परित्याग कर। आचार्यदेव का एक–एक वाक्य शिष्य के

लिए आत्म-रक्षा का कवच और मन्त्रसिद्ध रहस्मयी उपलब्धि है। दीक्षा के प्रवचनों से अनुप्राणित होकर स्नातक प्रतिज्ञा करता है-"आपको साक्षात् ब्रह्म मानकर, आपके वचनों को ब्रह्मवाक्य समझकर, ऋत के रूप में सार्वभौमिक नियमो का पालन करूँगा और आत्मसात्कृत सत्य का प्रसार करूँगा।" गुरुदक्षिणा के रूप में कही गई उक्त प्रतिश्रुतियाँ या प्रतिज्ञाएँ भावी पीढ़ियों में संस्कारों को जगाती रहेंगी और संस्कृति को अक्षुणा रखेंगी। किसी अज्ञात नामा मनस्वी ने कहा है-"मेरा आचरण मेरे कुल की संस्कृति को प्रकट करता है, मेरी भाषा मेरे देश की वाणी है, दूसरों के साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार मेरे प्रेम का द्योतक है, मेरे स्वस्थ शरीर की संरचना मेरे सन्तुलित भोजन का सूचक है। ये चारों गुण एक संस्कारवान व्यक्ति के नैतिक मूल्य हैं।"

संस्कृति

संस्कृति युग-युगीन मानव-आत्माओं के संस्कारों की विशाल गाथा है। भारतीय संस्कृति की गाथा उतनी ही पुरातन है, जितनी कि बहुसंख्यक वेदमंत्रों को संहिताओं के रूप में परिणत करने की स्वर्णिम घड़ी। विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में ऋग्वेद को आदि ग्रन्थ माने जाने का श्रेय प्राप्त होने के अनुक्रम में यजुर्वेदीय मन्त्र द्वारा भारतीय भूखण्ड में पल्लवित होने वाली संस्कृति को "सा प्रथमा संस्कृति र्विश्ववारा" अर्थात् प्रथमा संस्कृति कहकर सम्पूर्ण विश्व के लिए वरणीय बतलाया गया है। यद्यपि मानव जाति एक है, पर वह अनेक मनुष्य समूहों में विभक्त है और ये मनुष्य समूह समूह भी विश्व के अनेक भूखण्डों में बस गये हैं। विशिष्ट-विशिष्ट भूखण्डों में पृथक्-पृथक् परिवेशों के कारण मनुष्यों के जन्म और विकासक्रम भी भिन्न-भिन्न होता गया। इस दृष्टि से संस्कृति को यदि एक संक्षिप्त वाक्य में व्यक्त किया जाये तो कहना पड़ेगा कि वह एक जीवन पद्धति भी भिन्न हो जाती है। भिन्न-भिन्न रुचियों के कारण देश की मूल संस्कृति भी विविधतामयी, संश्लिष्ट और सम्मिश्रित संस्कृति हो गई है और इनकी कुछ-कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं। संस्कृति के मूल में वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद, स्मृतिग्रन्थ, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों के अध्ययन-अध्यापन का क्रम जारी रहा हैं यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष में यज्ञों का आयोजन तथा वेदमंत्रों का सस्वर पाठ किया जाता हैं यज्ञानुष्ठान के बाहुल्य के कारण देश-विदेश के लोगों ने यहाँ की संस्कृति को यज्ञसंस्कृति के नाम से भी व्यवहृत किया है।

भारतीय संस्कृति विविधतामयी अवश्य हो गई है, परन्तु, पूर्वजन्म और वर्तमान जन्म के कर्मफलों के भोगने में पूर्व निर्दिष्ट जातिगत, देशगत तथा कालगत व्यवधान तो बने ही रहेंगे। कर्मफल की परिपक्वता की घड़ी ही उनका एकमात्र समाधान हैं कर्मगति की इस गम्भीर दार्शिनिकता से जो लोग परिचित हैं, वे वास्तव में, संस्कारवान व्यक्ति हैं और वे ही ऋषियों के मार्गदर्शन पर अपना सांस्कृतिक जीवन व्यतीत करते हैं।

प्रसंगवश यहाँ पर संस्कृति के उन विधायक तत्त्वों का उल्लेख करना आवश्यक है, जिन्हें आत्मसात् करके भारतीय जनसमूह ने अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखा है। वैदिक ऋषियों ने बिना किसी भूखण्ड का नाम लिए और बिना किसी जाति का उल्लेख किये केवल विश्व मानव को केन्द्र में रखकर संस्कृति की पावन धारा प्रवाहित की है। ऋग्वेद के अन्यतम मन्त्र में कहा गया है-"हे मनुष्य! तू मानव बन श्रेष्ठकर्म रूपी यज्ञ का विस्तार कर, सूर्य के ज्योतिष्मय पथ का अनुसरण कर और प्रकाशमय मार्ग की रक्षा कर, वेदमन्त्रों का स्तवन करने वालों को सुखी बनाओ, अन्य लोगों को भी देवों के उपासक बनाओ। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में एक नव-विवाहित पति उपस्थित भद्रजनों के सम्मुख घोषणा करता है-यह मेरी मांगल्यमयी पत्नी को देखे जो मेरे लिए भाग्यशालिनी है, इसे आशीर्वाद दीजिए और इसके साथ सद्भावनापूर्ण व्यवहार कीजिए। संस्कृति का यह पहला घटक या विधायक तत्त्व है जहाँ से सांस्कृतिक जीवन आरम्भ होता है।"

जीवन में सत्य को आत्मसात् करना, सत्य बोलना, सदाचरण के लिए वैदिक ऋषियों ने मनुष्य को केवल अनुप्राणित ही नहीं किया, अपितु, अनेक प्रकार के मन्त्रों और विवेचनात्मक वाक्यों से सत्य के अन्तर्निहित शक्ति एवं महत्व का बोध करवाया है, जैसे सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं, सत्य से ही विकास के नये-नये आयाम उद्घाटित होते हैं। सत्य की महिमा से प्रभावित होकर मानव प्रार्थना करता है कि ओंकारस्वरूप परमात्मा उसे असत्य से हटाकर सत्य की ओर ले चले। मानव को जब सत्य का साक्षात्कार नहीं होता नहीं होता और उसके सामने सुवर्णमय प्रलोभनों का अम्बार लग जाता है तो सूर्य भगवान से प्रार्थना करता है कि

वे सुवर्णमय पात्र को हटाए जिससे वह सत्यरूपी धर्म को देख सके। भारतीय संस्कृति का यह दूसरा विधायक घटक है। वैदिक वाङ्मय मे ऋत का बहुत ही महत्व है। ऋत वस्तुत: एक सार्वभौमिक नियम है जो सृष्टि अथवा विशाल प्रकृति को संचालित करता है। परमात्मा के महान दीप्तिमान तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। यह भारतीय संस्कृति का तीसरा विधायक है।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार यह धरती कर्मभूमि है। अत: प्रत्येक कर्म मानव-जीवन के विकास का सोपान है। मनुष्य अपने जीवन में जो भी कर्म करता है, उसकी शुद्धता और पारदर्शिता पर सर्वाधिक बल दिया गया है, क्योंकि मानव-जीवन में सुख-दु:खों के समागम का मूल कारण ही शुभ कर्म और अशुभ कर्म हैं। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा रखे। यही श्रेष्ठ मार्ग है जिससे व्यक्ति अशुभ और दु:ख के भीषण दल-दल में लिप्त नहीं हो सकता। वैदिक ऋषि अपनी अन्तर्दृष्टि से जानते थे कि प्रत्येक क्रियमाण कर्म मानव के साथ गतिशील रहता है। यदि वह उठता है तो उसका कर्म भी उठ जाता है, यदि वह कार्य करता है तो उसका कर्म द्रष्टा के रूप में विद्यमान रहता है। कर्म तो छाया के समान ही कर्ता का पीछा करता रहता है। संस्कृति का यह यौथा विधायक तत्त्व है। धर्म के दस लक्षण भी विधायक तत्त्व ही बन जाते हैं। भारतीय संस्कृति और दर्शनशास्त्रों के सूक्ष्म विवेचनो से मुग्ध होकर अपने जीवन रहस्यों को जानने के लिए विदेशी विद्वान भारत की यात्रा करते थे। इस सन्दर्भ में और भारतीय संस्कृति की गौरवगरिमा के अनुक्रम में एक उद्धरण अवलोकनीय है। सन् 1677 में डेनमार्क के सार्वजनिक धर्मसम्मेलन में अध्यक्षपद पर समासीन महिला सुश्री जटस्कू ने जो उद्‌गार व्यक्ति किये हैं वे हमारी संस्कृति के महत्व को अभिव्यक्त करते हैं–"ओ भूमण्डल के एकत्रित विद्वानों! यदि तुम संसार के वायुमण्डल को शान्त तथा सुखदायक बनाना चाहते हो तो भारत के सन्तों के पास गुफा और जंगलों में जाओ, उनके चरणों में बैठकर उनसे ब्रह्मज्ञान को सीखो और यूरोप-अमेरिका में फैलाकर शान्ति का राज्य-स्थापन करो।"

✧✧✧

भारतीय संस्कृति एक संपूर्ण संस्कृति

—डॉ. आशीष कंधवे

"संस्कृति का उद्गम शब्द संस्कार है। संस्कार का अर्थ है वह क्रिया जिससे व्यक्ति अथवा मानवीय काल- सापेक्ष दोष को दूर कर के शुद्ध कर दिया जाए। मानवीय दोषों को दूर कर उसे निर्मल बनाने वाली प्रक्रियाओं का संग्रहीत उपक्रम ही संस्कृति है।"

वस्तुत: संस्कृति इतना व्यापक अर्थ वाला शब्द है जिससे एक बहुत बड़े मानव समुदाय के उन्नत होने का बोध होता है, एक लम्बे मानवीय अनुभव से सिद्ध उन सम्यक् चेष्टाओं का ज्ञान मिलता है जो उसके आचार, विचार, व्यवहार को उत्कृष्ट बनाते हैं, उसकी संस्थाओं को चलाते हैं तथा जिनके ऊपर उस भोगोलिक सीमा का आन्तरिक बाह्य विकास निर्भर करता है जहाँ वो निवास करते हैं। संक्षेप में संस्कृति मानव समुदाय के जीवन यापन की वह परम्परागत किंतु निरन्तर विकासोन्मुखी शैली है जिसका प्रशिक्षण पाकर मनुष्य संस्कारित सुघड़, प्रौढ़ और विकसित होता है।

प्रत्येक संस्कृति के कुछ सार्वभौमिक आधार हैं, जिनके कारण वह जीवित रहती है। जिसमें ये सार्वभौम गुण जितने प्रचुर मात्रा में होते हैं, उतनी वह संस्कृति व्यापक और प्रभावशाली बन जाती हैं। सार्वभौमिक सत्यों पर ही संस्कृति अजर-अमर रहती है वह कभी नहीं मरती। भले ही समाज-राष्ट्र मर जाये। संकीर्णता-क्षुद्रता पर आधारित संस्कृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। अत: किसी भी संस्कृति की महानता इस पर निर्भर करती है कि वह कितने सार्वभौमिक सत्यों पर खड़ी है? और इसी कारण वह सब ओर गतिशील होती है।

विश्व में अनेक संस्कृतियाँ पनपीं और मिट गईं। आज उनका सिर्फ अवशेष ही बचा है, सिर्फ उनकी स्मृति बाकी है, लेकिन भारतीय संस्कृति का मूल अस्तित्व कभी नहीं मिटा। उसे मिटाने के बहुत प्रयास हुए और यह सिलसिला आज भी जारी है, पर कुछ बात है कि हस्ती, मिटती नहीं हमारी। भारतीय संस्कृति में आखिर क्या है, जो उसे हमेशा बचाए रखती है, जिसकी वजह से वह हजारों साल से विदेशी हमलावरों से लोहा लेती रही और लेती रहेगी। आखिर ऐसा कौन-सा तंत्र है जो हमलावार

सम्पर्क: एडी-94/डी, शालीमार बाग, दिल्ली-110088,
मो: 9811184393 ई-मेल: vhspindia@gmail.com

संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति को छिन्न-भिन्न नहीं पर पातीं? हर बार उन्हें लगता है कि इस बार वे इसे अवश्य पदाक्रांत कर देंगी, पर हुआ हमेशा उलटा, वे खुद ही पदाक्रांत होकर भारतीय संस्कृति में विलीन हो गईं।

हजारों साल से क्यों और कैसे जीवित है भारतीय संस्कृति? क्या हैं इसके मूल तत्व जो इसे नष्ट होने से हमेशा बचाते और विरोधी संस्कृतियों का मुकाबला करने की शक्ति देते रहे हैं। भारत में पनपी इस संस्कृति ने कैसे एशिया, यूरोप और अफ्रीका के बड़े भूभाग को अपने प्रभाव में ले लिया।

सिर्फ देह की शक्ति को महत्वपूर्ण मानने वाला स्पार्टा वीरों के लिए भले ही जाना जाता है, मगर विश्व की संस्कृतियों पर वह कोई प्रभाव नहीं डाल सका। वहाँ मनुष्य के मन को भारतीय संस्कृति जितना महत्त्व नहीं दिया गया, शायद इसीलिए रोम, मिस्त्र और काबुल आदि की प्राचीन संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं।

'भारतीय संस्कृति' विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। इसे विश्व की सभी संस्कृतियों की जननी कहा जाता है। जीने की कला हो या विज्ञान और राजनीति का क्षेत्र, भरतीय संस्कृति का सदैव विशेष स्थान रहा है। अन्य देशों की संस्कृतियाँ तो समय की धारा के साथ-साथ नष्ट होती रही हैं, किन्तु भारत की संस्कृति आदि काल से ही अपने परम्परागत अस्तित्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है।

विश्व के सभी क्षेत्रों और धर्मों की अपने रीति-रिवाजों, परम्पराओं और परिष्कृति गुणों के साथ अपनी संस्कृति है। भारतीय संस्कृति स्वाभाविक रूप से शुद्ध है जिसमें प्यार, सम्मान, दूसरों की भावनाओं का मान-सम्मान और संस्कार अन्तर्निहित है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों, जीवन मूल्यों और वचन पद्धति में एक ऐसी निरन्तरता रही है, कि आज भी करोड़ों भारतीय स्वयं को उन मूल्यों एवं चिन्तन प्रणाली से जुड़ा हुआ महसूस करते हैं और इससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से भारत विविधताओं का देश है, फिर भी सांस्कृतिक रूप से एक इकाई के रूप में इसका अस्तित्व प्राचीनकाल से बना हुआ है। भौगोलिक विभिन्नता के अतिरिक्त इस देश में आर्थिक और सामाजिक भिन्नता भी पर्याप्त रूप से विद्यमान है। वस्तुत: इन भिन्नताओं के कारण ही भारत में अनेक सांस्कृतिक उपधाराएँ विकसित होकर पल्लवित और पुष्पित हुई हैं। अनेक विभिन्नताओं के बावजूद भी भारत की पृथक सांस्कृतिक सत्ता रही है।

संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र रूप का नाम है जो उस समाज के सोचने, विचारने, कार्य करने, खाने-पीने, बोलने, नृत्य, गायन, साहित्य, कला, वास्तु आदि में परिलक्षित होती है। संस्कृति का वर्तमान रूप किसी समाज के दीर्घ काल तक अपनायी गयी पद्धतियों का परिणाम होता है। मनुष्य स्वभावत: प्रगतिशील प्राणी है। यह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता और उन्नत करता रहता है। सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है, जबकि संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। हिमालय सम्पूर्ण देश के गौरव का प्रतीक रहा है, गंगा-यमुना और नर्मदा जैसी नदियों की स्तुति यहाँ के लोग प्राचीनकाल से करते आ रहे हैं। राम, कृष्ण और शिव की आराधना यहाँ सदियों से की जाती रही है। भारत की सभी भाषाओं में इन देवताओं पर आधारित साहित्य का सृजन हुआ है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में जन्म, विवाह और मृत्यु के संस्कार एक समान प्रचलित हैं। विभिन्न-रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार और तीज-त्यौहारों में भी समानता है। भाषाओं की विविधता अवश्य है फिर भी संगीत, नृत्य और नाटय के मौलिक स्वरूपों में आश्चर्यजनक समानता है। संगीत के सात स्वर और नृत्य के त्रिताल सम्पूर्ण भारत में समान रूप प्रचलित हैं। भारत अनेक धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और पृथक आस्थाओं एवं विश्वासों का महादेश है, तथापि इसका सांस्कृतिक समुच्चय और अनेकता में एकता का स्वरूप संसार के अन्य देशों के लिए विस्मय का विषय रहा है।

हमारी संस्कृति की विशेषताओं पर गौर करें तो इसकी प्राचीनता वैश्विक संस्कृतियों में सर्वोपरि है। मध्य प्रदेश के भीमबेटका में पाये गये शैलचित्र, नर्मदा घाटी में की गई खुदाई तथा कुछ अन्य नृवंशीय एवं पुरातत्त्वीय प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि भारत भूमि आदि मानव की प्राचीनतम कर्मभूमि रही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के विवरणों से भी प्रमाणित होता है कि आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पहले उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग में एक उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हो चुका था। इसी प्रकार वेदों में परिलक्षित भारतीय संस्कृति न केवल प्राचीनता का प्रमाण है, अपितु वह भारतीय अध्यात्म और चिन्तन की भी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर भारतीय संस्कृति से रोम और यूनानी संस्कृति को प्राचीन तथा मिस्त्र,

असीरिया एवं बेबीलोनिया जैसी संस्कृतियों के समकालीन माना गया है।

दरअसल, भारतीय संस्कृति की सहिष्णु प्रकृति ने उसे दीर्घ आयु और स्थायित्व प्रदान किया है। भारतीय हिन्दू किसी देवी-देवता की आराधना करें या न करें, पूजा-हवन करें या न करें, स्वतंत्रता पर धर्म या संस्कृति के नाम पर कभी कोई बंधन नहीं लगाये गए। इसीलिए प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक हिन्दू धर्म को धर्म न कहकर कुछ मूल्यों पर आधारित एक जीवन-पद्धति की संज्ञा दी गई और हिन्दू का अभिप्राय किसी धर्म विशेष के अनुयायी से न लगाकर भारतीय से लगाया गया। भारतीय संस्कृति के इस लचीले स्वरूप में जब भी जड़ता की स्थिति निर्मित हुई तब किसी न किसी महापुरुष ने इसे गतिशीलता प्रदान कर इसकी सहिष्णुता को एक नई आभा से मंडित कर दिया। इस दृष्टि से प्राचीनकाल में बुद्ध और महावीर के द्वारा, मध्यकाल में शंकराचार्य, कबीर, गुरु नानक और चैतन्य महाप्रभु के माध्यम से तथा आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा ज्योतिबा फुले के द्वारा किये गए प्रयास इस संस्कृति की महत्त्वपूर्ण धरोहर बन गए।

भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि हजारों वर्षों के बाद भी यह संस्कृति आज भी अपने मूल स्वरूप में जीवित है, जबकि मिस्र, असीरिया, यूनान और रोम की संस्कृतियां अपने मूल स्वरूप को लगभग विस्मृत कर चुकी हैं। भारत में नदियों, वट, पीपल जैसे वृक्षों, सूर्या तथा अन्य प्राकृतिक देवी-देवताओं की पूजा अर्चना का क्रम शताब्दियों से चल आ रहा है। देवताओं की मान्यता, हवन और पूजा-पाठ की पद्धतियों की निरन्तरता भी आज तक अप्रभावित रही हैं। वेदों और वैदिक धर्म में करोड़ों भारतीयों की आस्था और विश्वास आज भी उतना ही है, जितना हजारों वर्ष पूर्व था। गीता और उपनिषदों के सन्देश हजारों साल से हमारी प्रेरणा और कर्म का आधार रहे हैं। किंचित परिवर्तनों के बावजूद भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों, जीवन मूल्यों और वचन पद्धति में एक ऐसी निरन्तरता रही है, कि आज भी करोड़ों भारतीय स्वयं को उन मूल्यों एवं चिन्तन प्रणाली से जुड़ा हुआ महसूस करते हैं।

भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता एवं उदारता के कारण उसमें एक ग्रहणशीलता प्रवृत्ति को विकसित होने का अवसर मिला। वस्तुतः जिस संस्कृति में लोकतन्त्र एवं स्थायित्व के आधार व्यापक हों, उस संस्कृति में ग्रहणशीलता की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न हो जाती है। हमारी संस्कृति में यहाँ के मूल निवासियों ने समन्वय की प्रक्रिया के साथ ही बाहर से आने वाले शक, हूण, यूनानी एवं कुषाण जैसी प्रजातियों के लोग भी घुलमिल कर अपनी पहचान खो बैठे।

भारत में इस्लामी संस्कृति का आगमन भी अरबों, तुर्कों और मुगलों के माध्यम से हुआ। इसके बावजूद भारतीय संस्कृति का पृथक अस्तित्व बना रहा और नवागत संस्कृतियों से कुछ अच्छी बातें ग्रहण करने में भारतीय संस्कृति ने संकोच नहीं किया। ठीक यही स्थिति यूरोपीय जातियों के आने तथा ब्रिटिश साम्राज्य के काररण भारत में विकसित हुई ईसाई संस्कृति पर भी लागू होती है। यद्यपि ये संस्कृतियाँ अब भारतीय संस्कृतियों का अभिन्न अंग हैं, तथापि 'भारतीय इस्लाम' एवं 'भारतीय ईसाई' संस्कृतियों का स्वरूप विश्व के अन्य इस्लामी और ईसाई धर्मावलम्बी देशों से कुछ भिन्न है। इस भिन्नता का मूलभूत कारण यह है कि भारत के अधिकांश मुसलमान और ईसाई मूलतः भारत भूमि के ही निवासी हैं। संभवतः उनके सामाजिक परिवेश और सांस्कृतिक आचरण में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया और भारतीयता ही उनकी पहचान बन गई।

भारतीय संस्कृति में आश्रम-व्यवस्था के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे चार पुरुषार्थों का विशिष्ट स्थान रहा है। वस्तुतः इन पुरुषार्थों ने ही भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का एक अद्भुत समन्वय कर दिया। हमारी संस्कृति में जीवन के ऐहिक और पारलौकिक दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बद्ध किया गया था। धर्म उन सिद्धान्तों, तत्त्वों और जीवन प्रणाली को कहते हैं, जिससे मानव जाति परमात्मा प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना लौकिक जीवन सुखी बन सके तथा मृत्यु के पश्चात जीवात्मा शान्ति का अनुभव कर सके। शरीर नश्वर है, आत्मा अमर है, यह अमरता मोक्ष से जुड़ी हुई है और यह मोक्ष पाने के लिए अर्थ और काम के पुरुषार्थ करना भी जरूरी है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में धर्म और मोक्ष, आध्यात्मिक सन्देश एवं अर्थ और काम की भौतिक अनिवार्यता परस्पर सम्बद्ध है। आध्यात्मिकता और भौतिकता के इस समन्वय में भारतीय संस्कृति की वह विशिष्ट अवधारणा परिलक्षित होती है, जो मनुष्य के इस लोक और परलोक को सुखी बनाने के लिए भारतीय मनीषियों ने निर्मित की थी। सुखी मानव-जीवन के लिए ऐसी चिन्ता विश्व की अन्य संस्कृतियाँ नहीं करतीं। साहित्य, संगीत और कला की सम्पूर्ण विधाओं के माध्यम से भी भारतीय संस्कृति के इस आध्यात्मिक एवं भौतिक समन्वय को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

भौगोलिक दृष्टि से भारत विविधताओं का देश है, फिर भी सांस्कृतिक रूप से एक इकाई के रूप में इसका अस्तित्व प्राचीनकाल से बना हुआ है। इस विशाल देश में उत्तर का पर्वतीय भू-भाग, जिसकी सीमा पूर्व में ब्रह्मपुत्र और पश्चिम में सिन्धु नदियों तक विस्तृत है। इसके साथ ही गंगा, यमुना, सतलुज की उपजाऊ कृषि भूमि, विन्ध्य और दक्षिण का वनों से आच्छादित पठारी भू-भाग, पश्चिम में थार का रेगिस्तान, दक्षिण का तटीय प्रदेश तथा पूर्व में असम और मेघालय का अतिवृष्टि का सुरम्य क्षेत्र सम्मिलित है। इस भौगोलिक विभिन्नता के अतिरिक्त इस देश में आर्थिक और सामाजिक भिन्नता भी पर्याप्त रूप से विद्यमान है। वस्तुत: इन भिन्नताओं के कारण ही भारत में अनेक सांस्कृतिक उपधाराएँ विकसित होकर पल्लवित और पुष्पित हुई हैं।

भारत ही केवल एक ऐसा देश है जहाँ सर्वधर्म समभाव का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है, जितनी इज्जत हम अपने धर्म की करते हैं, उतनी ही इज्जत हमें दूसरों के धर्म की करनी चाहिये। यहाँ सुबह-सुबह मंदिर से मन्त्रोच्चार की ध्वनि, मस्जिद से अजान, गुरूद्वारे से शबद कीर्तन की आवाज और चर्च के प्रार्थना की पुकार एक साथ सुनी जा सकती है। जितनी भाषायें यहाँ बोली जाती हैं, विश्व में कहीं और नहीं बोली जातीं। बोल-चाल, खान-पान, रहन-सहन में अनेकता होते हुए भी हम एक साथ रहते हैं, एक-दूसरे के तीज त्योहार में शिरकत करते हैं, होली, दीवाली, ईद, बाराबफात, मुहर्रम, गुरपर्ब और क्रिसमस साथ-साथ मनायी जाती है। मजारों और मकबरों पर हिन्दुओं द्वारा चादर चढ़ाना और दूसरे सम्प्रदाय के लोगों का मंदिरों और गुरुद्वारों पर दर्शन करना, मत्था टेकना बहुत आम बात है। यह हमारे धर्म और लोकाचार की सहनशीलता का जीता-जागता उदाहरण है।

रही बात हमारे विभिन्न प्रकार के देवी देवता होने की, तो हिन्दू धर्म में प्रकृति को हर तरह से पूजा गया है, चाहे वह वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि या आकाश हो। इस प्रकार से हम प्रकृति के हर रूप की पूजा करते हैं, चाहे वह पहाड़ हो या कोई जीव जन्तु या हमारी वन्य संपदा, हमारी संस्कृति में इन सबको विशेष स्थान दिया गया है। दुनिया में ऐसी कोई संस्कृति नहीं होगी जहाँ प्रकृति को विभिन्न रूपों और स्वरूपों में पूजा गया है, अगर बात त्योहारों से जुड़ी कहानियों की करें, तो सामान्य जनता जो उपनिषदों वेदों की लिखी गूढ़ बातों को नहीं समझ सकती, उनको लोक आचरण के लिये विभिन्न ऋषि-मुनियों ने अनेक गाथायें लिखीं और उनको विभिन्न त्योहारों से इस तरह से जोड़ा कि सामान्य जन भी उसके साथ जुड़ सके और उसे अपना सके साथ ही ईश्वर का ध्यान और मनन कर सके।

इससे अतिरिक्त और भी चीजें हमारी संस्कृति में जुड़ती रहीं, सभी का उल्लेख करना तो सम्भव नहीं हो सकेगा... प्रमुख रूप से क्रिकेट की संस्कृति है, यह खेल अब हमारी संस्कृति में शामिल हो गया है, क्रिकेटरों के अच्छे-बुरे प्रदर्शन पर हम हंसते-रोते हैं, इनको अपने बच्चों से भी ज्यादा प्यार करते हैं, भगवान जैसी पूजा करते हैं, जब जीतते हैं तो तालिया बचाते हैं, जब हारते हैं तो गालिया देते हैं।

अब समस्या यहाँ आती है कि हम अपनी संस्कृति का कितना मान रख पाते हैं, वेद शास्त्र आपको रास्ता दिखा सकते हैं, लेकिन आपको उन पर चलते के लिये बाध्य नहीं कर सकते। एक और बात, चूंकि ये सारे शास्त्र गूढ़ भाषा में लिखे गये थे, इसलिये समय-समय पर अनेक स्वार्थी धर्माचार्यों ने अपने और कुछ राजनीतिज्ञों के निहित स्वार्थों के लिये, इन शास्त्रों का मनमाने ढंग से विवेचना कर अपने फायदे के लिये इस्तेमाल किया और अपनी दुकानें चलायीं। भाई को भाई से लड़ाया और विभिन्न समुदायों में आपस में बैर और नफरत फैलायी... और जो आज तक जारी है। इन्हीं लोगों की वजह से हमारी यहाँ कभी-कभी दंगे फसाद होते हैं, लेकिन आपसी भाईचारा कभी खत्म नहीं होता।

मार्क ट्वेन ने 1856 में जब भारत का दौरा किया था तो उसने लिखा था, "भारत सांस्कृतिक रूप से परिपूर्ण राष्ट्र है।" वैसे भी समय-समय पर कई विदेशी विद्वानों ने भारत का दौरा किया और यहाँ की संस्कृति को दुनिया में सबसे उन्नत माना। यही हमारी संस्कृति है, और हम सभी भारतीयों को इस पर गर्व है।

भारतीय संस्कृति स्थिर एवं अद्वितीय है जिसके संरक्षण की जिम्मेदारी वर्तमान पीढ़ी पर है। इसकी उदारता तथा समन्वयवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किन्तु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। एक राष्ट्र की संस्कृति उसके लोगों के दिल और आत्मा में बसती है। सर्वांगीणता, विशालता, उदारता और सहिष्णुता की दृष्टि से अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति अग्रणी है।

✦✦✦

भारतीय संस्कृति की अंतश्चेतना

—डॉ. रामवृक्ष सिंह

संस्कृति की अवधारणा सर्वसमावेशी है। उसमें वह सब कुछ समाहित है जो मानव ने अपनी बीस लाख वर्ष से अधिक लम्बी विकास यात्रा में आद्योपान्त सीखा, आविष्कृत किया, अपनाया और संचित किया है। गोविंद चातक के शब्दों में 'संस्कृति मानवीय क्रिया-कलाप और उसकी उपलब्धियों की अभिव्यक्ति ही है। अत: वह उसकी अपनी प्रगति की द्योतक भी है तथा आत्मिक गतिविधियों और सर्जनात्मकता, दोनों का मिला-जुला रूप भी। मानव संस्कृति का निर्माता है और संस्कृति भी मानवीय होने को बाध्य है। अत: संस्कृति एक प्रकार से कला, चिन्तन और मूल्यों का भंडार होती है। घास-फूस की झोंपड़ी बनाने से लेकर ताजमहल तक जो वास्तुकला विकसित हुई वह संस्कृति की देन है। मूर्तिकला में पाषाण और काष्ठ का जो रूपायन हुआ उसमें लय और आवृत्ति का व्यवस्थाबद्ध मूर्तन जीवन के अनुभवों और चिंतन से पैदा हुआ सत्य ही तो है जो सौंदर्यबोध में प्रकट हुआ। इसी प्रकार मानव ने मिथक, साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि के रूप में जो कलात्मक माध्यम स्वीकार किए, उनमें भी उसने जीवन और प्रकृति के रंगों, भावों और सृजन-कल्पनाओं का प्रयोग कर दिखाया।'

ऊपरी तौर पर संस्कृति अनेकरूपा परिलक्षित हो सकती है। इसीलिए कुछ विद्वान भारतीय संस्कृति के अलग-अलग रूपों की बात करते हैं। उदाहरण के लिए डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने पं. भवानी प्रसाद मिश्र के बारे में कुछ इस प्रकार लिखा है- ''उन्हें भारत के कई महानगरों में रहने का अवसर मिला। इन महानगरों की संस्कृति में भी वैविध्य था। नागपुर और वर्धा में महाराष्ट्रीय संस्कृति, बंबई में गुजराती संस्कृति, हैदराबाद में हिंदू-मुस्लिम संस्कृति, दिल्ली में सामासिक संस्कृति का प्रभाव रहा। किंतु इन विभिन्न संस्कृतियों के बीच रहते हुए भी...।'' वस्तुत: सच्चाई यह है कि देश-काल के प्रभाववश अलग-अलग रूपों में आभासित होकर भी वस्तुत: भारतीय संस्कृति भीतर से एक है।

इसीलिए नरेन्द्र मोहन का कथन है कि 'भारतीय संस्कृति का आधारभूत तत्व है ऋतंभरा प्रज्ञाय अर्थात् वह प्रज्ञा जोकि सत्य

सम्पर्क: सी-1/509, सेक्टर जी, जानकीपुरम, लखनऊ-226021,
फोन- 7905952129, ईमेल-rvsingh10008@gmail.com

में स्थापित हो।... भारतीय संस्कृति... समष्टि में निवास करती है और उसने किसी भी भाव, पदार्थ, विचार अथवा कर्म का परित्याग नहीं किया है। समष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है जोकि इस संस्कृति की परिधि में न आता हो। समस्त पदार्थ, समस्त विचार, समस्त भाव, समस्त आचार, समस्त कर्म, और तो और अकर्म भी, इस संस्कृति के अंक ही हैं; क्योंकि तभी संपूर्णता तथा समग्रता उपलब्ध होगी। इस समग्रता को देख सकने की क्षमता ही अंतर्दृष्टि है। यह संस्कृति अपने रहस्य केवल उसीके समक्ष व्यक्त करती है जो अंतर्दृष्टि से संपन्न होते हैं।... लौकिक स्तर पर यह संस्कृति गूढ़ है और अनेक प्रकार के अंतर्विरोधों से भरी हुई भीय पर आंतरिक दृष्टि से यह समष्टि प्रधान है। ऋतंभरा प्रज्ञा से संपन्न होते ही समस्त विरोध व अंतर्विरोध मिट जाते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि विभिन्न विद्वानों ने संस्कृति को अपने-अपने नजरिए से परिभाषित करने की कोशिश की है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति की अवधारणा बहुत व्यापक है। उसमें वह सब शामिल है जो किसी समुदाय-विशेष के जीवन से संबंध रखता है। किन्तु जब हम किसी देश की संस्कृति की बात करते हैं तो अनिवार्य रूप से वहाँ के लोक-जीवन में स्थापित मूल्य-बोध, नैतिकता, आस्था आदि की बात करते हैं। इस प्रकार आम बोल-चाल और बौद्धिक विमर्श के नजरिए से देखने पर संस्कृति एक सकारात्मक अवधारणा प्रतीत होती है। विशुद्ध समाज-शास्त्रीय दृष्टि से, मूल्य और नैतिकता से निरपेक्ष होकर देखें तो हम कह सकते हैं कि संस्कृति किसी राष्ट्र अथवा समाज विशेष के लोगों के विचारों, आदर्शों, आस्थाओं, विश्वासों, मूल्यों, नैतिकता, जीवन-पद्धतियों, मान्यताओं, विधि और निषेधों की समेकित, एकीकृत अवधारणा है। संस्कृति यदि विचार तत्व है तो सभ्यता उसका स्थूल भौतिक रूप।

संस्कृति की चर्चा होने पर प्रायः हम सकारात्मक और वरेण्य तत्वों, मूल्यों आदि की बात करते हैं। एक प्रकार से संस्कृति के लिए यही अवधारणा रूढ़ हो गयी है। एक अन्य सीमित अर्थ में हम संस्कृति के नियामक तत्वों में विभिन्न प्रकार के शिल्प, वास्तु, ललित कलाओं, नृत्य, नाटय, गायन, वादन आदि के विविध रूपों को भी संस्कृति के घटक के रूप में परिगणित करते हैं। इसीलिए इस प्रकार के कार्यक्रमों एवं आयोजनों को सांस्कृतिक कार्यक्रम की संज्ञा दी जाती है। यह भी संस्कृति का एक हिस्सा है।

संस्कृति समाज अथवा समुदाय-सापेक्ष होती है। यह सापेक्षता ही उसका विभेदक लक्षण है। एक विद्वान ने अपनी चर्चा के दौरान बताया कि उनके गाँव एक नट भीख माँगने आया। हट्टे-कट्टे युवा नट को भीख माँगते देख विद्वान मित्र ने ललकारा- 'अरे, तुम हट्टे-कट्टे जवान आदमी हो। क्यों नहीं कुछ काम-धाम करते। भीख क्यों माँगते हो?' युवा नट ने अखाड़े में कुश्ती के लिए उतरे किसी पहलवान की तरह जाँघों पर ताल ठोककर बड़ी शान से उत्तर दिया- 'आज तक तो माँग कर ही खाते आये हैं और आगे भी माँग कर ही खाएँगे।' इस सत्य प्रकरण से पता चलता है कि समाज के किसी एक घटक में माँग के खाना गर्हित है, (जैसाकि रहीम ने कहा -रहिमन वे नर मर चुके, जो कछु माँगन जायं), वहीं उसी समाज के एक समुदाय के लिए माँग कर खाना ही बहुत शान और मर्दानगी की बात है। मजे की बात यह कि भारत में यह विविधता बड़े व्यापक पैमाने पर दिखाई पड़ती है, किन्तु इस विविधता के कारण भारत के सामाजिक ताने-बाने में कोई बिखराव आया हो, किसी प्रकार का वितंडावाद मचा हो, ऐसा प्रायः देखने में नहीं आता। इसका कारण क्या है? इसका कारण है भारतीय संस्कृति की सामासिकता, उसमें अंतर्निहित सामंजस्य और समन्वय की भावना, हर किसी को उसका उचित स्थान देने और सबका यथोचित सम्मान करने की भावना।

संस्कृति का साँचा क्या है? वह कैसे बनती है? उसे बनाने में किन-किन घटकों का योगदान रहता है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने चलें तो सर्वप्रथम हम यह पाते हैं कि संस्कृति का मूल उपजीव्य हैं मनुष्य, नृ-जाति। मनुष्य न हों तो संस्कृति कैसी? भारत की वैविध्यपूर्ण जनसांख्यिकीय संरचना के बारे में भारत के प्रतिनिधि कवि, दार्शनिक और विचारक कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि- हेथाय आर्य, हेथाय अनार्य, हेथाय द्राविड़, चीन। शक-हूण-दल, पाठान-मुगल एक देहे होलो लीन। यही भारत के लगभग एक सौ तीस करोड़ लोगों की असलियत है। दुनिया के अलग-अलग हिस्सों से अलग-अलग नस्लों के अलग-अलग रूप-रंग और शारीरिक विन्यास वाले, अलग-अलग भाषाएँ बोलने वाले, अलग-अलग जीवन-मूल्यों वाले लोग यहाँ आते गये और भारतीयता को विविध-रूपिणी बनाते गये। इसी के लिए किसी शायर ने कहा था- हम अकेले ही चले थे जानिबे मंजिल मगर, लोग आते गये और कारवाँ जुटता गया।

इतनी सारी विविधताओं को पचाकर आत्मसात करने के लिए जिस समन्वय-भावना की जरूरत थी, वह भारतीय संस्कृति

का मूल गुण रहा है। इसीलिए भारत इतनी विविधता-सम्मपन्न मानव-जातियों को अपने भीतर स्थान देकर, उनमें सौमनस्य कायम रखते हुए, उनके विकास और प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सका। संस्कृति का साँचा होते हैं वे भौतिक कारक जहाँ संस्कृति के मूल धारक, यानी मनुष्य निवास करते हैं। इस दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि भारतीय उप महाद्वीप अनेक भौगोलिक, प्राकृतिक, जलवायविक और जीव-वैज्ञानिक विविधताओं का देश है। इसका उच्चावच बिलकुल विपरीत प्रतीत होनेवाली विशेषताओं से संपन्न है। और इस वैपरीत्य की तलाश में बहुत दूर नहीं जाना पड़ता। उदाहरण के लिए राजस्थान में कुछ इलाका बिलकुल पठारी अथवा बलुआ-रेगिस्तानी है तो माउंट आबू जैसा क्षेत्र भी हैं जो समुद्र-तल से बहुत ऊँचा होने के कारण बहुत शीतल है। भूगोल की यही पारस्परिक विपरीतता केरल, असम, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि राज्यों में देखने को मिलती है। भौगोलिक विविधता ने भारत के इन भू-भागों में भाषा और जीवन-यापन की पद्धतियों में वैभिन्य पैदा किया है, इसमें कोई संदेह नहीं। किन्तु इसके बावजूद इन सभी भू-भागों के लोगों का मन, उनकी जीवन-दृष्टि, उनके मूल्यों में गजब की समरसता और एकरूपता है।

कृषि-प्रधानता अथवा कृषि-निर्भरता भारतीय संस्कृति की मूल पहचान है। यही कारण है कि भारत के जितने भी बड़े सांस्कृतिक केन्द्र, नगर और सभ्यता-क्षेत्र रहे हैं, उन सभी का विकास जहाँ कृषि के लिए अनुकूल परिस्थितियों वाले भू-क्षेत्रों में हुआ। भारतीय जीवन के राग-विराग, उत्सव-पर्व, तीज-त्यौहार और यहाँ तक कि शादी-विवाह का सीधा संबंध कृषि से रहा है। पारंपरिक रूप से मवेशियों पर निर्भर होने के कारण भारत में गाय-बैल को संरक्षण देने और कुछ हद तक पूजने का प्रावधान रहा है। भारत का किसान हल जोतते हुए, फसल बोते हुए, धान रोपते हुए, तैयार फसल काटते हुए गाता है, नाचता है, विविध धार्मिक-सामाजिक आयोजन और मेले-उत्सव करता है। फसल-चक्र से भारत का जन-जीवन बँधा हुआ है। मकर संक्रान्ति, लोहड़ी, होली, बैसाखी, दिवाली, दशहरा, नागपंचमी, ओणम, बिहू आदि सब त्यौहार फसलों से जुड़े हैं। भारतीय विवाहों में हल, ओखली-मूसल, चक्की-जाँत आदि की अनिवार्य उपस्थिति भी हमारी संस्कृति में कृषि की महत्ता को रेखांकित करती है।

हम भारतीयों के लिए जीवन अपने-आप में एक उत्सव है। उसमें षोडश संस्कारों का विधान है, जो गर्भाधान से लेकर दाह-संस्कार तक पूरे मानव-जीवन को समाहित किए हुए हैं। ''भारतीय संस्कृति के विविध उपादानों में संस्कारों का बड़ा महत्त्व है। संस्कार का सामान्य अर्थ परिष्कार किया जाता है। जिन क्रियाओं में यह परिष्कार संपन्न होता है वे संस्कार नाम से अभिहित की जाती हं। भारतीय विचारधारा के अनुसार व्यक्ति जन्म के समय असंस्कारित या सामान्य होता है। उसे क्रिया विशेष या विधि-विधानों से परिष्कृत करने की बात उत्तर वैदिक काल विशेषकर सूत्रकाल से चली आयी है। ...वेदों में इन संस्कारों का उल्लेख नहीं है। आगे चलकर सूत्र काल में इनका विषद् वर्णन मिलता है। तत्कालीन सामाजिक जीवन के ये अनिवार्य अंग हो चले थे। संस्कारों की संख्या के संबंध में मत विभिन्नता पायी जाती है। आश्वलायन गृह्य सूत्र और पारस्कर गृह्य सूत्र में यह संख्या क्रमशः ग्यारह और तेरह है। वैखानस गृह्य सूत्र में अठारह संस्कारों का उल्लेख आता है। गौतम धर्म सूत्र में अड़तालीस संस्कारों की चर्चा है। इसी प्रकार व्यास स्मृति में सोलह संस्कारों का विवरण मिलता है, जो सामान्यतः सर्वमान्य है। इन संस्कारों के नाम हैं- गर्भाधान, पुंसवन, सोमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्त्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास एवं अन्त्येष्टि। प्रारम्भ के तीन संस्कार बालक के जन्म के पूर्व किए जाते हैं। छह संस्कार शैशवावस्था के हैं। तीन संस्कार शिक्षा काल के, तीन संस्कार तीनों आश्रमों के हैं तथा अंतिम संस्कार अंत्येष्टि है जो मरणोपरान्त किया जाता है। अन्य संस्कार मानव के जीवन को परिष्कृत करने के लिए हैं पर अंत्येष्टि संस्कार को सुव्यवस्थित रूप से संपन्न करने से व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है।... आर्यों की मान्यता थी कि जिन परिवारों में ये संस्कार किये जाते हैं, उनमें बालक अधिक सुसंस्कृत होता है। ..संस्कारों की यह परिकल्पना भारतीय संस्कृति की विशेषता है। संस्कारों की यह बात अन्यत्र कहीं नहीं पायी जाती।

संस्कृति की अवधारणा बहुत व्यापक है। वस्तुतः वह बिना अच्छे बुरे का भेद किए, पूर्णरूपेण सर्वसमावेशी है। इसलिए एक आलेख में उसे समाहित कर पाना असंभव है। तथापि संस्कृति की कतिपय विशेषताओं की मीमांसा करना सर्वथा शक्य है। इस आलेख में हम भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों पर प्रकाश डाल रहे हैं, जो इसका विभेदक लक्षण है।

हर्ष हो अथवा विषाद, इन सभी संस्कारों में गहरी सांस्कृतिक संसक्ति निरन्तर बनी रहती है। ओशो ने तो कहा ही था- लाइफ इज ए सेलिब्रेशन। हम शरीर को निमित्त मात्र मानते हैं। मूल

तत्व है, उसके भीतर अवस्थित आत्मा, जो अजर, अमर है। वह एक कलेवर से निकलकर दूसरे कलेवर में प्रवेश करता है, अथवा मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्म में लीन हो जाता है। इसलिए जीवन-मरण, हानि-लाभ, यश-अपयश से सर्वथा निर्विकार रहता है वह। उसका यह मृत्यु-लोक-भ्रमण एक प्रकार की पिकनिक है, उत्सव है। मृत्यु को इतने सहज रूप में स्वीकारने वाली संस्कृति शायद ही दुनिया में कोई और हो।

जीवन की अनित्यता और मृत्यु-बोध ने भारतीय संस्कृति को अनेक विशेषताओं से संवलित किया है, जिनका संक्षेप में वर्णन कर लेना यहाँ समीचीन रहेगा।

इन विशेषताओं में सबसे बड़ी है- सब जीवों को अपने समतुल्य मानते हुए, उनके प्रति प्रेम, करुणा और सदाशयता का व्यवहार। भारतीय मनीषा ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' का उद्‌घोष किया। पूरी दुनिया को एक परिवार मानने की अवधारणा यहाँ पुरा-काल से रही है। यही कारण था कि स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका की धर्म-सभा में उपस्थित स्त्री-पुरुषों को 'भाइयो और बहनों' कहकर संबोधित किया। दुनिया के मनुष्यों ही नहीं, पशुओं और अन्यान्य चराचर जीव-जन्तुओं और वस्तुतः प्रकृति मात्र के लिए भी हमारा यही बन्धुत्व भाव रहा है। इस बन्धुत्व भाव ने हमें पशुओं से प्रेम करना सिखाया, उनके विविध रूपों में हमने अपने देवी-देवताओं के अवतरित होने की कल्पना की। पेड़-पौधों और प्रकृति के विविध उपादानों यथा अग्नि, वायु, जल आदि को या तो हमने साक्षात् देव-स्वरूप माना अथवा उनमें देवी-देवताओं के वास की परिकल्पना की और उनकी पूजा-अभ्यर्थना का विधान किया। यही नहीं, पूजा-अर्चना में विविध प्रकार के पुष्पों, फलों, नैवेद्यों आदि के समावेश के पीछे भी यही भाव था कि सभी वनस्पतियों, पेड़ों आदि की उपयोगिता हमारे जीवन के विविध कार्यों में बनी रहे और उन पर निर्भरता के कारण उनके संरक्षण की भावना मानव-मात्र में विद्यमान रहे।

वर्तमान जीवन की अनित्यता और आत्मा के विविध रूपों में संचरण एवं सत्कार्यों से प्राप्य मोक्ष की अवधारणा ने हमें सदाचार, अपरिग्रहण, भगवद्‌भजन आदि के साथ-साथ सतुलित जीवन जीने के लिए प्रेरित किया। इसका प्रतिफल हमें भारतीय जीवन में आश्रम-पद्धति में दिखाई देता है। 'जीवेत् शरदः शतम' के आकांक्षी भारतीयों के लिए आदर्श जीवनावधि है सौ वर्ष। इसमें से पहले पच्चीस वर्ष गुरु-सेवा करते हुए विद्याध्ययन में लगाने हैं। उसके बाद के पच्चीस वर्ष गृहस्थ जीवन में बिताने हैं, कृषि एवं अन्य आर्थिक कार्य संपन्न करने हैं, संतति उत्पन्न करके पितृ-ऋण से उऋण होना है और शेष तीनों आश्रमों में निरत मनुष्यों के लिए धन-धान्य उपलब्ध कराना है। पचास वर्ष की वय के उपरान्त अपने अनुभव, ऊर्जा और संसाधनों का उपयोग करते हुए समाज की सेवा करनी है, वानप्रस्थी का जीवन बिताना है। पचहत्तर की वय प्राप्ति के उपरान्त सब कुछ छोड़कर संन्यासी का जीवन बिताना है। आत्मोन्नति हेतु ब्रह्म तत्व, आत्मा-परमात्मा का चिन्तन, मनन, भजन-कीर्तन, सत्संग आदि करते हुए सद्‌गति प्राप्त करनी है।

चार आश्रमों में विभाजित हमारा जीवन लोक-परलोक, राग-विराग, भोग और समाधि को कैसे परिभाषित और परिसीमित करता है, यह अपने-आप में बहुत ही विलक्षण है। जब जिस काम का समय हो, उसमें पूरी तरह रम जाइए। छात्र हैं तो आप चाहे राजपुत्र ही क्यों न हों, आपको गृह-त्यागी बनना है, गुरु के आश्रम में जाकर बिलकुल सामान्य जीवन जीते हुए विद्याध्ययन करना है। गृहस्थ हों तो पत्नी के साथ रमण करते हुए संतान उत्पन्न करनी है, इतना अन्न उपजाना है कि उससे आपके साथ-साथ शेष तीनों आश्रमों में जी रहे लोगों का भी गुजारा हो सके। और पचास की वय के बाद समाज की सेवा करनी है। सब कुछ समाज के हितार्थ अर्पित कर देना है। जीवन के अंतिम चरण में अपने मूल स्वरूप का ध्यान करते हुए वापस लौटने की तैयारी करनी है।

इस जीवन-दर्शन को सदैव अपने ध्यान में धारित किए रहने के कारण भारतीय मनुष्यों के जीवन में निरन्तर गहरा संतुलन दिखलाई पड़ता है। उन्हें बार-बार अपने मूल स्वरूप का स्मरण कराया जाता है। मूल तत्व का स्मरण करानेवाला है गुरु। वह निरन्तर अपने शिष्य को सही और सर्वथा वरेण्य पथ पर चलने की प्रेरणा देता रहता है। जब छात्र जीवन से निकलकर युवक अपनी गृहस्थी बसाने अग्रसर होता है, तब यानी विवाह के दौरान सप्तपदी के समय, पाणिग्रहण करते हुए वह वचन देता है- धर्मे च, अर्थे च, कामे च नातिचरामि। जीवन के चार पुरुषार्थों में से तीन ही मनुष्य के वशवर्ती और उसके लिए शक्य हैं। ये हैं- धर्म, अर्थ और काम। हमारी मनीषा कहती है कि इनमे सम्यक् पुरुषार्थ करो, किन्तु अतिचार मत करो। और इन सबका परम प्राप्य है- मोक्ष। सब कुछ अपने पुरुषार्थ से अर्जित करो, किन्तु अन्ततः उसे छोड़ दो, समष्टि के लिए व्यष्टि का समर्पण कर दो।

भारत के अनेक राज-पुरुषों के जीवन से उद्धरण देकर इस मत की पुष्टि की जा सकती है। महाराज दशरथ- महान प्रतापी राजा, किन्तु बहुत बड़े योगी। लौकिक इतिहास में हर्षवर्धन, सम्राट अशोक आदि के दृष्टान्त इसी ओर इशारा करते हैं। राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी का पूरा जीवन इसका उदाहरण है, जिन्होंने सब कुछ सुलभ होने के बावजूद सादगी से जीवन-यापन किया। हमारे यहाँ कमलवत रहने की परम्परा है। निर्लिप्त भाव से जीवन जीने का सबसे ज्वलंत उदाहरण है कमल। भौतिक संसार के इस कीचड़-कर्दम में कमल की तरह रहो। स्वयं को विस्मृत करके उसमें रमो मत। बस अपने काम लायक पोषण प्राप्त करके, उससे निस्पृह बने रहो। सुख-सुविधाओं के पीछे भागने वालों को हमारी संस्कृति में कभी बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया। समाज के उत्थान के लिए, दुखियों को दुःख और त्रास से त्राण दिलाने के लिए उनका दुःख अपने सिर ले लेनेवालों को हमारी संस्कृति में हमेशा ऊँचा स्थान मिला है। इसीलिए विषपायी शिव की इतनी महत्ता है। मानव कल्याण के लिए अपनी अस्थियाँ दान कर देने वाले ऋषि दधीचि का इसीलिए इतना ऊँचा स्थान है।

दूसरों के लिए सब कुछ अर्पित करने के बाद भी मन में अभिमान नहीं लाना, विनयशीलता बनाए रखना, हमारी संस्कृति का बहुत बड़ा गुण माना गया है। नरसी मेहता का प्रसिद्ध भजन है- वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जाने रे। दूसरे के दुख को समझनेवाला, उससे द्रवित हो जानेवाला ही सच्चा वैष्णव है। 'पर दुक्खे उपकार करे, तोए मन अभिमान न आने रे'- यह पंक्ति भी उसी भजन का हिस्सा है। दूसरे का भला करो, पर अपने मन में यह भाव न लाओ कि मैंने भला किया। बल्कि पहले की अपेक्षा और विनयशील हो जाओ।

इसी भजन में कहा गया है कि सकल लोक माँ सहुणे बंदे, निन्दा न करे केणी रे। बाच-काज मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेणी रे। किसी की निन्दा न करो, चुगली न करो, मनसा-वाचा-कर्मणा सन्मार्ग पर निश्चल रहो। और 'पर धन नव झाले हाथ रे' दूसरे के धन यानी स्त्री और संपत्ति पर हाथ न डालो। संस्कृत में इसी को कहा -पर द्रव्येषु लोष्ठवत, पर दारेषु मातृवत। पराये धन को पत्थर और परायी स्त्री को माता मानो। गुरु-पत्नी यदि युवा हो तो उसे स्पर्श किए बिना दूर से, भूमि को छूकर प्रणाम करो। इस प्रकार के सैकड़ों आदर्शों का आख्यान हमारी संस्कृति में हुआ है।

स्त्री जाति के लिए सम्मान की भावना भी भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रही है। सिंधु घाटी की सभ्यता से प्राप्त अवशेषों में हमें स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें विद्वानों ने मातृ-देवी निरूपित किया है। स्त्री का सबसे गौरवशाली रूप है मातृ-रूप। संतति जनने की क्षमता स्त्री को मानव-जाति को आगे बढ़ाने की सामर्थ्य देती है। वह अपनी कोख में शिशु को न धारण करे तो मानव जाति का अस्तित्व समाप्त हो जाए। इस तथ्य को भारतीय संस्कृति ने अनादि काल से ही समझा और अनेक रूपों में, प्रायः माता कहकर स्त्री जाति की अभ्यर्थना की। हमारे धार्मिक-पौराणिक आख्यानों एवं पूजा-पद्धतियों में अनेक-रूपा मातृ-देवियों की परिकल्पना है, चाहे वे काली माता हों, दुर्गा माता, सरस्वती माता, लक्ष्मी माता, संतोषी माता, वैष्णो माता अथवा अनेक अन्य माताएँ। देवी का माता कहलाना अनिवार्य है। हिन्दुओं ही नहीं, मुसलमानों और अन्य संप्रदायों में भी मातृ-रूप का अप्रतिम सम्मान यहाँ दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार कन्या रूप में, बहन रूप में और यहाँ तक कि पत्नी के रूप में स्त्री का विशेष महत्त्व हमारी संस्कृति में निरूपित है। जब भगवान शिव अर्ध-नारीश्वर के अवतार में आते हैं और जब पत्नी को पुरुष की अर्धांगिनी कहा जाता है तो आशय यही रहता है कि उसके बिना पुरुष का कोई अस्तित्व नहीं। नारी बिना पुरुष का निस्तार नहीं। विवाहित पुरुष यदि पत्नी के साथ पूजा में बैठे तभी पूजा की सार्थकता है। यह विधान भारतीय जीवन में पत्नी के महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

वैदिक काल में पति-पत्नी को एक ही रथ के दो पहिए, एक रथ में जुते दो बैल आदि की संज्ञा दी गयी। इसका आशय यही है कि जीवन-पथ में पति-पत्नी दोनों का समान महत्त्व है। विवाह के समय प्रायः स्त्री के विभिन्न रूपों की चर्चा की जाती है, और उसे बोध दिया जाता है कि उसे पत्नी के तौर पर अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना है। पत्नी की भूमिका में वह 'रूपेषु लक्ष्मी, शयनेषु रम्भा, भोज्येषु माता, सलहेषु मंत्री, करणेषु दासी और क्षमया धरित्री' होती है। मनु ने व्यवस्था दी- यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः। पूजा से आशय कर्म-काण्डीय लोकाचार से नहीं, बल्कि उचित सम्मान से है। खासकर हिन्दू जीवन में स्त्री का बड़ा ही महत्त्व है। परिवार के पर्व-उत्सव में, बड़े निर्णयों में मुखिया स्त्री की भूमिका बहुत ही अहम् होती है। दिवाली, दशहरा, रक्षाबंधन आदि हमारे अधिकतर त्यौहार देवी-पूजा अथवा नारी जाति से जुड़ते हैं। भारतीय लोक-जीवन

में नारी के किसी न किसी रूप की निरन्तर उपस्थिति नारियों के प्रति हमारी सांस्कृतिक संवेदनशीलता, उन पर निर्भरता और संसक्ति की परिचायक है।

पति-पत्नी के संबंधों में जैसी रागात्मक प्रगाढ़ता, समर्पणशीलता और माधुर्य-भावना भारतीय उप महाद्वीप में मिलती है, उसका पूरी दुनिया में कोई सानी नहीं। भारतीय संस्कृति में दाम्पत्य-बंधन को जीवन-पर्यन्त ही नहीं, बल्कि अनेक जन्मों का बंधन माना जाता है। इस बन्धन को निरन्तर मजबूत करने के अनेक उपक्रम किए जाते हैं। महिलाएं अपने पति की दीर्घायु एवं स्वास्थ्य के लिए अनेक व्रत रखती हैं। भारतीय जीवन-पद्धति में पार्थक्य की अवधारणा चाहे हो, 'तलाक' की तो कोई परिकल्पना ही नहीं है। यहाँ पत्नी सामान्य स्त्री नहीं है, वह 'धर्म-पत्नी' है, धर्म-विहित पत्नी, धर्म के नाते पत्नी, सहधर्मिणी। उसके बिना पुरुष का निस्तार नहीं। स्त्री की ऐसी अवधारणा दुनिया के किसी धर्म-संप्रदाय में नहीं मिलती। पति-पत्नी के पारस्परिक अनुराग और समर्पण-भाव, एक-निष्ठता आदि की चरम परिणति है, पातिव्रत धर्म अथवा एक-पत्नीव्रत धर्म। संभवतः भारत दुनिया का अकेला ऐसा देश होगा जहाँ तमाम आधुनिकता, तमाम भौतिक प्रगति, ऐन्द्रिकता और आकर्षण के बावजूद अब भी एक पत्नी और एक पति के प्रति पूर्णतया समर्पित होकर जीवन बिता देना आदर्श माना जाता हो। इसके शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक और स्वास्थ्य संबंधी जो भी आनुषंगिक लाभ होते हों, मुख्य लाभ यह होता है कि परिवार का ताना-बाना नहीं बिखरता और जीवन में सर्वभावेन संतोष व खुशहाली की स्थिति बनी रहती है। संयुक्त परिवार, सतीत्व, बड़ों के प्रति सम्मान, वात्सल्य आदि की अनूठी संकल्पना भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है।

उपर्युक्त गुणों के कारण भारत-वंशियों में नैतिक अनुशासन की भावना भी विकसित होती है। बचपन में कहावत सुनी थी- इफ मनी इज लॉस्ट, नथिंग इस लॉस्ट; इफ हेल्थ इज लॉस्ट, समथिंग इज लॉस्ट; बट इफ कैरेक्टर इस लॉस्ट, एवरीथिंग इज लॉस्ट। अपने चरित्र-बल पर आज भारत-वंशी पूरी दुनिया में छा गये हैं। ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, अमेरिका, इंग्लैंड आदि अग्रणी देशों के साथ-साथ दुनिया के अन्य बहुत-से देशों में भारतीय मूल के लोगों का जीवन के हर क्षेत्र में आगे निकल जाना, वहाँ के मूल निवासियों की अपेक्षा अधिक संपन्न हो जाना क्यों संभव हुआ? इस संपन्नता के दो ही मुख्य कारण हैं- अपने काम के प्रति निष्ठा और नैतिक-चारित्रिक अनुशासन। भारत का आदमी जी-तोड़ मेहनत करता है, जिसकी शिक्षा उसे अपने धार्मिक ग्रंथों से मिली। कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन का मूल-मंत्र उसकी साँसों में बसता है। हमें बचपन से सिखाया जाता है- सकल पदारथ या जग माहीं, कर्महीन नर पावत नाहीं। इन संस्कारों से संस्कारित यह आदमी जहाँ जाता है मन लगाकर काम करता है। उसे पता है कि काम करूँगा, तो भगवान फल देंगे। कर भला- तो हो भला। दूसरा मूल मंत्र है- नैतिक अनुशासन। गलत काम मत करो। सही रास्ते चलो। जितना कमाते हो, उसमें से कुछ बचाओ, कुछ खाओ। सब खा-पीकर उड़ाओ मत। भोग-विलास में डूबो मत। यह बोध भारत के मूल निवासियों में निरन्तर बना रहता है, जिसके चलते वे भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक रूप से भी कभी खोखले नहीं हो पाते।

दयालुता, करुणा, प्रेम आदि हमारे शाश्वत मानव-मूल्य रहे हैं। किसी को कष्ट में देखकर हमारा मन भीग उठता है। इसीलिए हम किसी पर आक्रमण करने की सोचते भी नहीं। विश्व का इतिहास गवाह है कि भारत के शासकों ने अपने राज्य के विस्तार की आकांक्षा से कभी किसी बाहरी शासक पर आक्रमण नहीं किया। बाहरी देशों के तमाम आक्रमण भारत के राजाओं पर हुए। ई.पू. 326 में सिकंदर से लेकर आधुनिक काल में अंग्रेजों और विगत कुछ दशकों में चीन-पाकिस्तान के आक्रमणों तक यह सिलसिला लगातार चलता रहा है। किन्तु भारत का कोई शासक कभी अपनी सीमाओं से इस इरादे से बाहर नहीं निकला कि उसे वहाँ का राजपाट छीनकर खुद को अधिपति के रूप में स्थापित करना है। आक्रामकता हमारे संस्कार में ही नहीं है। हमने तो दुनिया को प्रेम और करुणा का संदेश बाँटा है। महान चक्रवर्ती सम्राट अशोक ने सक्षम होकर भी कभी चीन आदि पड़ोसी देशों पर आक्रमण नहीं किया। अलबत्ता करुणा और जीव-मात्र को प्रेम करना सिखानेवाले बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए असने अपनी बेटी-दामाद संघमित्रा और महेन्द्र आदि को लंका, चीन आदि की यात्राओं पर भेजा।

सहिष्णुता और क्षमा-भावना भी भारतीय जनमानस एवं भारतीय संस्कृति में रची-बसी है। जो जैसा है, भग्वद्स्वरूप है। ईश्वर ने सबको अपने अंश से बनाया है। सत्य, चित् और आनन्द- इन

तीन तत्वों के विभिन्न प्रकार के संयोजनों से इस पूरी दुनिया का समस्त चर-अचर, जड़-जंगम स्वरूप निर्मित है। इसलिए सबमें उस परम तत्व के दर्शन कीजिए, उसकी सत्ता की उपस्थिति का भाव रखिए। किसी के प्रति वैमनस्य का भाव मत रखिए। हर जीव, हर मनुष्य अनोखा है, अद्भुत है। उसका भी इस दुनिया में बराबरी का हक है। आपका यहाँ इस स्थिति में होना ईश्वरीय इच्छा के अधीन है। इसलिए यदि दुनियावी मायनों में आप बहुत प्रभुतवशाली हैं तो भी इतराने की जरूरत नहीं, और दैवयोग से यदि बहुत गर्हित अवस्था में हैं तो भी घबराने और विचलित होने की आवश्यकता नहीं। यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। आप इस चिरंतन यात्रा में एक काल-बिन्दु पर अवस्थित हैं। ईश्वर ने चाहा है, इसलिए आप की यह स्थिति है। आपने पहले कभी, किसी पूर्व-जन्म में कुछ ऐसा किया था, जिसका अच्छा अथवा बुरा फल आपको आज मिल रहा है। यदि आप चाहते हैं कि आपके साथ इस जीवन में अथवा इसके परवर्ती जीवन में कुछ अच्छा घटित हो तो अच्छा काम कीजिए।

भारतीय संस्कृति की अंतश्चेतना अनेक परस्पर अनुस्यूत तत्वों से निर्मित है। उसके प्रकटन, प्रस्फुटन और प्रस्तुतीकरण की पद्धतियां अनेकरूपा हैं। अनेक कथाओं, आख्यानों, मिथकों, शिल्प-विधानों, नृत्य-शैलियों, कला-रूपों आदि के माध्यम से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में हम इस संस्कृति के दर्शन करते हैं। मसलन रामायण की कथा असत्य पर सत्य, अनीति पर नीति, आसुरी प्रवृत्तियों पर दैवी प्रवृत्तियों की विजय, पारिवारिक सामंजस्य, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-भाई, मित्रादि के आदर्श प्रेम की गाथा है। महाभारत में उपर्युक्त प्रवृत्तियों के साथ-साथ कर्मवाद, आवश्यकता पड़ने पर स्वत्व के लिए संघर्ष, विषम परिस्थितियों में भी अपना साहस और धैर्य धारण करते हुए समयानुरूप आचरण करने का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

धर्म और आध्यात्म, नीति और सन्मार्ग, सदाचार और सत्य, परमार्थ और प्रेम, शान्ति और त्याग, पर दु:ख-कातरता, अहिंसा, सर्व-धर्म-समभाव, सहिष्णुता, आतिथ्य-भाव आदि गुणों के ताने-बाने से भारतीय संस्कृति का सुन्दर वितान बुना गया है। सहस्रों वर्ष की संचित निधि और मूल्यों से संवलित भारतीय संस्कृति में अच्छे-बुरे अनेक क्षेपक जुड़े हैं। किन्तु उन क्षेपकों पर इसने अपना पक्का गाढ़ा रंग चढ़ाकर उन्हें अपने अनुरूप बना लिया है। यही भारतीय संस्कृति की महानता है। गंगा नदी का माहात्म्य बखानते हुए भक्त कवि सूरदास जी ने कहा था- इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरो। जब मिल गए तब एक-वरन द्ववै, सुरसरि नाम परौ। भारतीय संस्कृति माँ गंगा-स्वरूपिणी है। वह सबका कल्याण करनेवाली और सर्वसमावेशिनी है। उससे जो भी आकर जुड़ता है, उसी जैसा, बल्कि वही हो जाता है। यही भारतीय संस्कृति की महत्ता है। तथापि, इस संस्कृति से जुड़े प्रबुद्ध जनों का यह दायित्व बनता है कि इसे सुदृढ़ बनाने के साथ-साथ, इसके प्रचार-प्रसार के लिए निरन्तर सचेष्ट रहें।

एक बड़ा प्रश्न यह उठता है कि इस महान संस्कृति को हम प्राथमिक स्रोतों से जानें अथवा द्वितीयक स्रोतों से? द्वितीयक स्रोत प्राय: विरूपित जानकारी देते हैं। यह निर्भ्रन्त सत्य है कि भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा हिस्सा इसके आर्ष ग्रंथों और संस्कृत साहित्य में संगृहीत है। अफसोस की बात है कि आज संस्कृत भाषा के बोलने-समझने वालों की संख्या बहुत कम रह गयी है। देश में लगभग छह लाख सस्कृत शिक्षक होने के बावजूद इसे मातृभाषा मानने वाले बहुत कम लोग बचे हैं। संस्कृत को बचाने, उसके ग्रंथों के वाचन और अवगाहन के साथ-साथ कतिपय प्रयोजनों हेतु संस्कृत भाषा के व्यवहार के लिए जन-सामान्य को प्रेरित करने के उद्देश्य से हमारे संस्कृति मंत्रालय और शिक्षा विभाग को देश-व्यापी मुहिम छेड़नी चाहिए। संस्कृत और भारतीय संस्कृति का चोली-दामन का साथ है। संस्कृत को बचाकर हम अपनी संस्कृति के बहुत बड़े हिस्से की सुरक्षा कर पाएँगे, इसमें कोई संदेह नहीं। संस्कृत साहित्य में संचित भारतीय संस्कृति के विपुल भण्डार और उसकी सुन्दरता का परिचय मिलने पर हमारे देश-वासी अपनी गौरवशाली सांस्कृतिक विरासत से अवगत होंगे, उसके परिरक्षण के लिए सहज ही प्रेरित होंगे, इसमें भी कोई संदेह नहीं।

हम चाहे जितनी तरक्की कर लें, चाहे जितनी मशीनें बना लें, चाहे जितनी बड़ी आर्थिक शक्ति बन जाएं, किन्तु अपनी संस्कृति से विच्छिन्न होने पर हमारी पशु जैसी हो जाएगी। मनुष्यता का उत्स है मूल्यों में अवस्थित संस्कृति और उसे अपने जीवन में उतारना हर भारतीय का परम उद्देश्य होना चाहिए।

✦✦✦

संस्कृति, साहित्य और वर्तमान परिवेश

—डॉ. मिथिलेश दीक्षित

हमारे भारत की वास्तविक पहचान हमारी संस्कृति से है। हमारी राष्ट्रीय जीवनधारा निरन्तर प्रवाहमान् है। अनेक नामों से, अनेक विचारधाराएँ हो सकती हैं, परन्तु हमारे देश की एक संस्कृति है, जो चिरन्तन जीवनशैली में अभिव्यक्त होती है। हमारे प्राचीन साहित्य का पूरा विश्व ऋणी है। विश्व में अपसंस्कृति का पूरा दौर क्यों न आ जाये, उसकी गरिमा कम न होगी और उसकी उपादेयता बढ़ती चली जायेगी, क्योंकि उसमें जीवन के चिरन्तन मूल्यों का समावेश है। इस सनातन वाङ्मय के कारण ही हमारी सनातन संस्कृति है और हमारे देश की अखंडता को अक्षुण्ण बनाये रखने वाला हमारा सनातन धर्म है, जिसमें किसी धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग से विरोध नहीं है। विद्वानों ने भारतीय संस्कृति की अनेक रूप में प्रशंसा की है, "यहाँ की संस्कृति किसी के मस्तिष्क की उपज नहीं, किसी किताब की देन नहीं, वह तो धरती की चेतना है, जिसे उसके पुत्रों ने कठोर संघातों के परिणामस्वरूप अपने जीवन में पाया है और वह अन्तश्चेतना बन प्रत्येक घटक से धड़कती है। यह धरती है, जो व्यक्ति के व्यवहार में बोलती है, समाज के प्रभाव में प्रकट होती है, राष्ट्र के जीवन में व्यक्त होती है।" मानव जीवन के लिए जो भी श्रेयस्कर है, वही संस्कृति है। भारत की संस्कृति आचरण की संस्कृति है, बनावट या दिखावे की नहीं। इसका सम्बन्ध मानव के आध्यात्मिक संस्कारों और नैतिक मूल्यों से है। यह सिखाने की नहीं, अनुभूति की और तादात्म्य भाव की संस्कृति है। हमारी सनातन संस्कृति की आचार-संहिता विस्तृत दृष्टिकोण और ऊँचे लक्ष्य को लेकर बनी है, जो किसी स्थानविशेष या जातिविशेष के लिए नहीं, मानव मात्र के लिए और मानवता के लिए है। अध्ययन एवं समझ की कमी से उस विस्तार और गहराई तक अधिकांश लोग पहुँच नहीं पाते हैं और रूढ़िबद्ध होकर, संकुचित दृष्टि से शाब्दिक व्याख्या करने लगते हैं। जाति-विभाजन की विस्तृत मीमांसा का अनेक बार अत्यन्त संकुचित अर्थ निकाला गया और समाज में ऊँच-नीच की भावना फैलाकर मानवता को खंडित करने का प्रयास किया

सम्पर्क: जी.—91, सी, संजयगांधीपुरम्, लखनऊ—226016 (उ. प्र.)
मो. : 9412549904

गया। हमारी प्राचीन परम्परा में गुण, क्षमता, कर्म के लिए एकता, सेवा, सहानुभूति की सत्ता मानते हुए जाति-विभाजन दिशा दी गयी थी, जिसका अनुचित रूप से अनुपालन किया गया। इसमें संस्कृति की कमी नहीं, समझ की कमी थी।

भारतीय संस्कृति एक दृष्टि भी है और दिशा भी तथा दिशा-बोध भी। भारतीय विद्वानों ने संस्कृति को भारतीय चिन्तनधारा के अनुकूल ही परिभाषित किया है। डॉ. ब्रह्मदत्त अवस्थी का मानना है, 'किसी भी राष्ट्र के लिए संस्कृति' की वही महत्ता है, जो शरीर के लिए 'आत्मा' की है। संस्कृति राष्ट्ररूपी शरीर में आत्मा है। जिस प्रकार 'आत्मा' शब्द से मानव-हृदय की अदृश्य शक्तियों और उदात्त गुणों का बोध होता है, उसी प्रकार संस्कृति शब्द से मानव-जाति के परम्परागत अन्तर्निहित संस्कारों का बोध होता है। संस्कृति मानवमन की आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। संस्कृति वह गुण है, जो हममें व्याप्त है। संस्कृति जीवन की एक शैली है और वह शैली, जो शताब्दियों से संचित और परिष्कृत होती हुई, हमारे अन्दर समायी रहती है। हम जन्म लेते हैं, तो उस शैली को अपने साथ लाते हैं। जाते हैं, तो उस शैली को साथ ले जाते हैं। पुनः जन्म लेने पर शैली साथ लगी रहती है। बस, परिवर्धन और संशोधन चलता है, जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभव गहराई से पैठे हुए हैं। वह तो आत्मा का वैशिष्ट्य बनकर आयी है। यह तो वह अन्तश्चेतना है, जो समाज के प्रत्येक घटक में समान रूप से विद्यमान है और समाज के घटकों के प्रत्येक कर्म, प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक सम्बन्ध और प्रत्येक सोच में व्याप्त होती है।

संस्कृति किसी एक व्यक्ति, जाति, समाज या देश की नहीं होती। यह विश्व-मानव को एक सूत्र में बाँधने का कार्य करती है। भारत की संस्कृति केवल भारत के लिए नहीं है। यह सम्पूर्ण विश्व एवं सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण से सम्बन्धित है। इसमें जीवन के सभी शाश्वत मूल्य समाहित हैं। यह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। उसमें 'वसुधैव कुटुंबकम्' का बोध है। इसमें सबके आनंन्द, सबकी शान्ति की कामना निहित है। इसमें समस्त द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं अखिल सृष्टि के समस्त जड़-चेतन के मंगल एवं उनके लिए शान्ति की कामना है। मानवत्व को देवत्व तक पहुँचाने वाली संस्कृति ही है। जो कुछ श्रेयस्कर और श्रेष्ठ है, वही संस्कृति है। संस्कृति यदि परिवर्तनशीला और परिवर्द्धनशीला है, तो नैरन्तर्य में जो परिवर्तन होता है, उसकी वह मूलधारा अपरिवर्तनशील है। एकात्मबोध, जड़-चेतन-सभी में ईश्वरत्वबोध, विश्वबन्धुत्व एवं आचरण की श्रेष्ठता संस्कृति के उद्देश्य हैं। भारतीय संस्कृति का मूल चिन्तन रहा है-'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।' संस्कृत में 'सर्व' की प्रधानता है। सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाने की प्रवृत्ति है। 'स्व' से 'पर' के महत्व का प्रतिपादन है।

'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकर जी ने संस्कृति का स्वरूप बताया है, "संस्कृति जीवन का एक तरीका है और वह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज है। वह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त है, जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगन्ध। यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। सृष्टि की उदात्त-परिष्कृत भावनाओं, परिकल्पनाओं और समग्र मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति ही संस्कृति है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताएँ हैं-उसकी समन्वय शक्ति, उसकी विविधता में एकता, उसका सर्वधर्म समभाव, उसकी विश्वमैत्री की भावना, उसकी विनम्रता, उसकी संयमशीलता और सारी वसुधा को एक कुटुम्ब समझने की उसकी क्षमता। इन्हीं गुणों के कारण भारतीय संस्कृति को अमरत्व का वरदान मिला। श्रेष्ठ साहित्य वही होता है, जिसमें संस्कृति की सुन्दर सुगन्ध होती है। लोक या समाज की निरन्तर चली आ रही सांस्कृतिक चेतना को वहाँ का साहित्य अभिव्यक्ति देता है। जिस समाज या जिस देश की जैसी सांस्कृतिक स्थिति होती है, वहाँ का साहित्य भी उसी प्रकार का होता है।"

हमारे देश की संस्कृति में समन्वय की प्रकृति है, अतः हमारे देश का साहित्य भी विभिन्न स्थितियों, विषयों एवं भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता रहा है। हमारा देश विभिन्न भाषाओं, जातियों एवं संस्कृतियों का देश है, परन्तु हमारे साहित्य की मूलधारा एक है। सभी प्रादेशिक भाषाओं

के साहित्य में राष्ट्रीय गौरव की झलक है, समन्वयात्मक प्रवृत्ति है और मूल्यों की चर्चा है, नैतिक नियमों का आग्रह है, प्रकृति के प्रति तादात्म्य का भाव एंव श्रद्धा का भाव है, नारी का सम्मान है, बाल्यावस्था में सदाचरण के संस्कारों की शिक्षा है, वृद्धावस्था से दिशा-निर्देशन की अपेक्षा है। जब-जब हमारे देश में राजनीतिक या साम्प्रदायिक विसंगतियाँ उत्पन्न हुई, साहित्य ने जागरण और समन्वय तथा एकता-भाईचारे का सन्देश दिया।

संस्कृति और साहित्य अन्योन्याश्रित हैं। एक से दूसरे की स्थिति की पहचान होती है। हमने माना है कि हमारे राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता के लिए तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं—राष्ट्रध्वज का सम्मान, राष्ट्रगान का महत्व तथा राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण अस्तित्व। हालाँकि अब राष्ट्रध्वज के प्रति सम्मान का उतना भाव नहीं रह गया। राष्ट्रगान सभाओं-समारोहों की समाप्ति पर सुन-सुना लिया जाता है और राष्ट्रभाषा का प्रश्न संविधान लागू होने के इतने दशकों के बाद आज भी अनुत्तरित है। फिर भी इन तीनों का महत्व बदल जाने से मानसिकता में बदलाव अवश्य आया है, परन्तु सम्मान का भाव समाप्त नहीं हुआ है और न आगे हो सकता है।

अपने देश के वैदिक साहित्य से विश्व परिचित है। यहीं से हमारी संस्कृति विभिन्न धाराओं में बहती हुई विकास को प्राप्त हुई है। मानवत्व को देवत्व तक पहुँचाने का मूलमंत्र बताने वाले हमारे प्राचीन साहित्य और हमारी प्राचीन संस्कृति का आज भी महत्व है। धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति, अध्यात्म, विज्ञान आदि की दृष्टि से उसका अध्ययन देश में और अनेक देशों में भी हो रहा है। हमारे यहाँ आज भी ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो अपनी माटी से जुड़े रहकर ज्ञानार्जन और लोककल्याण के श्रेष्ठ उपादानों और साधनों की खोज में लगे हुए हैं। यह अवश्य है कि अब साहित्य को हमें नवीन और प्रासंगिक दृष्टि से भी देखना होगा। साहित्य में आलोचना को बहुत समय तक सर्जनात्मक विधा नहीं माना गया। आज भी अनेक विद्वान इसको सर्जनात्मक विधा नहीं मान रहे हैं। मेरी दृष्टि में, आलोचना भी काव्य, नाटक आदि की भाँति सर्जनात्मक गद्यरूप है। रमेश दुबे के कथन से सहमत हुआ जा सकता है। उन्होंने लिखा, "आलोचना सृजन का निकष है। आलोचना रचना का अवलोकन न होकर, रचना में अवगाहन है। आलोचना आकलन ही नहीं करती, बल्कि सृजन के स्तर और गुणवत्ता के प्रति सर्जक को प्रेरित भी करती है। आलोचना रूपवादी, भाववादी, यथार्थवादी या कलावादी आदि के पहचानपत्रों के आधार पर नहीं की जाती। वह तो सर्जक के सृजन की काया और माया में प्रवेश है। वह रचना में किसी शब्दलोक का ही अन्वेषण नहीं करती, बल्कि वह तो अर्थ के आलोक को प्रकट करती है।" आलोचक को भी रचनाकार के भावबोध के उस स्तर तक पहुँचना पड़ता है, जहाँ से उसकी रचना सृजित हुई है। बिना चिन्तक के चिन्तन को समझे, आलोचना सम्भव नहीं। साहित्य के अन्य फलक भी अब बदलते जा रहे हैं। बड़े-बड़े नाटकों, उपन्यासों, महाकाव्यों का लेखन और अध्ययन कम होता जा रहा है। जीवन की व्यस्तता ने लघु-लघु रचनाओं को अब महत्व देना आरम्भ कर दिया है। अब इंटरनेट के माध्यम से घर बैठे समग्र विश्व के साहित्य की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। बेबसाइट पर कहीं के भी साहित्य से परिचय प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए इंटरनेट वरदान सिद्ध हो रहा है। वर्तमान में अनेक विश्वकोश इंटरनेट पर सुलभ हो रहे हैं।

पत्रकारिता का तो संस्कृति से सीधा सम्बन्ध है। पत्रकारिता साहित्य की ही एक विधा है, जो आज के समय में अत्यन्त प्रसिद्ध विधा है। संचार के सभी माध्यम साहित्य एवं संस्कृति से जुड़े होते हैं, परन्तु पत्रकारिता का उनसे अत्यधिक समीप का नाता है। पत्र-पत्रिकाएँ मूल्यबोध के साथ-साथ जनक्रान्ति की सशक्त माध्यम हो सकती हैं, क्योंकि आज पत्रकारिता के समक्ष अनेक चुनौतियाँ भी हैं—वस्तुवादी, भौतिकतावादी मानसिकता और सोच, भड़कीले लिबास, भद्दे विज्ञापन, सस्ती-मूल्यहीन रचनाधर्मिता। इनका अब अधिक प्रचलन हो रहा है। संवेदनात्मक रिश्ते टूटते जा रहे हैं। मूल्यों का सर्वत्र ह्रास होता जा रहा है। इन सबको रोकने का काम पत्रकारिता को करना चाहिए था, लेकिन ऐसा हो नहीं रहा है। पत्रकारिता का रेट बाजारभाव से निर्धारित होने लगा है। पत्रकार के लिए जागरूकता, शिक्षा आदि की उतनी आवश्यकता नहीं रह गयी है। अधिकांश पत्रकारों को जनता की आवाज कम, तथाकथित 'बड़े लोगों' की आवाज अधिक

सुनायी पड़ती है। श्री प्रभाष जोशी का वक्तव्य उल्लेखनीय है, "पूँजी ब्रह्म हो गयी है और लाभ कमाना मोक्ष हो गया है।...अखबार अब खबरों की तलाश में नहीं है, बिक्री की तलाश में हैं। सम्पादक ठेके पर रखे जा रहे हैं। मालिक लोग स्वयं सम्पादक बन रहे हैं। पढ़े-लिखे, संवेदनशील, तेजतर्रार पत्रकारों से अधिक महत्व समाचार-विक्रेताओं को दिया जा रहा है। ...आज भंडाफोड़ पत्रकारिता अनिवार्य है। भूमण्डलीकरण का विस्तार हमें दबाने को बढ़ रहा है। घास की तरह जमीन से चिपककर ही हमें लड़ाई लड़नी होगी। पत्रकारिता के समक्ष अनेक प्रकार के व्यवधान और दबाव हैं, जिन पर रोक लगाना अत्यन्त आवश्यक है।"

आज की उपभोक्तावादी मानसिकता हमारी संस्कृति पर सीधे चोट कर रही है। इसने साहित्य और शिक्षा का व्यवसायीकरण कर दिया है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक उन्नयन पर बल दिया गया है। उपभोक्तावाद ने व्यक्ति को भौतिकतापरक, स्वार्थकेन्द्रित और शरीरभोगी बना दिया है। कम्प्यूटरीकरण ने हाथ-पैरों का श्रम छीन लिया है। हृदय का कार्य मस्तिष्क कर रहा है। पैसे कमाने की होड़ में प्रतिभा-पलायन तेजी से हो रहा है। भारत की संस्कृति, भारत के साहित्य ने सदैव मानवजीवन के उच्चतम लक्ष्य पर ध्यान दिया था, क्योंकि इस जीवन में ही उच्चतम दिव्य लक्ष्य तक पहुँचने का सुअवसर प्राप्त होता है। मानव-जीवन कर्म की साधना के लिए, पुरुषार्थ के लिए है, जीवन का आदर्श और लक्ष्य समझने के लिए है। यह लक्ष्य और पूर्णत्व भोग में नहीं, योग में है; प्राप्ति में नहीं, त्याग में है, स्वार्थ में नहीं, सहयोग में है।

आज के उपभोक्तावादी परिवेश में मानव एक वस्तु की भाँति है, जिसका वस्तुओं की भाँति ही जैसे क्रय-विक्रय हो रहा है। भारतीय संस्कृति में सत्-चित्-आनन्द पर, आन्तरिक सौन्दर्य पर, माधुर्य पर बल दिया गया है। उपभोक्तापरक सभ्यता में परिधान और सौन्दर्य के नाम पर अभद्र प्रदर्शन हो रहा है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक आपत्तिजनक तथ्य यह है कि इस मानसिकता ने नारी के भारतीय आदर्श को आघात पहुँचाया है। 'माताभूमिः पुत्रोऽहंपृथिव्याः' का वैदिक नारा अब कहीं नहीं सुनायी देता। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने 'स्वदेशी' भावना को ही समाप्त करने का प्रयास किया है। साहित्य, कला, शिक्षा, राजनीति आदि में भी उदारीकरण की ऐसी हवा चली है कि न तो अपनी प्राचीन विरासत को हम समझ पा रहे हैं और न विदेशी वस्तुओं, व्यापार, विचार आदि के आयात को हम रोक पा रहे हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नारा भारत ने ही सर्वप्रथम दिया था। भूमंडलीकरण का विचार एक उपयोगी विचार है, परन्तु इसका स्वरूप हमारी संस्कृति पर कुठाराघात कर रहा है।

अन्तःप्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का सामंजस्य आवश्यक है। मनुष्य प्रकृति का ही अंग है, अतः प्रकृति के द्वारा ही उसका अस्तित्व है। इस सम्बन्ध में डॉ. कमल किशोर गोयनका का कथन दृष्टव्य है, 'इक्कीसवीं सदी में मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों की ऐसी कहानी लिखी जायेगी, जो पहले कभी नहीं लिखी गयी है। यह कहानी प्रकृति के विध्वंस की कहानी होगी, जो मनुष्य के कुकृत्यों का प्रतिफल होगी। हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रकृति के साथ रहना सीखा था, उनकी प्रकृति जीवनदायिनी थी और सभी शक्यिों की स्रोत थी। हमारे पूर्वजों ने प्राकृतिक शक्तियों को पूजनीय बना दिया था, क्योंकि वे सत्य को पहचान गये थे कि प्रकृति ने ही जीव को उत्पन्न किया है और वही संरक्षण करती है, लेकिन यह यदि कुपित हुई, तो सब नष्ट कर सकती है। इसके विपरीत पश्चिम की औद्योगिक तथा उपभोक्तावादी संस्कृति इस अहंकार को लेकर चली है कि वह प्राकृतिक शक्तियों को जीतकर जैसा चाहे, उनका उपयोग कर सकती है। इसके परिणामस्वरूप आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, वनस्पतियाँ—सबकुछ प्रदूषित हो रहा है और ओजोन छतरी का ही हृदय घायल नहीं हुआ है, बल्कि पृथ्वी के तापमान में बढ़ोतरी हो रही है और ध्रुवों पर करोड़ों वर्षों से जमी बर्फ पिघलनी शुरू हो गयी है।... प्रकृति की करोड़ों वर्षों की रचना और जलवायु को मनुष्य ने सौ-दो सौ वर्षों में ही बदलने का जो अपराध किया है, वह प्रकृति क्षमा नहीं करेगी।

वस्तुतः प्रकृति की रक्षा ही संस्कृति की रक्षा है तथा पूरे संसार की सुरक्षा है। पर्यावरण-प्रदूषण आज की सबसे बड़ी समस्या है। इस पर भारत ही नहीं, पूरे विश्व को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये और साहित्य, कला, विज्ञान, शिक्षा आदि-आदि के माध्यम से जो भी हितकर मार्ग हो, उसकी तलाश करनी चाहिए।

✦✦✦

भारतीय संस्कृति और भाषा

—डॉ. के. श्रीलता

भाषा और संस्कृति के बीच बिंब प्रतिबिंब सा सम्बन्ध है। भाषा संस्कृति की वाहिका है। दोनों के सम्बन्ध पर विचार करने का मतलब है भाषा से संस्कृति की अभिव्यक्ति का स्वरूप समझना और भाषा एवं साहित्य के स्वरूप से संस्कृति के विकास को समझना।

अंग्रेज़ी में प्रयुक्त 'कल्चर' शब्द हिन्दी भाषा में 'संस्कृति' शब्द के रूप में पारिभाषित किया जाता है। संस्कृति का अभिप्राय शुद्धीकरण है, अथवा संस्कृत करने की प्रक्रिया को संस्कृति कहते हैं। मनुष्य को जन्तुजगत में अन्तर्भूत किया गया है। उसका अर्थ यह होता है, मनुष्य भी एक पशु है। इस कारण से उसका व्यक्तित्व पशु सामान्यवृत्तियों से परिचालित होता है। उसकी भी मूलभूत आवश्यकताएँ पशुओं से भिन्न नहीं है। अत: उसके मनोव्यापार या मनोवृत्तियाँ पशुओं के समान भी हैं। खाना-पीना, आश्रय पाना, यौन भावनाएँ मनुष्य के अन्दर पशुओं के समान चला ही करती हैं। इन्हीं मूलभूत आवश्यकताओं के साथ सम्बन्ध, नाना भाव व्यापार क्रोध, भय, स्पर्द्धा, मोह और लोभ, आसक्ति, अपने लिए सुरक्षित रखने की आकांक्षा, स्वार्थ ऐसी बहुत-सी बातें मनुष्य के अन्तरंग में चला करती हैं। इनमें से कतिपय भावनाएँ मौका ताककर मनुष्य में उत्कृट रूप से जागृत होती हैं। इसके लिए भाषा सहायक बनती है। इन भावनाओं का असामयिक अथवा अनियन्त्रित जागरण बहुधा मनुष्य के लिए हानिकारक भी होता है। हानिकारक इसलिए कि उससे परस्पर संघर्ष हो जाने की गुंजाइश है।

मनुष्य को समाज में जीना होता है इसलिए प्रत्येक मनुष्य का जीवन समाज से संबद्ध और नियंत्रित होता है। आज की दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य एक वैश्विक समाज में जी रहा है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने भावव्यापारों को, आवश्यकताओं को संयत और नियंत्रित करके जीना है। यह नियंत्रण सामाजिक

सम्पर्क: प्रोफेसर, एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालटि प्रादेशिक क्षेत्र, पन्मना, कोल्लम केरल, पिन—691583

नियमों के आधार पर चलाना भी है, क्योंकि सामाजिकता से व्यक्ति-जीवन संबद्ध ही होता है। व्यक्तिमानस को सामाजिक जीवन के लिए सर्वथा अनुकूल बनाने के लिए, स्वाभाविक रूप से सामाजिक अनुशासन के लिए तैयार करने की प्रक्रिया को मानुषीकरण कहते हैं। यह मानुषीकरण ही सच्चे अर्थ में संस्कृतीकरण है, पशुसामान्य वृत्तियों से मनुष्य का विशुद्धीकरण अथवा उदात्तीकरण ही संक्षेपत: संस्कृति का तात्पर्य है।

दुनिया में अनेक राष्ट्र बने हैं। इन राष्ट्रों के लोग अपनी-अपनी संस्कृतियों से संचालित भी होते हैं। उन संस्कृतियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ भी होती हैं। प्रत्येक संस्कृति यद्यपि मानव-मन के उदात्तीकरण के ध्येय पर चलती है तो भी इन में प्रादेशिक रंगों के चढ़ने के कारण वे परस्पर अनुकूल भी नहीं होतीं। यही नहीं कभी-कभी इन संस्कृतियों के बीच संघर्ष भी हुआ करता है अत: आज के वैश्विक जीवन के लिए सर्वथा उपयोगी या उपादेय भी नहीं होती हैं। इसी वैश्विक परिदृश्य को आधार बनाकर दृष्टिपात करने पर विश्व के निखिल राष्ट्रों के लिए सहायक और अनुकूलता की दृष्टि से संग्रहणीय संस्कृति के तत्व भारतीय संस्कृति में सर्वाधिक हैं और उसे उजागर करने की शक्ति भारतीय भाषाओं में है।

भारत की संस्कृति का आरंभ अत्यन्त प्राचीन काल में घटित हुआ, यह अनेक साक्ष्यों से प्रमाणित भी होता है। संस्कृति के वाहक मुख्य रूप से दो साधन हैं—एक : परंपरा, दो : भाषा। भाषा, संस्कृति तथा परंपरा का पोषक होती है, राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होती है। भाषा का प्रचलन और व्यापन साहित्य के द्वारा होता है। सबसे अधिक प्रचलित भाषा सार्वत्रिक भाषा होती है लेकिन सार्वत्रिक भाषा ऐसी कोई वस्तु नहीं है। तब भारत की सर्वाधिक व्याप्त भाषा ही सबसे प्रचलित भाषा मानी जा सकती है। भारत की भाषाएँ अनेक हैं लेकिन अन्त:सलिला के रूप में उन सारी भाषाओं में प्रवाहित संस्कृत भाषा है। विशेषकर संस्कृति की दृष्टि से सबसे धन्य भाषा भी संस्कृत है। संस्कृत से संपुष्ट ही सारी भाषाओं के कलेवर हैं। विशेषकर हिन्दी भाषा संस्कृत की उत्तराधिकारिणी भाषा कहलाती है, उसके द्वारा ही संस्कृति विकास को प्राप्त भी करती है। संस्कृत के प्राचीन साहित्य से ही भारत की पीढ़ियों से गृहीत भारतीय संस्कृति निहित है। इस कारण इधर वैदिक साहित्य से लेकर प्रसारित संस्कृति के कुछ ज्योतिर्मय बिंदुओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा हुई है।

संस्कृत साहित्य अत्यन्त पुरातन काल से हमारे साथ है। कम-से-कम छ: हजार वर्षों से भारत के जीवन को विभिन्न दिशाओं से संस्कृत और उदात्त करते रहनेवाला साहित्य भारत में है। साहित्य के अन्तर्गत संगीत और कलाएँ भी गिनायी जाती हैं। यही नहीं साहित्य के भीतर भी दो विभाग हैं—वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य। इन उभय पक्षों पर दृष्टि डालते हुए प्रस्तुत लेख में यह दिखाया गया है कि साहित्य की संकल्पनाएँ पीढ़ियों से अंगीकृत की जाकर कैसे भारतीय जन-चेतना में जीवन्त रहकर संस्कृति की धाराएँ हो गई हैं और उनका विकास करके अखिल विश्व के लिए शान्ति का सन्देश कैसे पहुँचाया जा सकता है।

ऋग्वेदीय साहित्य कम-से-कम छ: हजार वर्षों से पहले हमारे साथ है। यहाँ के जीवन को परिष्कृत, सभ्य और संस्कृत करते हुए यह साहित्य हमारा पथप्रदर्शन कर रहा है। सर्वात्मवाद और अद्वैत भावना ऋग्वेदीय साहित्य से ही प्रवाहित होकर गंगा की अमृतधारा के समान भारत के मानस में परिव्याप्त है। इसके आधार पर एक भारतीय व्यक्ति, जगत के समस्त चेतन पदार्थों में आत्मा के दर्शन करता है। इस धारणा के चलते भारत में यह माना जाता है कि एक पौधे की डाल को काटना भी अनुचित है। समस्त प्राणियों में चैतन्य है। सभी में एक आत्मा ही स्पंदित होती है। तब यह कहना नहीं है कि मनुष्य-मनुष्य में मूलत: अभिन्नता है। इस सत्य को सर्वात्मवाद कहते हैं। सूक्ष्म चिन्तन से यह तथ्य दार्शनिक धारातल पर ही नहीं व्यावहारिक जीवन में भी आभासित होता है। इसको अद्वैत भी कहते हैं।

सर्वमेवेदं पुरुष:
तदविश्वं उपजीवति (ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त)

यह सारा का सारा यही पुरुष है, उससे यह पूरा जगत चैतन्यवान है यही इसका तात्पर्य है।

परवर्ती काल में यह भावना नाना प्रकार से प्रकट की गई है। वेदान्त के महावाक्य कहलाने वाले 'तत्वमसी' (तत् त्वं असी–वही तुम्हीं हो) 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' (यह सारा का सारा ब्रह्म या आत्मा ही है)। जैसी उक्तियों में इस सर्वात्मवाद का अनुरणन है। इस सत्य को स्वीकृत करने पर मनुष्य यह मानने को बाध्य हो जाता है कि अन्य व्यक्तियों में या अन्य प्राणियों में भी जो दु:ख या वेदना घटित होती है वह अपनी वेदना के समान है या अपन ही वेदना है। इस बात को आत्मसात करने पर व्यक्ति, अहिंसा का पालन करने के लिए उद्युक्त हो जाता है। 'अहिंसा परमो धर्म:' जैसी संकल्पनाएँ इसी सर्वात्मवादी चिंतन से बह निकली हैं। भारतीय जनता इसी वाद की प्रेरणा से हमेशा हिंसा से दूर रहने के इच्छुक है। दुनिया में अन्य देशों के लोग बहुधा साम्राज्य स्थापित करने के लिए इतिहास के किसी भी मोड़ पर उत्सुक जब दिखायी देते हैं तो भारत की जनता में ऐसी उत्सुकता कभी दिखायी नहीं दी। उसने हिंसालुता से हमेशा दूर रहना चाहा है। स्वतंत्रता संग्राम में भी अहिंसा के रूप में यह भावना साकार दिखायी देती है। वस्तुत: महात्मा गाँधी के हथियारों में यह अहिंसा एक अमोघ शस्त्र रही है। यदि यह सर्वात्मवादी चिंतन विश्व में सर्वव्याप्त किया जाय तो जगत में बम वगैरह घातक पदार्थों का निर्माण हमेशा के लिए बंद हो जाएँगे, युद्ध और अन्य प्रकार के झगड़े भी बहुत कम हो जाएँगे। दुनिया में गाँधी जैसे महामानव उत्पन्न हो जाएँगे।

भारतीय जन जीवन में जीवन मूल्यों के प्रसारण में भी भाषा साहित्य का महत्त्वपूर्ण हाथ है। 'सत्यं वदा (सत्य ही बोलो) धर्मं चरा' (धर्म का आचरण करो) 'मातृदेवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव' इत्यादि कई व्यक्ति–गुणों को उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। ये वाक्य वैदिक साहित्य से ही उद्धृत हैं। गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करके अपने घर जाने के लिए तैयार होने वाले शिष्य को दिए जाने वाले उपदेश ये हैं। दीक्षान्त उपदेश (Convocational Advice) भी उसे कह सकते हैं। तैत्तिरिय उपनिषद, प्रसिद्ध उपनिषदों में एक है। इस उपनिषद में जीवनोपयोगी और भी बहुत सारे उपदेश हैं। आचार्य अपने शिष्य को यह भी उपदेश देते हैं कि हमारे भी (आचार्यों के भी) अच्छे कर्मों का ही तुम्हें अनुकरण करना चाहिए। (यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नोइतराणि) ऐसे उपदेश हमेशा श्रेष्ठ व्यक्तियों को बनाने वाले होते हैं। गीता के आचार्य अन्त में अर्जुन को यह उपदेश भी देते हैं कि मेरे उपदेशों पर सोचकर, विमर्शनात्मक ढंग से निरीक्षण करके जो तुम्हें उचित लगे उन्हें ही पालन करना–"विमृश्यैतदशेषेण पथेच्छसि तथा कुरु" (गीता अध्याय 18 श्लोक 63) व्यक्तित्व विकास के लिए तथा शिष्य में आत्मविश्वास भरने के लिए ये उपदेश बड़े सहायक हैं। गुरु–शिष्यों की परंपरा भी भारतीय संस्कृति का चेतनापूर्ण अध्याय है। इन सबसे जगत में संघर्ष का होना रोका जाता है।

भारतीय संस्कृति का और एक महत्त्वपूर्ण संदेश जिसका प्रचार विश्व में करना उपादेय होगा। वह कर्मफल सिद्धान्त है। मनुष्य जो अच्छे और बुरे कर्म करता है उसका फल अवश्य ही उसे अपने जीवन में भोगना होगा। अच्छे कर्मों से, शुभ कर्मों से शुभ परिणाम ही होते हैं और पाप–कर्मों से प्रत्येक को बुरा फल ही अवश्य भोगना पड़ता है, उसके लिए कितने ही जन्म क्यों न ग्रहण करने पड़े। ये जन्म मनुष्य के रूप में ही होना अनिवार्य नहीं है। अन्य प्राणियों में से किसी भी रूप में पैदा होना भी पर्याप्त है। महाभारत के 'स्त्री पर्व' में बताया गया है–

शुभेन कर्मणा सौख्यं दु:खं पापेन कर्मणा
कृतं लभति सर्वत्र नाकृतं भुजयते क्वचित
(महा. भा स्त्रीपर्व. 4-36)

इसका तात्पर्य यह है कि जीवन में सुख या दु:ख भोगने का कारण पहले किये हुए शुभ या अशुभ कर्म ही हैं। शुभ कर्मों का आचरण करने वाले को शुभ परिणाम और बुरे कर्म करने वाले को दु:ख फल ही प्राप्त होंगे। उसी पर्व में अन्यत्र यह भी कहा गया है कि पूर्व कृत कर्मों के फल सोते समय भी, जागृत होने पर भी, खड़े होते समय भी और दौड़ते समय भी मनुष्य का पीछा करते हैं। उसमें से अलग रहना किसी भी व्यक्ति के वश में नहीं है। (धृतराष्ट्र को विदुर द्वारा दिए

जाने वाले उपदेशों में प्रस्तुत भाग है।)

शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम्
(महा. भा. स्त्री पर्वम् 4-32)

यह कर्मफल सिद्धान्त वैदिक संस्कृति द्वारा प्रसारित अमोघ सिद्धान्त है जो जगत में संघर्ष और युद्ध को निस्सन्देह कम कर देगा।

माता पृथिवी महीयं (ऋक् 1,164,33)
(अर्थात् यह महिमामण्डित पृथ्वी हमारी माता है।)

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (अथर्व, 12.1.12)
(यह भूमि हमारी माता है। मैं इसी का पुत्र हूँ)

यदि ऐसे कथन भूमि के प्रति अनधिकार चेष्टा करने वालों को अपने आचरण से विरत होने के संदेश प्रदान करते हैं तो पानी को संशुद्ध रखने का संदेश नीचे के वैदिक मंत्रों से प्राप्त होता है।

आपश्य विश्वभेषजी (ऋक् 1.23.20)

जल विश्व के लिए औषधि है।

यो वः शिवतमोरसः तस्य भाजयतेहनः

उशतीरिवमातरः (कृष्ण यजुर्वेद 4-1-5-2)

उपर्युक्त मन्त्र में जगत के जलाशयों का संबोधन करके ऋषि कवि यह कहता है-"हे जल देवताओ, तुम्हारा रस अत्यन्त मंगलकारी है। माताएँ अपने स्निग्ध दूध से शिशुओं को सुरक्षित रखती हैं उसी तरह तुम लोग हमें भी उन्मेषदायक जल दे दो। ऋग्वेदीय स्वस्तिसूक्त में ऋषि की प्रार्थना है कि सभी को पवित्र जल जिसमें कोई प्रदूषण न लगा हो, उपलब्ध हो जाय।"

"स्वस्तये वायुं उपप्रवामहेः"

वस्तुतः परिस्थिति को संशुद्ध रखने की आवश्यकता बताने वाले वैदिक संस्कृति के वाक्य अनेक हैं। उनमें मनुष्य को पारिस्थितिक संतुलन को न बिगाड़ने का सन्देश सब कहीं है। वृक्षों को न काटने का आदेश देने वाले कई वाक्य मनुस्मृति में हैं, क्योंकि प्राणियों का वे हमेशा उपकार ही करते हैं। मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय में यह कहा गया है-

फल्दानं तु वृक्षाणां च्छेदने जप्यमृक्शतम
गुल्मवल्ली लतानां च पुष्पितानां च वीरुधां
(मनुस्मृति 11-142)

वैदिक साहित्य से प्रवाहित सन्देशों के विषय में ही ऊपर थोड़े से उद्धरण देकर विश्वशान्ति के उपादेय तत्व उदाहृत किया गए हैं। भारत के प्राचीन लौकिक साहित्य में भी इन उपर्युक्त सांस्कृतिक सन्देश भरे पड़े हैं। भारत में हमेशा ही पेड़, पौधों के प्रति जैसा अपनापन दिखाया गया है उसी का उदाहरण 'अभिज्ञान शाकुन्तल' शीर्षक महाकवि कालिदास के नाटक में है। उस नाटय कृति के चतुर्थ अंक में पति के घर जाने के लिए तैयार होने वाली शकुन्तला का दृश्य प्राप्त होता है। पिता कण्व के द्वारा उस आश्रम में पालित पेड़-पौधों का संबोधन करते हुए यह कहा जाता है-"हे वनदेवताओं, तुम्हारी प्रिय सखी अपने पति के घर आज जा रही है। तुम लोग इसकी अनुज्ञा या अनुमति दे दो। मुझे मालूम है तुम्हारे मन में शकुन्तला का चला जाना अत्यन्त दुःखकारक है, क्योंकि तुम्हारे प्रति यह ऐसा ही स्नेह किया करती रही है। तुम को जल दिए बगैर जो खुद पानी नहीं पीती और जो अपने अलंकार के लिए भी तुम्हारे किसलयों को नहीं तोड़ा करती और तुम लोगों के प्रथम पुष्पित होने का दिन जिसके लिए बहुत उत्साह और उत्सव का दिन है, तो भी अब तुम्हें शकुन्तला को जाने की अनुमति प्रदान करनी ही चाहिए।"

भो भो तपोवनतरवः
पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।
(अभिज्ञानशाकुन्तल अंक 4)

विश्व की संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का यह उत्कृष्ट स्वभाव अत्यन्त प्राचीन काल से सजीव है। दुनिया के विकास में अवरोध डालने वाली कई शक्तियाँ हैं जिनसे जगत में संघर्ष और घात प्रतिघातमय वातावरण उत्पन्न होने की अशंका बनी रहती है। इसके स्थान पर शान्ति और सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए संस्कृतियों का विश्वव्याप्त स्वरूप सहायक होगा। उनमें भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक उपयोगिता है। भारतीय संस्कृति के समान चिरपुरातनकाल से जीवन्त, संजीवनी शक्ति से पूर्ण संस्कृति अन्य किसी भी स्त्रोत से संभव नहीं है। इस कारण मेरी यही हिदायत है कि विश्व शान्ति कायम रखने के लिए भारत की इस समृद्ध संस्कृति के तत्वों का व्यापन ही एक मात्र मार्ग दिखायी देता है, यह मेरा निश्चित मत है, यही सत्यदर्शी ऋषि कवियों का भी आदेश लगता है।

लौकिक साहित्य में सांस्कृतिक जीवन के और भी भव्य गिरिशिखर दिखायी देते हैं जिनसे मानव मन की सदानीरा सांस्कृतिक जलधाराएँ चल निकली हैं। रामायण भारतीयों का ऐतिहासिक काव्य है जिसमें आत्मत्यागी, सत्यान्वेषी एवं लोकहितकारी एक महामानव का चरित्र वर्णित हुआ है। वास्तव में भारतीय संस्कृति के त्याग, सत्य आदि के आदर्श प्रतिमान उस काव्य के द्वारा खड़े किए गए हैं। रामचन्द्र अपने समस्त राजाधिकारों से वंचित करके वन को चौदह वर्षों के लिए भेजे गए। लेकिन पिता के निर्देश को प्रसन्नतापूर्वक राम ने शिरोधार्य किया और वन को चले गए। वे ऐसे त्यागी थे कि उनके चेहरे की प्रसन्नता इस बात से जरा भी कम नहीं हुई।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत
तथानमम्ले वनवासदुखत:
मुखांबुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा।

(रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड आरंभ श्लोक)

चौदह वर्ष मुनिवृत्ति में जंगल में बिताने के बाद जब लौट आए तब लोकहित को मानकर उन्हें राज्यशासन अपने कंधों पर लेना पड़ा। तब लोकहित का पालन भी मुख्य रूप से राम के मन में था। यहाँ पर उन्होंने अपने सत्यपालन का अर्थ लोकहित साधना मान ली है क्योंकि सबसे ज्यादा लोकों का हित जिसके द्वारा होता है वही राम की दृष्टि में बसे बड़ा सत्यपालन है।

सत्यस्यवचनं श्रेय: सत्यादपिहितं वदेत
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम

(शान्ति पर्व 329-13)

यही राम राज्य का आदर्श है यह राम राज्य हमारी सांस्कृतिक संकल्पना में आज भी प्रमुख होकर चल रही है।

सभी भारतीय भाषाओं का साहित्य अत्यधिक सम्पन्न है। जागरूक और समर्पित-चेता अनेक साहित्यकारों से समृद्ध है भारतीय भाषाएँ। वस्तुत: इन साहित्यवेत्ताओं से व्यष्टि और समष्टि का जीवन बड़ी मात्रा तक प्रभावित हुआ है। विभिन्न भाषा साहित्यों की रचनाओं में विशेषकर मिथक साहित्यों की कल्पनाओं का मूलाधार एक ही भारतीय पुराण साहित्य का हिमालय है। इन्हीं पौराणिक स्त्रोतों में अवगाहन करके अपनी चेतनता में नव्य दृष्टि भरने वाले मिथकीय साहित्यकार हमारे पूरे चिन्तन क्षेत्र को भी भव्य सांस्कृतिक प्राणोन्मेष से भर देते हैं। भारतीय भाषाओं के मिथक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन विश्लेषण बड़े महत्व का काम है। उससे सुदूरवर्ती उत्तर, दक्षिण आदि भूभागों में रहने वाले लोगों के बीच एक सांस्कृतिक सेतु भी निर्मित हो सकता है, जो समग्र भारत की सामासिक संस्कृति और एकाग्रता को परिपुष्ट करने में सहायक भी सिद्ध हो सकता है।

आज जीवन-शैली में बदलाव आयी है। बहुत-से मूल्यों के रूप बदल रहे हैं। ऐसे संक्रमण के दौर में हमें अपनी सांस्कृतिक विरासत, भाषा और साहित्य के प्रति अधिक सजग रहना है। सारी मुसीबतों और आक्रोशों के उग्र रूपों को केवल भाषिक और साहित्यिक उदारता ही शान्त कर सकती है। हमारी राजभाषा हिन्दी पूरे देश की संस्कृति को कायम रखकर देश को भावनात्मक स्तर पर जोड़ने का संकल्प लेकर आगे बढ़ रही है और बढ़ती रहेगी।

✦✦✦

संस्कृतिवाहिनी भाषा

—डॉ. राजश्री रावत 'राज'

प्राचीन काल में दुनिया में एकमेव भारतीय संस्कृति थी और वह विश्वव्यापी थी। हमारे सभी प्राचीन ग्रंथ, वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत में आर्य का अर्थ था भद्र, सभ्य, सुसंस्कृत इसलिए हमारे पूर्वजों ने लक्ष्य रखा ''कृष्णवन्तो विश्वमार्यम'' अर्थात सारी दुनिया को आर्य बनाएंगे, श्रेष्ठ बनाएंगे सभ्य और सुसंस्कृत बनाएंगे। दुनिया की प्रथम सभ्यता का उदय यहीं पर हुआ और यहीं से सारी दुनिया में भारतीय संस्कृति का संचार हुआ।

सामान्यत: प्राचीन काल से सभ्यताओं का विकास नदियों के किनारे हुआ हम देखते हैं कि सरस्वती, सिंधु, गंगा, दजला (ट्रायग्रीस) फरात, (यूक्रेटिस) नील, हवांग आदि के किनारे सभ्यताएं विकसित हुईं इन विकसित सभ्यताओं का गहराई से अध्ययन किया जाए तो इनके दार्शनिक विचार, सृष्टि कथाएं, देवता, मान्यताएं, भाषासाम्य, पुरातत्व सामग्री आदि में साम्यता दिखाई देती है इस साम्य का कारण क्या है इसका उत्तर देते हुए प्रख्यात मार्क्सवादी समालोचक डॉ रामविलास शर्मा कहते हैं –''दुनिया की किसी कथा, देवता, भाषा साम्य के मूल को खोजने जाएंगे तो अंत में ऋग्वेद की शरण में आना पड़ेगा।'' ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में सृष्टि के पूर्व की स्थिति, सृष्टि के प्रारंभ का जो वर्णन है उसकी छाया दुनिया की अन्य सभ्यताओं में भी दिखाई देती है ऋगवेद ने कहा –

'तब ना सत था न असत था,

न दिन था न रात थी,

न पृथ्वी थी न अंतरिक्ष,

न मृत्यु न अमरत्व,

जब अंधकार से अंधकार ढका था।

तब वह एकमेव स्पंदन रहित तत्व था।

सम्पर्क: स्वास्तिक गृह, 81, इंडस एम्पायर, फेस 2, शाहपुरा, भोपाल, (म.प्र.), 462039

उसके मन में बहुत होने की इच्छा हुई और सृष्टि का प्रारंभ हो गया।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है जहां उसके साथ में यूनान और रोम की प्राचीन संस्कृति पुरातत्व का विषय बन कर रह गई है वहीं भारतीय संस्कृति परंपरा सजीव रूप से प्रवाहित होती जा रही है जैसा कि हमारी भारतीय संस्कृति के लिए शायर इकबाल ने कहा–

''यूनान मिश्र रोमा सब मिट गए जहां से

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी''

इसके दो कारण हैं एक तो हमारे प्राचीन ऋषियों ने वेदों के पठन– पाठन की मौखिक गुरु–शिष्य परम्परा चलाई, जिससे पराधीनता की अवधि में हमारे धर्म शास्त्रों के नष्ट किये जाने पर भी वह चलती रही। पिछले वर्षों में जिन्होंने बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को हमेशा प्रासंगिक बनाए रखा वे थे– तुलसी, मीरा, कबीर रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, शंकराचार्य, महर्षि रमण, स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानंद, महर्षि अरविंद आदि। जिसके परिणाम स्वरुप हमारी संस्कृति का नाम 'सनातन संस्कृति' रखा गया

संस्कृति, भाषा और साहित्य तीनों की पहचान संप्रेषण की अलग–अलग विधाओं के रूप में तो है ही लेकिन समाज के, जीवन के संचालन में तीनों का विशेष महत्व है। भाषा और। संस्कृति के संबंध अन्योन्याश्रित है आज भाषा विचार–विनिमय और भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र नहीं है वह समाज की ज्ञान परंपरा तथा संस्कृति के संवाहक होने के साथ–साथ सामाजिक अनिवार्यता भी है भाषाओं के विकास, समन्वय, संघर्ष, सांस्कृतिक और राजनीतिक आधिपत्य की अभिव्यक्ति है इसमें आंचलिक संचित ज्ञान राष्ट्रीय स्वाभिमान और मानवीयता से जुड़े मूल्य समाहित होते हैं समाजशास्त्री स्वीकार करते हैं कि हर भाषा की ताकत उसकी शब्द संपदा और अभिव्यक्ति की गहराई के साथ उसके बोलने वाले समाज की राजनीतिक, आर्थिक और सामरिक क्षमता से तय होती है।

पाली, प्राकृत, संस्कृत, ग्रीक या लैटिन जैसी समृद्ध भाषाएं केवल इतिहास में शेष हैं लेकिन चीनी,अरबी, हिब्रू या ढाई सौ वर्षों से भारत पर राज कर रही अंग्रेजी शक्ति की प्रतीक भाषा बन गई है।भारत में भारतीय भाषाओं को पीछे धकेल कर अंग्रेजी साधन नहीं साध्य बन चुकी है। मातृभाषा के साथ साहित्य–सृजन का रिश्ता तो बना हुआ है

भाषा के रूप में मनुष्य की संस्कृति बोलती है। भाषाएं भारतीय हों अथवा पाश्चात्य उन के माध्यम से देश काल और समाज का चरित्र मुखर होता है। एक भूखंड की एक राष्ट्र की संस्कृति बोलती है। चाहे संस्कृत हो अथवा प्राकृत, भारतीय भाषाएं युगों–युगों से हमारी भारतीय कौम का एक सांस्कृतिक चरित्र बनाती आ रही हैं। इस सनातन दायित्व के निर्वहन में हमारी प्रादेशिक भाषाएं तमिल, तेलुगु, कन्नड़, अवधी, भोजपुरी, मलयालम, मराठी, गुजराती, सिंधी आदि भी शामिल है। हिंदी, उर्दू, पंजाबी, उड़िया, ब्रज, डोगरी और राजस्थानी आदि प्रत्येक भाषा और उपभाषा ने अपने माध्यम से भारतीयता के एक सांस्कृतिक चरित्र और राष्ट्रीयता को धारण और मुखर किया है। भारत ही नहीं सारी दुनिया को भाषा का पाठ पढ़ाया दुनिया की सभी भाषाओं के मूल में भारतीय भाषा है और संस्कृत से ही सभी भाषाओं का जन्म हुआ यह तथ्य केवल कल्पना नहीं सत्य पर आधारित है। दुनिया की प्राचीनतम भाषाओं में जेंद, और लैटिन का नाम आता है। जेंद से अरबी फारसी और लैटिन से अंग्रेजी आदि भाषाओं का जन्म हुआ।

कबीर ने कहा था –''भाषा बहता नीर'' किसी भी देश प्रांत में नदी का प्रवाह भाषा साहित्य और संस्कृति को प्रभावित करता है भारत में गंगा के प्रवाह ने गंगोत्री से लेकर गंगासागर तक भाषा और साहित्य और संस्कृति को नए आयाम दिए। हजारों वर्षों से गंगा ने मानव सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण अध्याय जुड़े हैं। भाषा, साहित्य और मनुष्य की संस्कृति पिरामिड के तीन कोण है।

विभिन्न ऋतुओं में जिस प्रकार बसंत के आगमन पर प्रकृति अपने चरम सौंदर्य और उल्लास को प्रकट कर सकने में समर्थ होती है, नदी अपने उद्‌गम स्थल से निकलकर अपनी पहाड़ी यात्रा में जिस प्रकार उद्याम वेग प्रकट करती है और सागर जिस

प्रकार ज्वार के समय अपनी उत्ताल तरंगों से तरंगायीत होने लगता है उसी प्रकार मनुष्य में जब आत्म शक्ति जागृत होती है तो वह कुछ न कुछ लिखने को बाध्य होता है, मनुष्य के अंदर प्रस्फुटित आत्मशक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है लेखन और यह लेखन ही साहित्य सृजन कहलाता है। हर संस्कृति और समाज के इतिहास में शुरू से लेखन कार्य को दर्शाया गया है और समाज का वर्तमान स्वरूप बहुत हद तक लेखकों, विद्वानों के अनुसार बनता या बिगड़ता रहता है। साहित्य सृजन में व्यक्ति की संवेदना ही समाज में हो रही चिंताओं, घटनाओं, विषयों और समस्याओं का प्रतिफल होती है, और वे ही मूलत: लेखन का आधार बनती है समाज में उपस्थित अनेक विषय, अनेक प्रश्न, अनेक समस्याओं से उद्वेलित होकर ही लेखक लिखने को बाध्य होता है और इस कारण साहित्यकारों और लेखकों पर दोहरा दायित्व रहता है- पहला जागरूक निगाहों से समाज की समस्याओं को देखना, समझना और दूसरा उन्हें सुधारने के प्रयास स्वरुप उत्कृष्ट लेखन के द्वारा समाज को जागृत करना और अपनी संस्कृति को बनाए रखना।

साहित्य का समाज के साथ घनिष्ठ संबंध है, मनुष्य के समष्टि रुप का नाम ही समाज है। समाज में व्यक्ति व्यष्टि अर्थात अंग रूप में व्यवस्थित होता है। इसी प्रकार व्यक्ति के भाषाबद्ध विचारों का संकलन साहित्य बनता है।साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है। "साहितस्य एवं साहित्यम" जिस साहित्य से सबका हित न हो सके या वह हित करने में सक्षम न हो उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता। किसी समाज के साहित्य में एक लंबे काल के अनुभव क्रियाकलापों और बौद्धिक गतिविधियों का संकलन होता है।

इस तरह यह कहा जा सकता है संस्कृति का स्थान प्राचीनता, परंपरा और आधुनिकता के बीच सेतु जैसा होता है और भाषा और साहित्य एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अलग -अलग रह कर भी इस सेतु को मजबूत बनाने का कार्य करते हैं।

✦✦✦

रचनाकारों से विशेष अनुरोध

- कृपया अपनी मौलिक और अप्रकाशित रचना ही भेजें।
- कृपया अपनी रचना ए-4 आकार के पेज पर ही टाइप कराकर भेजें। ई-मेल द्वारा प्रेषित रचना यूनिकोड में टंकित करें या रचना के साथ टंकित फॉन्ट अवश्य भेजें।
- कृपया लेख, कहानी आदि एक से अधिक और कविता आदि दो से अधिक न भेजें अन्यथा निर्णय नहीं लिया जा सकेगा।
- रचना अनावश्यक रूप से लंबी न हो। शब्द-सीमा 3000 शब्दों तक है।
- रचना के साथ लेखक अपना संक्षिप्त जीवन-परिचय भी प्रेषित करें।
- रचना के साथ विषय से संबंधित चित्र अथवा कहानी के साथ विषय से संबंधित कलाकृतियाँ (हाई रेज्योलेशन) भी भेज सकते हैं।
- यदि संस्कृत के श्लोक अथवा उर्दू के शेर आदि उद्धृत किए गए हैं, वर्तनी को कृपया भली-भांति जांच लें।
- यदि फोटो कॉपी भेज रहे हों सुनिश्चित कर लें कि वह सुस्पष्ट एवं पठनीय हो।
- रचनाएं किसी भी दशा में लौटाई नहीं जाएंगी अत: प्रतिलिपि (फोटो कॉपी) अपने पास अवश्य सुरक्षित रखें।
- स्वीकृत रचनाएं यथासमय प्रकाशित की जाएंगी।
- रचना के अंत में अपना पूरा पता, फोन नंबर और ई-मेल पता स्पष्ट शब्दों में अवश्य लिखें।
- आप अपने सुझाव व प्रतिक्रिया कृपया pohindi.iccr@nic.in पर प्रेषित कर सकते हैं।

भारतीय भाषायें संस्कृति का अस्तित्व

—डॉ. एम. एल. गुप्ता 'आदित्य'

भाषा और संस्कृति का परस्पर अत्यंत गहरा संबंध होता है। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना करना आसान नहीं। भाषा में संस्कृति के महीन तंतु गुंथे होते हैं। यदि विश्व-इतिहास को पर नजर डालें तो हम पाते हैं कि जब-जब कहीं भाषा का क्षय हुआ है या वहाँ विदेशी भाषा का प्रभाव बढ़ा तो लगभग उसी गति से वहाँ की संस्कृति का भी ह्रास हुआ। भारतीय संस्कृति हजारों वर्षों तक विश्व में अपनी श्रेष्ठता का डंका बजाती रही और विश्व का मार्गदर्शन करती रही। साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटक, वेशभूषा, आभूषण, स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि विभिन्न क्षेत्रों में अपनी श्रेष्ठता का लोहा मनवाने वाली भारतीय संस्कृति की चूलें अगर आज हिली हैं या हजारों साल से अर्जित और विकसित होती रही सांस्कृतिक विरासत आज ठहरी हुई सी प्रतीत होती है तो उसका कारण निश्चय ही भारत की भाषा रूपी नदियों की जल राशि का सूखना और इनके प्रवाह का बाधित होना है, जिनमें ये पल्लवित पुष्पित हो कर निरंतर आगे बढ़ती रही हैं।

यह एक सार्वभौमिक और निर्विवाद सत्य है कि भाषा संस्कृति की वाहिका होती है और अपनी भाषा के माध्यम से ही कोई भी संस्कृति विकसित होती है। संस्कृति के सभी तत्व अपनी समग्रता के साथ अपनी भाषा के माध्यम से ही फलते-फूलते हैं। भाषा के परिवेश में संस्कृति के ठीक उस प्रकार पनपती और बढ़ती हैं जिस प्रकार कोई बच्चा अपनी माँ की गोद में। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मछली को जल के बाहर निकाल देने पर वह ज्यादा समय तक जीवित नहीं रह पाती, कुछ उसी तरह संस्कृति भी अपनी भाषायी परिवेश के बिना धीरे-धीरे सिमटने और मिटने लगती है।

संस्कृतियों के विकास-ह्रास के इतिहास में राजनैतिक कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। किसी देश पर शासन करने के लिए सैन्य शक्ति के साथ-साथ मानसिक स्तर पर अनुकूलन भी आवश्यक माना गया है। इतिहास गवाह है कि विदेशी शासकों द्वारा अपने शासन को सुदृढ़ करने के लिए वहाँ के इतिहास, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-संस्कृति और राष्ट्रीयता को खंडित या प्रभावित करते हुए जनता को अपने रंग में रंगने का प्रयास

सम्पर्कः संपर्क - ए - 104, चंद्रेश हाइट्स, जैसल पार्क, भायंदर (पूर्व) मुंबई - 401105, ई-मेलः vaishwikhindisammelan@gmail.com

सदैव किया जाता रहा है। इसका सरलतम उपाय रहा है स्थानीय भाषा को नष्ट कर उसके स्थान पर अपनी भाषा स्थापित करना। इसलिए साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा सबसे पहला कार्य वहाँ की भाषा को नष्ट करने का किया जाता रहा है क्योंकि भाषा रूपी नदी के प्रवाह को बंद करने से ही वहाँ की संस्कति के प्रति आत्मीयता के भाव को भी तिरोहित किया जा सकता है। इसलिए भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करनेवाले विदेशी हमलावरों व शासकों ने भारत में शासन-प्रशासन, ज्ञान-विज्ञान, और व्यापार-व्यवसाय की भाषा के रूप में स्थानीय भाषाओं के स्थान पर अपनी भाषाओं को आरोपित किया।

जब भारत पर इस्लामिक आक्रमणकारियों के हमले हुए और उनमें से कुछ ने भारत में अपना साम्राज्य भी स्थापित किया। इन आक्रमणकारियों ने भारत में शासन स्थापित करने के पश्चात अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए स्थानीय भाषाओं के स्थान पर अपनी भाषा को शासन-प्रशासन की भाषा बनाया। इतिहास साक्षी है कि ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला- संगीत सभी को निशाने पर लिया गया। तक्षशिला और नालन्दा जैसे तत्कालीन विश्व-प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों का अस्तित्व समाप्त करने के लिए उनके पुस्तकालयों को आग के हवाले कर दिया गया। ये वे विश्वविद्यालय थे जहाँ फाह्यान और ह्युनसैंग जैसे विद्वान शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे भारतीय भाषाओं के स्थान पर अरबी-फारसी आदि भाषाओं को राज्याश्रय मिला और वे शासन-प्रशासन में प्रतिष्ठित हुई। शासन की भाषा होने के चलते उससे रोजगार के अनेक मार्ग खुले और लोगों ने इन नई भाषाओं को सीखा, धर्मांतरण और धर्म-प्रसार के कारण धार्मिक साहित्य पढ़ने के कारण भी इनका काफी प्रसार हुआ।

इस्लामिक देशों से आई ये भाषाएँ कालान्तर में हिंदी में मिलती गई और आगे चल कर भारत-भूमि पर 'उर्दू' के रूप में एक नई भाषा का जन्म हुआ। स्वतंत्रता के बाद तक भी पंजाब सहित भारत के कई राज्यों में उर्दू शिक्षा के माध्यम सहित अदालतों की भाषा के रूप में चलती रही। इन भाषाओं के माध्यम से भारत की संस्कृति पर इस्लामिक देशों की संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा। इसके कारण देवनागरी लिपि में उच्चारण में 'क़ ग़ फ़, ज़' जैसी भाषिक ध्वनियाँ, साहित्य में 'गजल', संगीत में 'कव्वाली', रीति रिवाज व परंपराओं से -पर्दा प्रथा, महिलाओं को चारदीवारी तक सीमित करना, वेषभूषा में सलवार-कमीज तथा वास्तुकला व स्थापत्य कला में भी उन देशों का प्रभाव देखा जा सकता है। इस युग में शिक्षित उन्हीं को माना गया जो उनकी भाषाएं जानते थे। इसका पता इन कहावतों से लगता है -'हाथ कंगन को आरसी क्या और पढ़े लिखे को फारसी क्या?', 'पढ़े फारसी बेचे तेल।'

पश्चिमी देशों ने पन्द्रहवीं सदी के अन्त में भारत के सामुद्रिक रास्तों की खोज की, जिसके बाद यूरोपीयों का भारत आना आरंभ हुआ। यद्यपि यूरोपीय लोग भारत के अलावा भी बहुत स्थानों पर अपने उपनिवेश बनाने में सफल हुए। लेकिन इनमें से ज्यादातर का भारत के प्रति विशेष आकर्षण था। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक यूरोपीय भारत में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुके थे और अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में उन्होंने भारत में कई जगहों पर अधिकार भी कर लिया था।

यूरोप से जो साम्राज्यवादी शक्तियाँ भारत में आई और जिन्होंने यहाँ व्यापार के साथ-साथ अपने साम्राज्य स्थापित किए। उन्होंने भी कमोबेश वैसा ही किया। अपने राजनीतिक प्रभुत्व के साथ-साथ उन्होंने अपने धर्म-संस्कृति को स्थापित करने के लिए अपनी भाषाओं का प्रभुत्व भी स्थापित किया। स्वतंत्रता के पश्चात तक पांडिचेरी में फ्रांसिसियों का तथा गोवा, दमण एवं दीव तथा दादरा व नगर हवेली में पुर्तगालियों का शासन रहा। आज भी वहाँ पर फ्रेंच और पुर्तगाली भाषा - संस्कृति पर गर्व करने वाले अनेक लोग आज भी मिलते हैं। अंग्रेजी शासकों ने भी यही किया। लॉर्ड मैकॉले ने तो इसके लिए सुनियोजित रुप से भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नींव रखी; और जन भाषा के प्रवाह को बाधित कर शासन-प्रशासन, शिक्षा व रोजगार में अंग्रेजी को स्थापित किया। भाषा के माध्यम से संस्कृति सहित पूरे चिंतन को बदलने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण लॉर्ड मैकॉले का है जिन्होंने, 2 फरवरी, 1835 को ब्रिटेन की संसद में बोलते हुए कहा :

> *''मैंने भारत के एक छोर से दूसरे छोर की यात्रा की है पर मैंने एक भी आदमी ऐसा नहीं देखा जो भीख माँगता हो या चोर हो। मैंने इस मुल्क में अपार सम्पदा देखी है। उच्च उदात्त मूल्यों को देखा है। इन योग्यता मूल्यों वाले भारतीयों को कोई कभी जीत नहीं सकता यह मैं मानता हूँ, तब तक जब तक कि हम इस मुल्क की रीढ़ ही ना तोड़ दें, और भारत की रीढ़ है उसकी आध्यात्मिक और साँस्कृतिक विरासत। इसलिए मैं यह प्रस्ताव करता हूँ कि भारत*

की पुरानी शिक्षा व्यवस्था को हम बदल दें। उसकी संस्कृति को बदलें ताकि हर भारतीय यह सोचे कि जो भी विदेशी है वह बेहतर है। वे यह सोचने लगें कि अंग्रेजी भाषा महान है, अन्य देशी भाषाओं से। इससे वे अपना सम्मान खो बैठेंगे। अपनी देशज जातीय परम्पराओं को भूलने लगेंगे और फिर वे वैसे ही हो जाएँगे जैसा हम चाहते हैं, सचमुच एक आक्रान्त एवं पराजित राष्ट्र।''

इसके पश्चात ब्रिटिश संसद की अनुमति से और वित्तीय प्रावधान करने के पश्चात लॉर्ड मैकॉले ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नींव रखी और अंग्रेजी को शासकीय भाषा बनाया।

अंग्रेजी शासनकाल में तो भारत में अंग्रेजी शासन-प्रशासन की भाषा थी ही, स्वतंत्रता के पश्चात भी भारत में शासन, प्रशासन, न्याय, पुलिस, सैन्य व्यवस्था आदि को लगभग उसी रूप में अंगीकार किया गया जैसी कि अंग्रेजों के शासनकाल में या ब्रिटेन में प्रचलित थीं। इसलिए अंग्रेजी का प्रभाव स्वतंत्रता के पश्चात भी कम होने के बजाए और तेजी से बढ़ा। भारत में शिक्षा -रोजगार, व्यापार-व्यवसाय आदि मे हिंदी सहित अपनी तमाम भाषाओं का प्रयोग निरंतर घटता गया और इन क्षेत्रों में भारतीय भाषाओं की पकड़ निरंतर कमजोर होती गई।

इसका सीधा प्रभाव यह हुआ कि अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा और साहित्य में भारतीय संस्कृति के बजाए पाश्चात्य संस्कति परोसी जाने लगी। नर्सरी स्तर के बच्चे भी अपने परिवेश के बजाए इंग्लैंड में कई सौ वर्ष पूर्व के वहाँ के मौसम, त्योहारों, रीति -रिवाज और परंपराओं आदि को ले कर रची कविताओ का रटते -पढ़ते दिखते हैं। और आगे चल कर वे न केवल अपने साहित्य से बल्कि अपने जीवन परिवेश से कटते जाते हैं। नई पीढ़ी शिक्षा रोजगार के लिए चाहे-अनचाहे अंग्रेजी माध्यम अपनाने को विवश हैं और कुछ वर्ष पूर्व तक चलने वाले भारतीय-भाषा माध्यम के स्कूल तेजी से बंद हुए हैं। जहाँ हम एक ओर हिंदी को विश्वभाषा बनाने और को संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाषा बनाने के लिए प्रयासरत हैं, वहीं दूसरी ओर हिंदी हिंदी-भाषियों के घर से ही बाहर होती जा रही है। अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा-प्रणाली में भारतीयता और भारतीय संस्कृति के दर्शन दूर-दूर तक नहीं होते। इसीका परिणाम है कि भाषा से कटने के साथ-साथ नई पीढ़ी धीरे-धीरे अपनी संस्कृति से भी उसी तेजी से कटती जा रही है। भारत के युवा स्वयं को अंग्रेजियत के वातावरण में ढाल रहे है। शिक्षा का माध्यम बदलने के परिणामस्वरूप जब आज युवा पीढ़ी भारतीय संस्कृति से इतना कट चुकी है, तो प्रतिकूल होती जा रही परिसिथतयों में आने वाली पीढ़ियाँ किस हद तक अपनी संस्कृति से जुड़ी रह पाएँगी, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है।

यदि हम चीन, रूस, जापान, कोरिया, जर्मनी, फ्रांस, इटली, नीदरलैंड, पुर्तगाल और ऐसे तमाम देशों को देखें जहाँ उनकी अपनी भाषा या भाषाएं शासन-प्रशासन और न्याय आदि सहित ज्ञान-विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती हैं वे देश न केवल दुनिया के संपन्न देशों में हैं बल्कि अपनी भाषा के प्रचलित होने के कारण उनकी संस्कृतियाँ देश-विदेश के आधुनिकता के प्रभावों के साथ स्वभाविक रूप से आगे बढ़ रही हैं।

जब नई शिक्षा नीति के संबंध में मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा देश के नागरिकों से सुझाव माँगे गए तो मैंने संबंधित समिति के विचारार्थ कई सुझावों सहित यह सुझाव भी प्रस्तुत किया था कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाया जाए और अंग्रेजी माध्यम के बच्चों को भी या अंग्रेजी विषय के अंतर्गत भी यथासंभव पाश्चात्य संस्कृति के बजाए भारतीय संस्कृति से संबंधित ऐसा साहित्य पढ़ाया जाए, जिसमें भारतीय इतिहास- गौरव, भारतीय परिवेश, व जीवन मूल्यों आदि की महक हो। देश की पीढ़ियाँ अपनी भाषाओं से कटी तो निजभाषा की नदियों की जलराशि भी सूखने लगी। ऐसे में इन नदियों में स्थानीय संस्कृति कैसे पनप या बढ सकती हैं? यही कारण है कि चालीस वर्ष की आयु से कम के ज्यादातर लोग आपको अपनी भाषा-संस्कृति से कटे हुए दिखेगे। काफी समय तक हिंदी सिनेमा से जुड़े रहने के कारण मैं स्पष्ट रूप से यह देख पाता हूँ कि जो हिंदी सिनेमा कल तक हिंदी का पोषक था अब हिंदी के अंग्रेजीकरण में लगा है। अनेक फिल्मे अंग्रेजी फिल्मों से प्रभावित होती हैं या उनके हिंदी रूपांतरण जैसी होती हैं, गीत-संगीत की भी वही स्थिति है, टीवी कार्यक्रम और धारावाहिक भी इसी राह पर हैं, जाहिर है ये भारतीय संस्कृति के बजाए पाश्चात्य संस्कृति के वाहक ही होंगे।

पिछले कुछ समय से हिंदी भाषा पर ही नहीं हिंदी की लिपि यानी देनमागरी लिपि पर भी लगातार आघात होते रहे हैं। अंग्रेजी साहित्यकार चेतन भगत ने तो सार्वजनिक रूप से हिंदी के लिए देवनागरी के स्थान पर रोमन लिपि को स्वीकारने की वकालत

तक की। सिनेमा जगत में तो काफी समय से ऐसा चलन बन गया है कि हिंदी फिल्मों की पटकथा रोमन लिपि में ही लिखी जाती है। हाल ही में 'स्टोरी टैलर प्रतियोगिता' जिससे प्रसिद्ध अभिनेता आमीर खान जुड़े थे उसमें हिंदी की पटकथा को भी रोमन में ही देने की अनिवार्यता रखी गई थी। समाचार-पत्रों और इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों को किसी भाषा के प्रसार का प्रमुख माध्यम माना जाता रहा है। लेकिन आज हिंदी के ज्यादातर हिंदी समाचार-पत्रों और चौनलों की भी कुछ ऐसी स्थिति है। वे हिंदी में भी चलते-फिरते जीवित हिंदी शब्दों के बजाए अंग्रेजी शब्दों को प्राथमिकता देते हैं। साथ ही अनेक शब्दों, संक्षिपितयों और वाक्याशों तक को रोमन लिपि में लिखने लगे हैं। हिंदी और ऐसी भारतीय भाषाएँ जो देवनागरी में लिखी जाती रही हैं यदि उनकी लिपि देवनागरी के बजाए रोमन होती है तो आनेवाली पीढ़ियाँ देवनागरी लिपि को न समझ पाने के कारण सदा-सदा के लिए, हजारों वर्षों से विकसित उस सांस्कृतिक विरासत से सदा के लिए कट जाएंगे दो कि देवनागरी में उपलब्ध है। इस प्रकार संस्कृति के प्रवाह लिए भाषा की तरह ही भाषा की लिपि को साथ ले कर चलना भी अति आवश्यक है।

भाषा का पोषण दो स्तरों पर होता है, पहला - संस्कृति की वाहिका के रूप में साहित्य, गीत - संगीत आदी कलात्मक रूपों तथा धर्म और आध्यात्म आदि के माध्यम से। दूसरा ज्ञान - विज्ञान, उद्योग - व्यापार, व्यवहार - जन-संचार और रोजगार से जुड़ कर। किसी भाषा का साहित्य अपनी भाषा को परिमार्जित करता है, उसे संपन्न बनाता है लेकिन बचाता नहीं। कवि सम्मेलन में भाग लेने वारा एक वकील, डॉक्टर, इंजीनियर या अधिकारी भले ही साहित्य-प्रेमी हो लेकिन कार्य के स्तर पर वह अंग्रेजी में ही काम करता है जो प्रचलन मे है। यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए आर्थिक पक्ष सदैव सर्वोपरि रहा है। इसलिए वह व्यक्ति न केवल स्वयं अंग्रेजी को अपनाता है बल्कि अपने बच्चों को भी अंग्रेजी माध्यम में भेजने को विवश है। इसलिए भाषा को बचाने के लिए उसे केवल ललित साहित्य की भाषा बनाने से काम न चलेगा। रोजगार जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता होती है। इसलिए हिंदी को भाषा को पेट की भाषा बनाना होगा, रोजगार और समृद्धि की भाषा बनाना होगा। जो भाषा ज्ञान- विज्ञान, उद्योग - व्यापार, व्यवहार - जन-संचार में प्रमुखता प्राप्त करेगी, रोजगार के चलते वही शिक्षा की भाषा, शिक्षा का माध्यम बनेगी और जीवन के हर क्षेत्र में उसका प्रभाव होगा और फिर वही भाषा जन-जन के मन में उस भाषा का साहित्य और गीत-संगीत भी होगा और वह संस्कृति के सभी तत्वों का भी संचार करेगी।

अक्सर ऐसा देखा गया है कि कि नदियों की धाराएँ कालान्तर में छोटी नदियों - नहरों का रूप ले कर अपना एक नया रूप ग्रहण करती हैं, उसी प्रकार भाषाएँ भी समय और स्थान के साथ परिवर्तित होती हैं और उनके साथ ही संस्कृति के तत्व भी भिन्न रूप प्राप्त करते हैं। लेकिन समान आधार होने के चलते उनमें पर्याप्त समानता होगी। भारत में संस्कृत से ले कर पाली-प्राकृत और अपभ्रंश आदि से विभिन्न स्तरों पर अलग स्वरूप ग्रहण करने वाली भाषाओं-बोलियों की धाराओं में अनेक संस्कृतिक रूपों का विकास हुआ। लेकिन इनका एक उद्‌गम होने और रक्त संबंध होने से इनमें पर्याप्त समानताएँ भी हैं। यही है अनेकता में एकता। यही है भारत की सामासिक संस्कृति। भारत के संविधान के अनुच्छेद - 351 में भारत की सामासिक संस्कृति को राष्ट्रीय स्वर प्रदान करने और हिंदी को संपूर्ण राष्ट्र की भाषा बनाने के उद्देश्य से हिंदी को इस प्रकार विकसित करने की बात कही गई ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके।

इस समय चुनौती भारतीय संस्कृति को आगे बढ़ाने की नहीं बल्कि बचाने की है। इसके लिए यह आवश्यक है कि भले ही हम विदेशी भाषाएँ पढ़ें लेकिन शिक्षा के माध्यम के रुप में भारतीय भाषाओं को ही अपनाएँ। जहाँ हम प्रमुख भाषा के रूप में अंग्रेजी पढ़ाएँ, विशेषकर नर्सरी और प्राथमिक स्तर पर तो उनमें स्थानीय संस्कृति को ही प्रस्तुत करें। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण बिंदू यह है कि जब तक शासन-प्रशासन, ज्ञान-विज्ञान, व्यापार-व्यवसाय सहित रोजगार के विभिन्न क्षेत्रों में हिंदी सहित अन्य भारतीय भाषाओं को उचित स्थान नहीं मिलेगा लोग अपने बच्चों को उसमें क्यों भेजना चाहेंगे? इस प्रकार भाषा के माध्यम से संस्कृति, रोजी-रोटी से आ कर जुड़ जाती है। रोजी-रोटी, भाषा और संस्कृति के बीच के समीकरण को समझ कर यदि हम इसे सुलझा सकें तो निश्चय ही हमारी नई पीढियाँ मातृभाषा व राष्ट्रभाषा माध्यम को अपना सकेंगी और निजभाषा की जलधारा में चहुंमुखी विकास के साथ भारतीय संस्कृति के अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर आगे बढ़ सकेगी।

✦✦✦

सर्वसार-ओंकार

—इंदिरा मोहन

ज्ञान की दिव्य ऊर्जा से पूर्ण ओंकार मात्र नाद नहीं, मंत्र नहीं, प्रार्थना नहीं हमारा सत्य है, हमारा आंतरिक अस्तित्व है जिसकी ध्वनि-तरंग पृथ्वी से लेकर आकाश तक दसों दिशाओं में प्रतिध्वनित हो रही है। यह गूँज आनन्द स्वरूप शिवत्व का प्रतीक है, परम सत्ता का ऐश्वर्य है। मनुष्य मात्र का जीवन-विवेक है, जिसे अपने आचार-विचार में अभियक्त करना है। सर्वव्यापक चेतना एक है। यही सब प्राणियों में अखंड रूप से व्याप्त है। इस चेतना का प्रतीक है ॐ।

ॐ का चिन्तन ऊँ का दर्शन ॐ का उच्चारण भारत की पुण्य भूमि में सदियों से जीवन को अपने अंक में समेटे हुए हैं। सारे मंत्रों के अन्दर ॐ अनुस्यूत है। सारे वेदों में प्रणव व्यापक रूप से विद्यमान है। इसी को सामवेदी उद्‌गीय, यजुर्वेदी प्रणव और अथर्ववेदी ओंकार कहते हैं। बौद्ध, जैन, सिख, आर्यसमाज तथा निर्गुण सन्तों में भी ओंकार के प्रयोग की परम्परा है। सामान्यत: कई बार शंका उठती है कि भगवान का कोई भी नाम लें क्या अन्तर पड़ता है, आखिर ॐ में ऐसी क्या विशेषता है? विभिन्न नामों के द्वारा तत्-तत् देवताओं का साक्षात्कार हो सकता है, लेकिन आत्मा और ब्रह्म की एकता समझना ओंकार के द्वारा ही संभव है। ओंकार का अनुसंधान करने पर, जो परमात्मा है वही ओउम् है और जो ओउम् है वही परमात्मा है—यह निश्चय हो जाता है। तभी तो यह सभी मंत्रों के आरम्भ में लगाया जाता है जैसे ॐ नम: शिवाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ रां रामाय नम:। सबसे प्रधान गायत्री मंत्र भी ॐ से शुरू होता है।

इससे सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। अक्षर का संबंध ध्वनि से है। ध्वनि का प्रभाव हमारे तन-मन और चेन तक जाता है। अक्षर ध्वनि पर सवार होकर ही यात्रा करता है। सब भाषाओं के पार सोच-विचार के पार पूर्ण शांत मन के द्वारा परिपूर्ण मौन में ओउम् की ध्वनि सुनी जा सकती है। हम स्वयं और सारा विश्व उसके अस्तित्व के सनातन साक्षी है। वह हमारे भीतर ही विद्यमान है। हमें सागर तल को नापने और आकाश छूने की जरूरत नहीं, इस तक पहुँचने के लिये न स्वर्गारोहण की जरूरत है न पाताल खोजने की। केवल ओंकार द्वारा आत्मा

सम्पर्क: 609 बी मैगनोलिया, डी.एल.एफ. फेज-5, गुरुग्राम—122009

को साधने की जरूरत है। ईश्वर में, अखंड चेतन में और चेतन के अंशों में भेद नहीं है। ओंकार भेद की संभावना को हटाकर एकता, अनन्यता का बोध जगा देता है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग अलग-अलग क्रिया करने पर भी सब मिल कर एक ही शरीर हैं, इसी प्रकार एक अखंड चिन्मात्र ही अनंत रूपों में प्रतीति करा रहा है।

वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अपनी देह में परम आत्मा का प्रकाश लिये हुए है। वह तो चलता-फिरता मन्दिर है जहाँ ज्ञान, शान्ति और सुख का अनन्त प्रकाश झिलमिला रहा है। ओउम् उस मन्दिर में प्रवेश का सबसे सरल, स्वाभाविक उपाय है। जैसे काठ की सीढ़ियों के सहारे हम नदी में उतरते हैं उसी प्रकार अर्कपूर्वक ओउम् के आश्रय द्वारा हम परमात्मा की आनन्दमय उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं। जैसे खेलती तरंगों के नीचे शान्त सागर है, वैसे ही हम भी शान्त सहज एकता में प्रवेश कर जाते हैं। ओउ्म के द्वारा हम प्रज्ञा की अखंड स्थिरता पर पहुँच जाते हैं जहाँ 'वह' अद्वितीय हम सबसे पहले पहुँचकर हुआ है। परमात्मा का ज्ञान शब्द के बिना सम्भव नहीं है। शब्द उच्चारण से ही ब्रह्मज्ञान कराया जाता है। आत्मा नित्य है इसलिये आत्मा का ज्ञान कराने वाला मंत्र भी नित्य है। ओउ्म जगत की सारी ऊर्जाओं का उद्गम है। सभी ध्वनियाँ ॐ से निर्मित होती हैं और ॐ में ही विलीन होती हैं। जगत बनते हैं, मिटते हैं परन्तु ॐ शाश्वत है, सनातन है। यह एक अखंड ध्वनि है जिसमें अ, उ, म् ध्वनियाँ हैं जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था की सूचक हैं। इसके द्वारा जो शान्ति प्राप्त होती है वह चौथी तुरीयावस्था का प्रतीक है, यही परमानन्द की अवस्था है। श्रुति के अनुसार वही शिव है, वही अद्वैत है-शिवः अद्वैतः। ऐसा विशुद्ध ज्ञान उपनिषदों द्वारा ही प्राप्त होता है। माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का विषद वर्णन मिलता है।

यद्यपि सारे वेदों में उस परमात्मा का ही निरूपण किया गया है किन्तु ओउ्म के विचार से वे सारे रहस्य झटपट समझ में आ जाते हैं। इस संदर्भ में कठोपनिषद के अन्तर्गत यमराज और नचिकेता का संवाद उल्लेखनीय है। नचिकेता पिता की आज्ञा-पालन करते हुए यमराज के निवास पहुँचा। यमराज की अनुपस्थिति में वह तीन दिन उपवास करते हुए उनकी प्रतीक्षा करता रहा। लौटने पर बालक के धैर्य और निष्ठा से प्रसन्न हो यमराज ने तीन पर माँगने को कहा। नचिकेता ने पहले वर में पिता की प्रसन्नता और दूसरे में स्वर्गलोक की प्राप्ति के साधन का वर माँगा। तीसरे वरदान के रूप में उसने आत्मा, देह और इन्द्रियों से भिन्न है या नहीं-इस संशय को स्पष्ट करने की प्रार्थना की। जिज्ञासु नचिकेता इतने पर भी संतुष्ट नहीं हुआ उसने पुनः प्रश्न किया-

"जो धर्म से अधर्म से पृथक् है, कार्य-कारण रूप प्रपंच से पृथक् और भूत-भविष्य से भी अन्य है-ऐसे जिसे आप देखते हैं, वही मुझसे कहिये।" (कठ. 2/2/14)

इस सूक्ष्म और गूढ़ प्रश्न के उत्तर देने में यमराज ने आनाकानी की। पृथ्वी से लेकर स्वर्ग के सारे ऐश्वर्यों को देने का प्रलोभन दिया, किन्तु नचिकेता अपनी बात पर अडिग रहा। आत्म ज्ञान के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं लोभ से विरक्ति भाव देखकर उसके प्रश्न की प्रशंसा करते हुए यमराज आत्म तत्त्व की जानकारी देते हैं-

"जिस पद का प्रतिपादन सारे वेद करते हैं, जिस पद-प्राप्ति का साधन सारी तपस्याएँ हैं और जिस स्थान की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ-ॐ यही वह पद है"-(कठ. 1/2/15)

"यह जो ॐ है, यानी जो ॐ शब्द का वाच्य और ॐ ही जिसका प्रतीक है, वही वह पद है जिसे तू जानना चाहता है।"

ओंकार की महिमा को यमराज स्पष्ट करते हैं-यह अक्षर ही ब्रह्म है। यही श्रेष्ठ आलम्बन है। इसी आलम्बन को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होते हैं-

एतदालम्बनं श्रष्ठमेतदालम्बनं परम।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।। (1/2/16)

वस्तुतः ब्रह्म ही सर्व रूप है लेकिन जब तक प्रणव पर चित्त स्थिर न हो जाए, तब तक ब्रह्म का बोध संभव नहीं कि उसे सर्वरूप समझ सकें। ओउ्म की सर्वरूपता इस साधना में सहयोगी सिद्ध है।

परमात्मा की प्राप्ति के लिये जितने भी उपाय, विधान, साधन हैं, उन सबका मूर्धन्य है ओउ्म। आज हम धर्म के यथार्थ स्वरूप को भूलकर मत-मतान्तरों, संप्रदायों के भेदभाव में उलझ गये हैं। लेकिन ये सब परंपरागत धर्म नहीं है। अध्यात्म ही पूरी मानव जाति का सत्य है। सत्य कोई व्यक्ति की संपत्ति

कहने का दावा नहीं कर सकता। सत्य की इस एकता-अखंडता को ओंकार के द्वारा जाग्रत कर उस ऊर्जा में प्रवेश किया जा सकता है, जहाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्द विद्यमान है।

सर्वव्यापी आत्मा का अनुभव करते ही जीवन के तनाव अपना तीखापन खो बैठते हैं, विरोध मिट जाते हैं और संदेह लुप्त हो जाते हैं। एक-एक कर वासनाओं को हटाना कठिन है किन्तु ओउ्म के सहारे एक ही वृत्ति के प्रभाव को लगातार बनाए रखने पर अन्य वृत्तियाँ कम से कमतर होती जाती हैं। हवाएँ थम जाने पर ही झील स्थिर होती है। हम झील को स्थिर बना नहीं सकते। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपने रास्ते पर प्रेरणा देने वाले संकेत मिलने लगते हैं। यथार्थ खुलता जाता है, शान्ति मिलने लगती है। यह ऐसा अनुभव है जो किसी के साथ भी घट सकता है। यहाँ जाति-पाँति, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित का कोई भेद नहीं। ओंकार-साधना से अंत:करण की वृत्ति एकाग्र और सूक्ष्म होकर सुई की नोक सी चैतन्य-ल्चुम्बक की ओर खिंचती चली जाती है। चुम्बक के सामने जब लोहा आता है तो वह लोहे को भी चुम्बक बना देती है। शुद्ध चैतन्य सत्ता ही वास्तव में हमें नियंत्रित करती है और निर्देश देती है। ओंकार का अर्थ सहित स्मरण करते ही जीवन ऊर्ध्वमुखी, उत्साही एवं दिव्य बन जाता है। रीढ़ सीधी रखते हुए निश्चित स्थान एवं समय में श्वास के साथ भावपूर्ण ओउ्म जप करने से ध्यान होने लगता है। धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा एकाग्र मन तन्मय और तद्रूप हो जाता है। जगत में रहते तथा कार्य करते हुए जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। इस सोच के द्वारा हमारा शरीर, मन, इन्द्रिय हमें बाँधते नहीं बल्कि दिव्य चेतना के वाहन बन जाते हैं।

वास्तव में प्रत्येक मनुष्य में दिव्य शक्ति का वास है जिसे अपने जीवन में, व्यवहार में अभिव्यक्त करना है। ओंकार के सहारे यह लक्ष्य पाना सरल है, सम्भव है। यह विश्वास हमारा एवं इस समूची धरती का काया कल्प कर सकता है। यह सबके लिये हैं, सबका है और सबमें है। ओंकार की साधना पूरी सृष्टि से अपनी आत्मीयता उजागर कर विश्व को सद्भावना और सौहार्द के अखंड सूत्र में बाँध सकती है। मानवता भी यही है, राष्ट्रीयता भी यही है और विश्व-बन्धुत्व भी यही है। आज वैश्विक परिदृश्य बदल रहा है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आचार-विचार-संस्कार का आदान-प्रदान विश्व-मैत्री के अवतरण का मंगल संकेत दे रहा है। देश-काल की सीमा को लाँघ कर ओंकार हमें शाश्वत चेतना की ओर अभिमुख कर सकता है, जहाँ ज्ञान का हिरण्यमय-पात्र छलकने को आतुर है।

आइए, हम सब एक हृदय हों, अपनी समृद्ध ऋषी परम्परा को नमन करते हुए ओउ्म की ज्ञान ज्योति को धारण करें-शुभ्र ज्योति समागम को उत्सुक है, दिशायें आमंत्रण दे रही हैं, निश्चय ही यह शुभ मुहूर्त है।

✦✦✦

भारतीय संस्कृति राम की संस्कृति

—डॉ. राजेश श्रीवास्तव

कवि ने सच ही कहा है –

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है।

वाल्मीकि रामायण में सात कांड, पांच सौ सर्ग और चौबीस हजार श्लोक हैं। रामकथा का यही आदि सूत्र माना जाता है। रघुवंश की प्रस्तावना में कालिदास ने कहा है कि पूर्ववर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं से रामकथा के मानकों को छिद्रित कर वाणी के प्रवेश के लिए पहले से ही सुराख बना दी है और इसलिए उनका काम उसी तरह आसान हो गया है जैसे हीरे की नोक से मणियों में धागा पिरोना।

''अथवा कृत-वाग्द्वारे वंशेह्यस्मिन् पूर्व-सूरिभिः ।
मणौ वज्र-समुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः'' (रघुवंश 1/4)

कवि कालिदास के कथन का तात्पर्य है : वाल्मीकि-प्रमुख पूर्वज मनीषियों ने रामायण आदि ग्रन्थ रचकर सूर्य-सम्भूत वंश (रघुवंश) के बारे में वाणी का द्वार उन्मुक्त कर दिया है। सूची से बिद्ध मणि में सूत्र जैसे प्रवेश करता है, उसी प्रकार उसी वाणी-द्वार में प्रवेश कर मैं रघुवंश का वर्णन कर सकूँगा।

इससे लगता है कालिदास के समय तक अनेक रामायणों की रचना हो गई थी। राम के चरित्र ने मानव मात्र को प्रभावित किया है। भारत की संस्कृति राम को केंद्र में रखती है। रामराज एक आदर्श राज्य की परिकल्पना है।

दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, रामराज काहूँ नहीं व्यापा।

भारत की संस्कृति राम की संस्कृति है। यहाँ के कण-कण में राम बसते हैं। हर जन के हृदय में राम जहां-जहां भक्ति, वहां - वहां राम। विश्व के कोने-कोने में राम की धूम। भारत वंश का जहां-जहां प्रचार-प्रसार हुआ, वहां -वहां रामभक्त पहुंचे। राम की भक्ति मनुष्य मात्र को शान्ति और प्रेम देने वाली है, इसीलिए संवेदनशील मनुष्य राम से दूर हो ही नहीं सकता। इसमें भी आश्चर्य यह कि अनेक देश राम की स्मृतियों को संजोए बैठे हैं। रामकथा के सूत्र राम को भारत के साथ लंका तक ही ले

सम्पर्कः बी-16, लेकपर्ल रेजिडेंसी, ई-8, अरेरा कालोनी, भोपाल (म०प्र०), भारत

जाते हैं लेकिन अनेक देशों में ऐसे साक्ष्य मिलते हैं जिनसे यह लगता है कि रामकथा की पहुँच यहाँ कैसे? मारीशस भारत से बहुत दूर समुद्र के बीच एक छोटा -सा टापू। लेकिन सम्पूर्ण मारीशस राममय।

एक भक्त का यह तर्क समझ में आता है कि सियाराम मय सब जग जानी। लेकिन विश्व के अनेक देशों में मिलने वाला रामकथा का साहित्य, कलामंडित राममंदिरों की भव्यता और पौराणिक सूत्र यह प्रमाणित करते हैं कि रामकथा का क्षेत्र केवल भारतभूमि नहीं है उस पर सबका अधिकार है और वह समूचे विश्व में फैली हुई है।

रामकथा की तीन धाराएं भारत से समूचे विश्व की और प्रवाहित हुई। पहली आध्यात्मिक, दूसरी सांस्कृतिक और तीसरी शैक्षणिक। आध्यात्मिक धारा मुख्यत: रामचरित मानस के माध्यम से गयी, जिसे प्रवासी भारतीय ले गये -मजदूर, व्यापारी या पेशेवर अधिकारी बनकर। यह धारा बहुत सशक्त है जो फिजी, मॉरिशस, ट्रिनिदाद, गुयाना, सूरीनाम आदि प्रवासी भारतीय देशों के अतिरिक्त अमरीका, यूरोप, एशिया और आस्ट्रेलिया महाद्वीप के देशों में विद्यमान है और निरंतर विकासमान है। सांस्कृतिक धारा भारत के पड़ोसी देशों थाईलैंड, म्यांमार, कम्बोडिया, लाओस, मलेशिया, इंडोनेशिया आदि में प्रवाहित है, जिसमें रामकथा के महानायक श्रीराम को भगवान न मानकर सर्वगुण सम्पन्न महापुरुष माना गया है। तीसरी धारा को हम शैक्षणिक मान सकते हैं जो मुख्यत: अमरीकी, यूरोपीय और एशियाई देशों की उच्च शिक्षण संस्थाओं में अध्ययन, अध्यापन, शोध और अनुवाद के माध्यम से पहुंची। ये तीनों धाराएं समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। किन्तु यह बात भी ध्यान में रखने की है कि रूस में रामचरित मानस का अनुवाद भारत की स्वतंत्रता के तुरंत बाद हुआ और चीन में वाल्मीकि रामायण तथा मानस का अनुवाद क्रमश: सत्तर और अस्सी के दशक में हो सका।

सांस्कृतिक रूप से भी रामकथा का पिछले कुछ दशकों में एशियाई देशों के साथ आदान प्रदान हुआ है। अनेक देशों के रामलीला दल भारत आये और भारत से रामलीला दल सारे विश्व के देशों में भेजे गये। अमरीका के न्यूयार्क में एक प्रसिद्ध भारतीय संत स्वामी ब्रह्मानंद की प्रेरणा से रामायण बैले का गठन हुआ जिसके अधिकांश पात्र अमरीकी थे।

नेपाल भारत से लगा हुआ सबसे निकटवर्ती देश है और सांस्कृतिक रूप से भी भारत के अधिक निकट है। नेपाल के राष्ट्रीय अभिलेखागार में वाल्मीकि रामायण की दो प्राचीन पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं। इनमें से एक पांडुलिपि के किष्किंधा कांड की पुष्पिका पर तत्कालीन नेपाल नरेश गांगेय देव और लिपिकार तीरमुक्ति निवासी कायस्थ पंडित गोपति का नाम अंकित है। इसकी तिथि (सं. 1076) 1019 ई. है। दूसरी पांडुलिपि की तिथि नेपाली संवत् 795 अर्थात 1674-76 ई. है। नेपाल में रामकथा का विकास वाल्मीकि रामायण तथा अध्यात्म रामायण के आधार पर हुआ है।

नेपाली साहित्य में भानुभक्त कृत रामायण को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नेपाल के लोग इसे ही अपना आदि रामायण मानते हैं। यद्यपि भानुभक्त के पूर्व भी नेपाली रामकाव्य परंपरा में गुमनी पंत और रघुनाथ भक्त का नाम उल्लेखनीय है। रघुनाथ भक्तकृत रामायण सुंदर कांड की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई थी। इसका प्रकाशन नेपाली साहित्य सम्मेलन, दार्जिलिंग द्वारा कविराज दीनानाथ सापकोरा की विस्तृत भूमिका के साथ 1932 में हुआ। नेपाल में स्थित हनुमानढोका वहां रहने वाले भारतीयों एवं अन्य नेपालियों की आस्था का केंद्र है। यहां प्रतिष्ठित हनुमान जी की मूर्ति देखने लायक है।

मलेशिया में रामकथा के ग्रन्थ का नाम है 'हिकायत सिरी राम'। मुस्लिम बहुल मलेशिया में रामकथा पर आधारित नाटकों का मंचन बहुत लोकप्रिय है। मलेशिया के लोकजीवन में नगरों, व्यक्तियों, नदियों तथा अन्य स्थानों के नाम रामायण से लिए गए लगते हैं। मलेशिया के जनजीवन में रामायण मनोरंजन व प्रेरणा का सशक्त माध्यम बनकर उभरी है। यहां चमड़े की पुतलियों द्वारा रात को रामायण के प्रसंगों का मंचन किया जाता है, यहाँ भारतीय मूल के लोगों के अतिरिक्त मूल मलय लोगों में भी भारतीय संस्कृति के प्रति गहरा रुझान है।

थाईलैंड के अधिकांश निवासी बौद्ध धर्म के उपासक हैं फिर भी यहां राम को भक्तिभावना के साथ देखा जाता है यहां के अनेक मन्दिरों में राम की मूर्तियां आज भी स्थापित हैं। थाईलैंड के लोगों का यह विश्वास है कि रामायण की कई घटनाएं उनके अपने देश में घटी थी। थाईलैंड की सांस्कृतिक जीवनधारा श्रीराम की जीवनदृष्टि में पूर्णत: समाहित है। थाईलैंड की एक नदी का नाम भी सरयू है। ठीक भारत की तरह वहां भी सरयू अयोध्या के निकट ही बहती है। थाईलैंड में एक स्थान का नाम

अयोध्या भी है। यही नहीं, यहां श्रीराम के पुत्र लव के नाम पर लवपुरी (लोपबुरी) भी है।

भगवान बुद्ध के प्रभाव वाले इस देश में राम और बुद्ध के बीच कोई विभाजन रेखा दिखाई ही नहीं देती। इसका सबसे बड़ा प्रमाण बैंकाक स्थित शाही बुद्ध मंदिर है। जिसमें नीलम की मूर्ति है। यह मंदिर थाईलैंड के सुप्रसिद्ध मंदिरों में से एक है तथा दूर-दराज से श्रद्धालु यहां दर्शनार्थ आते हैं। इस मंदिर की दीवारों पर संपूर्ण रामकथा चित्रित है। यही नहीं, थाईलैंड की अपनी स्थानीय रामायण भी है। जिसे 'रामकियेन' के नाम से जाना जाता है। इस रामायण के रचियता नरेश राम प्रथम थे। उन्हीं के वंशज आज भी थाईलैंड में शासक हैं। थाईलैंड के विश्व प्रसिद्ध नेशनल म्यूजियम में भी श्रीराम के दर्शन सुगमतापूर्वक किए जा सकते हैं। वहां खड़े धनुर्धारी राम की आकर्षक प्रतिमा आगंतुकों को मंत्रमुग्ध करती है। वहां प्रस्तुत होने वाले शास्त्रीय नृत्यों में भी राम कथा के अनेक प्रसंग प्रदर्शित किए जाते हैं।

थाईलैंड के राज भवन परिसर स्थित वाटफ्रकायों (सरकत बुद्ध मंदिर) की भित्तियों पर संपूर्ण थाई रामायण 'रामकियेन' को चित्रित किया गया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन चित्रों का निर्माण 'रामकियेन' की रचना के बाद 1798 ई. में हुआ था। थाई सम्राट चूला लौंग तथा उनके साहित्यमंडल के मित्रों ने मिलकर इन भित्तिचित्रों में रुपादित रामकथा को काव्यबद्ध किया था। उन पद्यों को शिलापट पर उत्कीर्ण करवाकर उन्हें यथास्थान भित्तिचित्रों के सामने स्तंभों में जड़वा दिया गया।

थाइलैंड के निकटवर्ती देश कम्बोडिया में हिन्दू धर्म और रामकथा का विशेष प्रभाव है यहां रामकथा के ग्रन्थ का नाम है 'रामकेर', (रामकीर्ति नामक गद्यग्रन्थ) जिसका पाठ भी किया जाता है। विश्व में भगवान विष्णु का सर्वाधिक विशाल मंदिर 'अंगकोर वाट' कंबोडिया में ही है। यह भारत और कंबोडिया के सांस्कृतिक सौहार्द का प्रतीक है। अंगकोर वाट मंदिर में भगवान बुद्ध, शिव और श्रीराम की मूर्तियां भी प्रतिष्ठित हैं तथा रामायण के कई प्रसंगों को सुंदर ढंग से दीवारों पर उकेरा गया है। इन प्रसंगों में सीता की अग्नि परीक्षा, अशोक वाटिका में हनुमान का आगमन, लंका में श्रीराम-रावण युद्ध, बाली-सुग्रीव युद्ध तथा रावण के दरबार में अंगद द्वारा पैर जमाने के दृश्यों की सजीवता देखते ही बनती है। वहां आन्कोर के विराट वास्तुकलाप में बारहवीं शती के सम्राट सूर्यवर्मन द्वतीय के कार्यकाल के रामायण और महाभारत के दृश्य अंकित हैं नृत्य अभिनय के कथानक प्राय रामकथा से ही लिए जाते हैं

रामायण का प्रसार इंडोनेशिया में भी खूब है। नवी शताब्दी में प्राम्बानन के शैव मंदिर में रामायण पर आधारित चित्र उत्कीर्ण हैं। इंडोनेशिया में काकविन रामायण ही आदिकाव्य है। कवि योगेश्वर ने 11 वि शताब्दी में रामायण की रचना की। संस्कृत के अनेक छंदों रामकथा का सुन्दर वर्णन इसमें देखने को मिलता है.

इंडोनेशिया में बाली द्वीप हिंदू संस्कृति का उत्तम उदाहरण है। ऐसा कहा जाता है कि बाली के हर गांव में तीन मंदिर होते हैं, जो क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश को समर्पित हैं, देखने में ये सभी एक तरह के ही होते हैं। पूरे बाली में हनुमान, राम तथा भीम की मूर्तियां देखने को मिलती हैं। इन प्रतिमाओं के निचले हिस्से पर सफेद-काले चेकदार कपड़े पहनाए जाते हैं, जो अच्छाई व बुराई के प्रतीक हैं।

जावा में राम को पुरुषोत्तम के रूप में सम्मानित किया जाता है। वहां अनेक मन्दिरों में वाल्मीकि-रामायण के श्लोक उद्धृत हैं। वहां 'सरयू' नाम से एक नदी भी है। लाओस में रामकथा पर दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रथम 'फालाक फालाम' तथा दूसरा 'फोमचक्र'। लाओस के कई बौद्ध विहारों में भी राम कथा के चित्र उरेहे गये हैं। लाओस का उपमु बौद्ध विहार राम कथा-चित्रों के लिए विख्यात है। विहार के लगभग बीस मीटर लंबी और सवा पाँच मीटर ऊँची दीवार पर वहाँ की रामायण 'फ्रलक-फ्रलाम' अर्थात् 'प्रिय लक्ष्मण प्रियराम' की कथा क्षेत्रीय पृष्ठभूमि में रुपायित है। 'फ्रलक-फ्रलाम' राम जातक के नाम से भी विख्यात है। उपमुंग विहार की चित्रावली में राम कथा का आरंभ लाओ रामायण के अनुसार रावण के जन्म से हुआ है और लंका युद्ध के बाद राम की अयोध्या वापसी तक की कथा का संक्षेप में निर्वाह भी हुआ है, किंतु इसमें कुछ प्रसंग अन्यत्र से भी संकलित हैं। यह चित्रावली लाओस लोक कला का उत्कृष्ट नमूना है। इसकी पृष्ठभूमि में चित्रित प्रकृति और परिवेश मनमोहक हैं।

वियतनाम (प्राचीन नाम चम्पा) में प्राचीन काल में हिन्दू राज्य स्थापित था। उस समय वहां रामकथा का बहुत अधिक प्रभाव था, जिसके प्रमाण हमें आज भी यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं।

बर्मा में 1800 ई. के लगभग 'रामायागन' के नाम से रामकथा लिखी गयी। इस ग्रन्थ ने वहां पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की है। बर्मा में राम पर आधारितनाम मिलते हैं। वहां एक गांव का नाम रामवती है। वहां कई स्थानों पर राम, लक्ष्मण, सीता और हनुमान के चित्र भी अंकित मिलते हैं।

राम कथा का प्रचार-प्रसार चीन और जापान में भी बहुत हुआ है। मैक्सिको और मध्य अमरीका में भी रामकथा की चर्चा होती है। पेरू में तो राजा अपने को सूर्यवंशीय राम के वंशज ही मानते थे।

अंग्रेजी भाषा में वाल्मीकि रामायण का प्रथम अनुवाद फ्रेडरिक सालमन ने 1883 में किया। 'रामचरित मानस' का अंग्रेजी अनुवाद सर्वप्रथम एफ.एस. ग्राउज ने सन् 1871 में किया। फैंच भाषा के विद्वान 'गार्सा द तासी' ने सुन्दर कांड का अनुवाद किया और डेनीविलि ने फ्रेंच भाषा में स्वतंत्र रूप से रामकथा लिखी। इटली के विद्वान डॉं. लुहजीपियो टे सीटेरी ने रामकथा पर शोध करके (लोरेंस विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है।

हालैंड, जर्मनी और पुर्तगाल में भी रामकथा के अनुवाद हुए हैं। रूस के प्रसिद्व हिन्दी समर्थक अलैक्सेई बारान्निकोव ने रामचरित मानस का रूसी भाषा में अनुवाद किया और सम्पूर्ण रूस तथा निकटवर्ती अन्य देशों में रामकथा का प्रचार किया। सोवियत लेखिका श्रीमती नतलिया गुलेवा ने रामकथा पर बच्चों के लिए रंगमंचीय नाटक तैयार किये हैं।

रूस में तीसरी से नौंवी शताब्दी के बीच तिब्बती ओर खेतानी भाषा में लिखी संक्षिप्त रामकथाएं प्राप्त होती हैं। अमरीकी विद्वान मीलो क्लेवलैंड ने बाल साहित्य के रूप में 'एडवेंचर आफ राम' शीर्षक से रामकथा की रचना की है।

चीनी साहित्य में राम कथा पर आधारित कोई मौलिक रचना नहीं है। सन 472 में ची-चिया-य ने त्सा-पाओत्रत्सांग-चिग नामक चीनी रामायण की रचना की। ग्रन्थ के उपसंहार में रामराज्य का गुणगान है। बौद्ध धर्म के ग्रन्थ त्रिपिटक के चीनी संस्करण में रामायण से सम्बंधित दो रचनाएं देखने को मिलती हैं - अनामकं जातकम और दशरथ कथानम। फादर कामिल बुल्के के अनुसार तीसरी शताब्दी में अनामकं जातकम का कांग-सांग-हुई ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था जिसका मूल भारतीय पाठ अप्राप्य है। चीनी अनुवाद लियेऊ-तुत्सी-किंग नामक पुस्तक में सुरक्षित है।

फिजी में पहुंचे अप्रवासी भारतीयों के घरों में आरती और हनुमान चालीसा के पाठ आम तौर पर सुने जा सकते हैं। कैनेडा के घनी आबादी वाले व्यावसायिक शहर टोरंटो में भगवान राम, शिव, गणेश एवं मां काली के कई मंदिर हैं। कैनेडा के ब्रैम्प्टन, मिसिसागा, मारकहम, नॉर्थ यॉर्क, ओकविले, रिचमंडहिल, स्केरबरो आदि कई शहरों में कई हिंदू मंदिर हैं।

श्रीलंका का तो भारत और भारतीय संस्कृति से अटूट सम्बन्ध है। राम कथा और लंका एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। लंका के रावण को ही भारतीय संस्कृति में बुराइयों के प्रतीक के रूप में माना गया है। श्रीलंका के संस्कृत एवं पाली साहित्य का प्राचीन काल से ही भारत से घनिष्ट संबंध था। भारतीय महाकाव्यों की परंपरा पर आधारित 'जानकी हरण' के रचनाकार कुमार दास के संबंध में कहा जाता है कि वे महाकवि कालिदास के अनन्य मित्र थे। कुमार दास (512-21ई.) लंका के राजा थे। इतिहासकारों ने उनकी पहचान कुमार धातुसेन के रुप में की हैं। कालिदास के 'रघुवंश' की परंपरा में विरचित 'जानकी हरण' संस्कृत का एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसकी महनीयता इस तथ्य से रेखांकित होती है कि इसके अनेक श्लोक काव्य शास्त्र के परवर्ती ग्रंथों में उद्धृत किये गये हैं। इसका कथ्य वाल्मीकि रामायण पर आधारित है।

सिंहली साहित्य में राम कथा पर आधारित कोई स्वतंत्र रचना नहीं है। मरकत बुद्ध मंदिर में रामकथा के 178 चित्र हैं जिनमें सीता के जन्म से रामराज्याभिषेक तक की कथा के साथ जानकी के निर्वासन से उनकी अयोध्या वापसी तक के संपूर्ण वृत्तांत का चित्रण हुआ है।

साइबेरिया के बुर्यात प्रदेश में जहां हमेशा बर्फ ही रहती है, मोंगोलो के आभ्यंतर और बाह्य भागों में, और रूस की महानदी बोलगा के तट पर रहने वाले काल्पुकों में भी राम का चरित सुनाया जाता रहा है। सम्राट कुबलाई खान के गुरु साचा पंडित आनंदध्वज (1182-1251)ने एर्देनियाँ सांग सुवाशिदी लिखी। इसका पूर्ण संस्कृत नाम सुभाषितरत्ननिधि है।, इसमें रामायण का सारांश मिलता है।

मॉरीशस पर लंबे समय तक फ्रांस का आधिपत्य रहा है, यहां अंग्रेजी और फ्रेंच के साथ क्रियोल भाषा बोली जाती है। क्रियोल

भाषा हिंदी और फ्रेंच को मिलाकर बनाई गई भाषा है जो यहाँ के निवासियों की बहुत पसंद की भाषा है। हिंदी और भोजपुरी बोलने वालों की संख्या भी बहुत है। बोलने में कठिनाई भले हो पर यहाँ के लोग हिंदी को खूब समझते हैं।

मॉरीशस में भारतीयता को पहचान पाना कठिन नहीं है। यहाँ की संस्कृति भारतीय रंग में ही रची बसी है। इतिहास में रुचि रखने वाले लोग जानते हैं कि भारत में जब अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष चल रहा था, तब अपनी स्थिति बेहतर बनाने के लिए अंग्रेजों की नजर मॉरीशस पर गई। उन्होंने मॉरीशस पर आक्रमण किया और इसे फ्रांसीसियों से छीन लिया। फ्रांसीसियों ने हारकर सत्ता तो अंग्रेजों के हवाले कर दी, पर अपनी सांस्कृतिक शक्ति को बचाए रखा। उन्होंने यहां के भारतीयों के साथ हिंदी व फ्रेंच को मिलाकर नई बोली का आविर्भाव किया, उसे ही अब क्रियोल के नाम से जानते हैं। भारतीय संस्कृति को पुष्पित-पल्लवित होने देने में फ्रांसीसियों ने परोक्ष योगदान किया। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व जब भारतीय यहां पहुंचे, तो उन्होंने इसे 'मारीच देश' कहा था। रामायण की अनुगूंज आज भी यहां भारतीयों की आस्था का केंद्र है। श्रीरामचरित मानस की चौपाइयां यहां कष्ट में फंसे लोगों के लिए संजीवनी बूटी का काम करती हैं। मॉरीशस में आज भी भारतवंशियों के आंगन में हनुमान जी के चबूतरे और लाल झंडियां सांस्कृतिक मूल्यों के विजय की लघुपताकाएं बनकर लहरा रही हैं।

मारीशस में रामायण केंद्र की स्थापना 2001 में हुई। विश्व में मारीशस एकमात्र देश है जिसकी संसद में रामायण पर चर्चा हुई और एक विधेयक पारित कर देश में रामायण केंद्र आरम्भ किया गया। 15 अगस्त 2002 के दिन तुलसी जयंती के पावन अवसर पर प्रधानमंत्री सर अनिरुद्ध जगन्नाथ ने रामायण केंद्र का शिलान्यास किया। इस केंद्र में विश्व की समस्त रामायणों तथा उससे सम्बंधित साहित्य को संग्रह करने का लक्ष्य है।

✦✦✦

विश्व में भारतीय संस्कृति का आधार

—डॉ. श्रुति

रामकथा भारतीय संस्कृति की आत्मा है। रामकथा के विकास का इतिहास भारतीय संस्कृति के विकास का इतिहास है। उसके निर्माण में संस्कृति के सभी तत्वों जैसे धर्म, जीवन दर्शन, सामाजिक आदर्श आदि का योगदान है। वास्तव में रामकथा का बीज मानव संस्कृति के विकास की आदिम अवस्था में ही पड़ चुका था क्योंकि वाल्मीकि द्वारा लोक से ग्रहण किए जाते समय तक रामकथा का रूप पुष्ट हो चुका था। वस्तुत: भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धान्तों को लेकर विकसित होने के कारण, रामकथा भारतीय संस्कृति का अंग ही नहीं, बल्कि स्वयं संस्कृति ही बन गई। यह रामकथा हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ-साथ सामाजिक आस्थाओं से भी जुड़ी है, क्योंकि राम धर्म से इतर मानव मूल्य के भी संस्थापक हैं।

रामकथा का समग्र विश्व में व्यापक प्रसार हुआ, फादर कामिल बुल्के ने अपने शोध प्रबंध 'रामकथा उत्पत्ति और विकास ' में बड़े विस्तार से विश्व में रामकथा के विभिन्न रूपों की चर्चा की है। यदि भारत समेत इन सभी रामकथाओं के मूलरूप को देखें तो उनमें प्रमुख कार्य है 'सीताहरण'। पिता की आज्ञा मान कर राम का वन जाना उस कार्य की पृष्ठभूमि और रावणवध परिणाम है। सीता राम की अर्धांगिनी हैं, जिनके हरण को सहजता से स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'मनुष्य आदिम युग से ही शक्ति के उपार्जन का अभिलाषी रहा है, जिससे वह जीवन की सामान्य गति में बाधक बनने वाले तत्वों का प्रतिकार कर सके। मानव संस्कृति के विकास की उस प्रारंभिक अवस्था में, बड़े से बड़े शत्रु का पूर्ण प्रतिकार करके अपने प्राप्य को प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति परम आदर्श माना जाता होगा। मानव संस्कृति की प्रारंभिक अवस्था में ही इस प्रकार के आदर्श व्यक्ति की कल्पना रही होगी। रामकथा के मूल रूप का 'राम' मानव की इसी कल्पना का परिणाम है।' (तुलसी काव्य नये-पुराने संदर्भ, डॉ. रामबाबू शर्मा, 1984, पृ. 93) तुलसी ने भी राम के चरित्र को रचते हुए कहा 'तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष बान

सम्पर्क: हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

लो हाथ।' राम का यह चरित्र आपदाओं के घटाटोप अंधेरे में दिग्भ्रमित मनुष्यों के लिए रोशनी और संबल का प्रतीक बन गया।

1834 से 1920 के मध्य, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा हजारों लाखों की संख्या में भारतीयों को छल-प्रलोभन से फंसाकर गिरमिटिया अर्थात एग्रीमेन्ट या शर्तबन्दी मजदूर के रूप में मॉरीशस, फीजी, सूरीनाम, त्रिनिडाड, गयाना और दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में भेजा गया, क्योंकि 1833 में ब्रिटिश संसद द्वारा दास प्रथा उन्मूलन विधेयक पारित होने पर इन देशों के दासों ने कार्य करने से मना कर दिया था। इन भारतीयों के साथ गुलामों या जानवरों जैसा व्यवहार किया जाता था। भूख, बेबसी, लाचारी और जमींदारों के अत्याचार से पीड़ित ये भारतीय खेतों में रात-दिन काम करने के लिए मजबूर थे। चाबुकों और लातों की मार से इनकी पीठों से पसीने के साथ खून की धार बहने लगती थी, जिसे मॉरीशस के प्रसिद्ध कथाकार अभिमन्यु अनत ने 'लाल पसीना' कहा है और इन अन्यायों की कहीं सुनवाई भी नहीं थी। 'ऐसे दारुण समय में उनके रिसते घावों पर मरहम लगाने का काम तुलसीकृत 'रामचरितमानस' ने किया था। उनके सारे कष्टों और मानसिक पीड़ा को दूर करने वाली एक ही संजीवनी उनके पास थी और वह थी उनकी 'रामायण', जिसे फीजी के प्रवासी भारतीय 'रामायण – महारानी' कहते हैं।

नीदरलैण्ड निवासी कमला जगमोहनसिंह का कथन यहां महत्वपूर्ण है-'आज से लगभग दो सौ साल पहले अंग्रेजों ने हजारों भारतवासियों को रोजी-रोटी का लालच दिखाकर केवल आठ-आठ आने कमाने के लिए जहाजों पर विदेशों में भेजा।वहां वे उनसे पशुओं की तरह काम लेते थे। वे मातृभूमि और परिवार को छोड़ने से पहले थाती के रूप में गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायण साथ ले गये थे। रामचरितमानस और हनुमान चालीसा उनका सच्चा साथी था। दक्षिण अमेरिका के इन तीन देशों – ट्रिनिडाड, गयाना और सूरीनाम में रामचरितमानस को बहुत महत्व दिया जाता है। मानस ने यहां भारतीय संस्कृति को जीवित रखा।' (मानस संगम, सं. बद्री नारायण तिवारी, अगस्त, 1997, पृ. 67)

भारतीय हिन्दू जनता सहज भक्ति भावना से प्रेरित होकर यदि रामकथा और विशेष रूप से मानस पर अपने श्रद्धासुमन अर्पित करती है तो उतना आश्चर्य नहीं होता, किन्तु यदि इस्लामोपासक और ईसाई मतावलम्बी आलोचक मनोमुग्ध होकर रामकथा की गंगा में निमज्जित होते हैं तो सुखद आश्चर्य होता है। सबसे पहले कविवर रहीम ने 'रामचरितमानस' के लिए कहा 'यह हिन्दुओं का वेद है और यवनों का प्रत्यक्ष कुरान है।' उस समय यह एक साहसपूर्ण घोषणा थी, क्योंकि धार्मिक संकीर्णता के उस युग में ऐसे कथन अपघाती हुआ करते थे। यूं तो कुछ वर्ष पहले नज़ीर बनारसी ने भी कहा था-

दिल का इरादा तो है वहाँ तक पहुंचूं,
अब अपनी पहुंच पर है कहां तक पहुंचूं।
तुलसी पै तो लिख के यहां तक पहुंचे,
राम पै लिखूं तो कहां तक पहुंचूं।

(मानस संगम, सं. मदन मोहन शर्मा, नवम्बर 1999, पृ. 22)

भारतीय जनमानस पर राम का उदात्त चरित्र जीवन की सामान्य एवं असामान्य परिस्थितियों में भी लोकमंगल की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील शाश्वत चरित्र के रूप में अंकित है। भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम के इसी उदात्त चरित्र ने वैश्विक स्तर पर अनेक विद्वानों को आकर्षित किया, जिन्होंने न सिर्फ रामकथा का अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद कर उसे एक वैश्विक स्वरूप प्रदान किया बल्कि रामकथा में वर्णित भारतीय संस्कृति और जीवन आदर्शों को आत्मसात भी किया। रामकथा के विदेशी गायकों में पहला नाम है हिन्दी के प्रथम इतिहासकार 'गार्सा द तासी' का, जिन्होंने अपने ग्रंथ 'इस्त्वारद लालितरेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' में तुलसी के जीवन दर्शन के साथ ही मानस की कथा संयोजना और भाषा आदि की सराहना की। इस क्रम में रामकथा पर विश्व में प्रथम शोधकार्य करने वाले इटैलियन विद्वान डॉ. लुइजि पियो तेस्सितोरी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 1911 में प्रो. पैवालिनी के निर्देशन में 'रामचरितमानस और रामायण' विषय पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने गहन अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पारम्परिक

रामकथा को तुलसीदास ने मानस में मुख्य कथा के रूप में तो वाल्मीकि रामायण से लिया है, किन्तु उसका अन्धानुकरण न करते हुए युगानुरूप इस प्रकार रचा है कि वह 'युग का समाधान' बनकर प्रस्तुत हुई।

इसके पूर्व मानस के प्रथम अंग्रेज अनुवादकर्ता फ्रेडरिक सोलोमन ग्राउस ने 1876-77 में मानस का ऐसा अनुवाद किया कि उसका मूलरस, कथाप्रवाह और काव्य सौंदर्य अक्षुण्ण रहा। उन्होंने भरत के भ्रातृत्व, सीता की पति परायणता और लक्ष्मण की निर्भीकता की विस्मय विमुग्ध होकर सराहना की है। 'वे इतने कल्पनाशील और रामायण प्रेमी थे कि उन्होंने अपने रामायण के अंग्रेजी अनुवाद के आवरण पर तत्कालीन प्रथा के अनुसार बेलबूटे न देकर रामायण की दो चौपाइयों को दिया था, और इन दो चौपाइयों का चुनाव ही उनकी रामायण-भक्ति को प्रकट करता है। आवरण के ऊपर अर्द्धाली थी- 'रामचरित मानस यह नामा' नीचे छपी थी-'सुनत श्रवण पाइय विश्रामा' तथा दाएँ-बाएँ किनारों पर ये अर्द्धालियां छपी थीं-'मन करि विषय अनल बन जरहीं' तथा 'होंहि सुखी जो यहि सर परहीं।'

पश्चिमी विद्वान टामसन ने तुलसी को लोकजीवन का चितेरा कहते हुए आदर्श मानव माना है तो रेवरेंड ई. ग्रीव्ज़ का मानना था कि इंग्लैण्ड के किसी भी कवि का जनता से वह संबंध नहीं रहा, जैसा कि इस देश की जनता से तुलसीदास का है। रूसी भाषा में रामचरितमानस के अनुवाद का श्रेय अलेक्सेई पत्रोवेच वारान्निकोव को है। मानस का पद्यानुवाद उन्होंने किसी अज्ञात प्रेरणा से 1936 में शुरु किया जो 1948 में पूर्ण हुआ। प्रकाशन के साथ ही इस अनुवाद की एक लाख से अधिक प्रतियों का बिक जाना, सोवियत रूस में रामकथा की लोकप्रियता को दर्शाता है। अनुवाद कार्य का शीर्षक 'राम के शौर्यमय कार्यों का सागर' ही वारान्निकोव के मनोभाव को व्यक्त करता है।

पाश्चात्य विचारकों में भारतीय साहित्य के अनन्य अध्येता जार्ज ग्रियर्सन ने अत्यंत गहन अध्ययन द्वारा तुलसीदास एवं रामकथा के महात्म्य को सदाशयतापूर्वक उद्घाटित किया। मानस के चरित्रों की तुलना योरोपीय साहित्य से करते हुए वे अपना एक निश्चित मत प्रतिपादित करते हैं कि ऐसा शील निरूपण समूचे अंग्रेजी साहित्य में अप्राप्य है। (तुलसी मत, प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित, 2009, पृ. 30) मानस के आदर्श और भारतीय संस्कृति को अपने जीवन में आत्मसात कर, अपने शोधप्रबंध 'रामकथा उत्पत्ति और विकास' के माध्यम से मानस की लोकप्रियता को समग्र विश्व में प्रसारित करने वाले विदेशी विद्वानों में रेवरेण्ड फादर कामिल बुल्के का नाम अग्रगण्य है। इनके अतिरिक्त अनेक योरोपीय विद्वानों ने रामकथा का अध्ययन कर उसका अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद कर विश्व में रामकथा के साथ भारतीय संस्कृति का भी प्रसार किया।

रामकथा केवल योरोप ही नहीं वरन भारत के निकटवर्ती देशों की संस्कृति और साहित्य का भी अंग रही। इसकी एक धारा उत्तर की ओर फैल गई, जिसका प्रमाण तिब्बती और खोतानी रामायणों में मिलता है। एक दूसरी धारा हिन्देशिया तक पहुंच गई और वहां से हिन्द-चीन, तत्पश्चात श्याम और फिर वहां से बर्मा तक फैल गई। (रामकथा उत्पत्ति और विकास, फादर कामिल बुल्के, 2007, पुनर्मुद्रित,पृ. 2007-223)

निस्संदेह मानस भारतीय संस्कृति की सुयश पताका है और रामकथा मानव जीवन की आचार संहिता है, जिसके अन्तर्गत जीवन के प्रत्येक संवेदनात्मक पहलू को व्यावहारिक आदर्श के रूप में मात्र प्रस्तुत ही नहीं किया गया बल्कि राम के माध्यम से युगानुरूप समस्याओं का समाधान खोजने का सार्थक प्रयास भी किया गया है। वाल्मीकि कृत रामायण हो अथवा तुलसीदास कृत रामचरितमानस, रामकथा के कारण ही ये भारतीय संस्कृति के प्रतीक नाम हो गए। समाज और व्यक्तिगत जीवन के अनेक रूपों का जो बारीक निदर्शन, उनके रिश्तों की सापेक्षता, हमारी सांस्कृतिक आस्था का संवेदनशील चित्रण जैसा राम कथा में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है और यही उसके वैश्विक प्रसार का आधार भी है।

✦✦✦

इक्कीसवीं सदी और भारतीय संस्कृति

—प्रो. उमेश कुमार सिंह

भारतीय संस्कृति अर्थात् धर्म, दर्शन, भक्ति, वैदिक ज्ञान-विज्ञान, कर्मकाण्ड, सभ्यता, साहित्य, संगीत, और इतिहास। यही संस्कृति आगे सांस्कृतिक जीवन दृष्टि को तैयार करती है। जिसे हम 'चिरपुरातन एवं नित्य नूतन' कहते हैं। भारत में यह प्रकाश समुच्चय जिस मूल से स्फुटित होता है, उसे 'लोक' कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो भारतीय संस्कृति इसी 'लोक' का वह उत्स है जहाँ से सभ्यता के रूप में प्रकट हो कर यह वर्षों-वर्षों से संसार को मानवता का संदेश दे रही है।

किंतु अंग्रेजों ने 1835 के बाद इसकी पहचान मिटाने के लिये योजनापूर्वक पहले इस देश का नाम भारत या हिंदुस्तान से 'इंडिया' किया। होना यह चाहिए था कि जैसे औपनिवेशक वातावरण में स्वतंत्रता प्राप्त हुई राष्ट्र के तत्कालीन नेतृत्व को यूरोसेण्टिक विचारों को भारतीय मानस से उखाड़ फेंकना चाहिए था। दुर्भाग्य से हुआ इसके विपरीत और हमने न केवल आज भारत को उसके बदले नाम 'इंडिया' को स्वीकार कर लिया अपितु उसके परिणामों के प्रति भी अनजान बन अपनी आनेवाले पीढ़ी को उसमें ढकेलते रहे। इस बदली हुई दृष्टि के साथ सत्तारूढ़ों ने अपनी गौरवमयी संस्कृति के मूल तत्वों को नकारना प्रारंभ किया। हम जिस संस्कृति के आधार पर अर्थशास्त्र, कला, स्थापत्य-मंदिर निर्माण, योग, कालगणना, युद्ध-कौशल, शल्य चिकित्सा, विमानन सहित अन्यान्य सभी क्षेत्रों में अखिल विश्व में सिरमौर थे, उनको हीनता से आबद्ध कर दिया।

इक्कीसवीं सदी में हमारे राष्ट्रीय तथा वैश्विक जीवन में अनेक परिवर्तन आये। इनमें भोजन, भजन, भाषा, भूषा और भेषज है। सम्भवत: इन्हीं परिवर्तन को देखकर बंकिम बाबू औपनिवेशिकता से प्रभावित भारतीय समाज की स्थिति को 'भारत कलंक' में व्यंग्य करते हुये लिखते हैं, ''अंग्रेज भारतवर्ष के परमोपकारी हैं एवं जो हम कभी नहीं जानते थे, वह बता रहे हैं, जो कभी देखा नहीं, सुना नहीं, समझा रहे हैं, जिस रास्ते पर कभी चले नहीं; उस पर कैसे चलना चाहिए, वह दिखा रहे हैं। इस सभी शिक्षाओं के मध्य अनेक शिक्षाएँ अमूल्य हैं।'' यह व्यंग्य वास्तविकता बनकर हमारे समक्ष मानसिक कलंक के रूप

सम्पर्क: साहित्य अकादमी, मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद्, संस्कृति विभाग
मो: 9425600181 ई-मेल: umeshksingh58@gmail.com

में खड़ा है। इस कलंक को मिटाने की छटपटाहट हर भारतीय के भीतर सहज देखी जा सकती है, ऐसे में यह तलाश करना आवश्यक है कि आज इक्कीसवीं सदी में भारतीय संस्कृति का बोध कितना है। इसके लिए देश-काल और स्थिति को भी समझना आवश्यक है।

अमेरिका के चिन्तकों का मानना है कि राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में साहित्य और साहित्यिक की भूमिका का असाधारण महत्त्व है। सन् 1830 के युद्ध की समाप्ति तक का कालखंड 'अमेरिकन रिनेसेन्स' का माना जाता है। उनकी मान्यता है कि न्यू इंग्लैंड के साहित्यिक 'Brahmins' हेनरी वॅड्सवर्थ, लॉगफेलो, ऑलिवर वेडेल होम्स, जेम्स रसेल लोवेल के अतिरिक्त (Transcendentalist) राल्फ वालडो इमर्सन, हेनरी डेव्हिड थोरो, तथा अन्य साहित्यिकों के समान ही बेकन, कवि जॉन ग्रीनलीफ, व्हिट्टयर तथा हॅरियट बीचर स्टोव और इनके अतिरिक्त तीन कल्पनाशील साहित्यिक, हॉथार्न, मेलविले, विहटमन, एडगर ॲलन पो. तथा थॉमस पेन की कृतियों का अमेरिकन करेक्टर की निर्मिति में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

तात्पर्य यह कि किसी भी देश की दिशा और दशा उसकी मेधा तय करती है। भारत में भी श्रुति और स्मृति काल से लेकर उपनिषदों की व्याख्या तक राष्ट्र निर्माण की एक दिशा मिलती है। रामायण हो अथवा महाभारत इन महान ग्रंथों का संदेश मानवता के लिए अभिप्रेत है। ये जीवन मूल्य निर्माण के स्रोत हैं। भारत की प्राण शक्ति उसका आध्यात्म है। इसीलिए हम पाते हैं कि इसी आध्यात्मिकता को लेकर गाड फ्रेहडसन science of seership, की, मेडम राभस्कि का secret doctrine, सर अलिभर तज का making of man, सर जगदीशचन्द्र बोस की response in the living and non-living, सर जेम्स जिन्स का mysterious universe, प्रोफेसर एडिंगटन का the expanding universe प्रभृति किताबें भारतीय वेद एवं उपनिषदों के अध्ययन के परिणाम हैं जो आज जीवन के सत्य को दुनिया के सामने लाती हैं। इसलिए पुस्तकें मन को आनन्द तो देती ही हैं हमारी चेतना को संचारित भी करती हैं। महात्मा गांधी की 'स्वराज' हमारी प्रेरणा है।

संस्कृत में एक सुभाषित है- 'एक: शब्द: सम्यक् धीत: सम्यक् प्रयुक्त: स्वर्गलोके कामधुक भवति।' भाव यह कि यदि शब्दों का उपयोग ठीक से किया जाये तो अर्थ देते हैं अन्यथा पूरी पीढ़ी को अनर्थ के गर्त में ढकेल देते हैं। भारत की स्वतंत्रता के बाद जिस व्यक्ति और उसके विचार का सबसे अधिक प्रभाव पिछले 70 सालों में रहा वह गाँधी था, चाहे वह राजनीति हो या सामाजिक मूल्य। किंतु व्यक्ति के दर्शन को परंपरा और संस्कृति के प्रवाह से काटकर और केवल तर्क और विचार तक सीमित कर व्यवहार से दूर कर देने के कारण वह आज प्रासंगिक होते हुये भी कमतर होता जा रहा है। इसके साथ ही वैश्विक स्तर पर कई विचार एक साथ चले। एक है, 90 वर्ष पूर्व से भारतीय परंपरा, संस्कृति के संवर्धन और संरक्षण को लेकर 'नित्य नूतन चिर पुरातन' विचार-दर्शन जिसका मूल आधार भारतीय-दर्शन है, जिसके निरंतर सर्वस्पष्ट और सर्वव्यापी होते जाने के कारण आज 'संघ-दर्शन' कहा जाने लगा। दूसरा चीन-रूस पोषित मार्क्सवाद। तीसरा उत्तर आधुनिकता का पश्चिमी 'ग्लोबलाईजेशन'। पहला भारतीय 'चिति' को समेटे राष्ट्र-बोध के साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर बढ़ रहा है तो दूसरा काल मार्क्स की अंधेरी गली में दुनिया के मजदूरों को एक करता इतना सिकुड़ता गया आज उसके अस्तित्व पर ही प्रश्न खड़ा हो गया है, जो निरंतर उग्रता को प्राप्त करता हुआ तिरोहित हो रहा है। तीसरा उत्तर आधुनिकता का पश्चिमी 'ग्लोबलाईजेशन', बाजार आधारित, सुखवादी-दर्शन जिसको हमारे पश्चिमी पोषित विद्वान 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के समतुल्य मानते रहे हैं, किंतु अब यूरोपीय विखण्डन से लेकर अमरीकी जकडन और टूटन की संभावना ने उनके भ्रम को दूर किया होगा या जल्द ही करेगा, ऐसा मान्य किया जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि राष्ट्र जीवन में दर्शन-बोध कराने के लिये बीच में कुछ काल का बीत जाना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है। भारत के साथ भी ऐसा ही हुआ है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किंतु आज भारतीय विचार-दर्शन (नित्य नूतन, चिर पुरातन) का डंका सभी दिशाओं में बजना प्रारंभ हो गया है।

ऐसे में भारतीय राष्ट्रीय 'चिति' को समझने की आवश्यकता है। कानून किसी से हक को संरक्षण दे सकता है, किंतु कर्त्तव्य का बोध नहीं करा सकता। यह धर्म और संस्कृति के बोध का ही विषय है। धर्म-सद्बुद्धि/विवेक के विश्वास पर खड़ा रहता है। कानून-तर्क और अविश्वास पर खड़ा होता है। धर्म समाज प्रबोधन पर जोर देता है। कानून शासन का आधार

लेकर समाज को बांधा करता है। ऐसे में भारत का अध्यात्म ही 'ज्ञान-विवेक' तक समाज को पहुँचा सकता है। गीता में कहा है-अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यतदोअन्यथा।।

हमारी आधुनिक शिक्षा वैश्विक शिक्षा से प्रभावित यूरोसेन्ट्रिक है, सूचनात्मक है, उसे भारतीय ज्ञान परंपरा आधारित बनाना होगा। शिक्षा, राष्ट्र, संस्कृति, संस्कार, जीवन-मूल्य, जीवन-दर्शन, आचार-विचार, व्यवहार की धारणा शक्ति का विकास करे यह भारतीय दृष्टि है। क्या बिना प्राचीन गुरु-शिष्य परंपरा के यह संभव है? विचार करना होगा- लोकिकानां तु साधूनां अर्थ वागनुवर्तते। ऋषीनां पुनराद्यानां वाचमर्थोअनुधावति।।

अर्थात् लौकिक साधुओं के शब्द अर्थानुगामी होते हैं, किंतु आद्य ऋषियों के शब्द का अनुगमन अर्थ करता है। आप यह कह सकते हैं कि हम पुरागामी हैं। किंतु भारतीय 'चिति', ज्ञानपरंपरा, गुरु-शिष्य परंपरा अंत:बोध को समझने-समझाने के लिये एक प्रसंग के साथ अपनी बात समाप्त करता हूँ- विल्यम बार्सली की पुस्तक 'the gospel of john' में एक प्रख्यात प्रदर्शनी का जिक्र आता है, जिसमें एक लौकिक कला समीक्षक उस कला-प्रदर्शनी के चित्रों को देखकर कहता है- ''मैं इन कलाकृतियों में कुछ खास नहीं देखता।'' प्रदर्शनी के सेवक ने उस कला-समीक्षक को संबोधित करते हुये कहा, sir! I would remind you that these master pieces are no longer on trial, but those who look at them, are on trial वस्तुत: भारतीय ज्ञान परंपरा और पाश्चात्य शिक्षा चिंतन में उतना ही फर्क है जितना दीपक और बल्ब में। 'एक दीपक दूसरे दीपक को जला सकता है, किंतु एक बल्ब दूसरे बल्ब को नहीं। साहित्यकार की भूमिका बल्ब की है।'

हमारे ऋषियों की मान्यता है कि ''भारत की कुटुंब व्यवस्था हिंदू संस्कृति की प्रथम श्रेणी की विशेषता है। यद्यपि वह समस्त मानव जाति की धरोहर है, तथापि भारतीय कुटुंब व्यवस्था का स्थान विश्व में सर्वमान्य है। यहाँ भी उसका आधार ममता और प्रेम है। यहाँ के दार्शनिकों ने और समाज शिल्पियों ने उसको टिकाऊ बनाने के संस्कारों की व्यवस्था की। सर्वप्रथम उन्होंने कुटुंब के बंधु-विलय में सब प्रकार के रिश्तों को ध्यान में रखकर सबको स्थान दिया। उन सबको पहचानने के लिये रिश्तों की परिभाषा तैयार की। फलस्वरूप हिंदू परिवार की बंधु सूची में लगभग दो सौ से अधिक रिश्तों के नाम हैं। तुलना में तथाकथित प्रगत भाषा अंग्रेजी में बहुत कम है। उदाहरण के नाते अंग्रेजी 'अंकल' माता या पिता का छोटा या बड़ा भाई है। इसके लिये भारतीय भाषाओं में चार अलग शब्द है, 'ब्रदर-इन-लॉ'। भारतीय भाषा के बांधवी शब्दों में पचहत्तर प्रतिशत अंग्रेजी भाषा में अनुदित करना संभव नहीं। उसका अर्थ है उस समाज में बंधुता की पहचान यहाँ के समान पैनी नहीं। बंधुता संबंधित शब्द जितने अधिक, उतना विशाल है बंधुता का जाल। हिंदू का बच्चा-बच्चा इस वातावरण में पनपता है। उसका कुटुंब पश्चिम के बच्चे की कल्पना से विशाल है। हिंदू की कल्पना में कुटुंब पूरा परिवार है; जबकि पश्चिम व्यक्ति की कल्पना में आप, पत्नी और संतान हैं। कुटुंब में मिलने वाले संस्कार भी महत्वपूर्ण हैं।

सर्वोपरि, कुटुंब के सुदृढ़ अधिष्ठान के नाते हर कुटुंब का कुलदेवता रहता है, वह उसकी पहचान है। विश्व में कुलदेवता की संकल्पना और कहीं पर नहीं। सेमेटिक समाजों में बिल्कुल नहीं। इस संस्कृति में कृतज्ञता का भाव अतिप्रबल है। महाभारत में युधिष्ठिर से यक्ष का प्रश्न था- 'इस धरती से अधिक भारी क्या है, उत्तर था ''माता गुरुतरा भूमे:-माँ भूमि से भारी है।'' इसलिये पयस्विनी गंगा, पयस्विनी गौ, प्राणदात्री पृथिवी, प्रकाशदात्री गीता को हमने मातृरूप में देखा।' अनपढ़ किंतु संस्कारसंपन्न धीवरबंधु सागर को सागरमाता कहते हैं। क्रमश: यह भाव समग्र स्त्री जगत तक फैल गया और स्त्री यहाँ मातृरूप बन गयी।

वाल्मीकि रामायण में तिरस्कृत गौतमाश्रम में अहिल्या, जो 'तपसा द्योतिप्रभा, दीप्ता, महाभागा, दिव्या' बन चुकी थी, का चरणस्पर्श राम और लक्ष्मण ने उनको देखते ही किया। महाभारत में वर्णन आता है कि वन में पाँच पाण्डव भाईयों को मिलने पर श्रीकृष्ण उम्र से बड़े युधिष्ठिर-भीम का चरणस्पर्श, समवयस्क अर्जुन का आश्लेष और नकुल-सहदेव का मस्तक-चुंबन किया करते थे। राम और कृष्ण का ऐसा श्रद्धायुक्त आचरण इस माटी की संस्कृति की धरोहर बनी, तो क्या आश्चर्य?''

देश की उदीयमान पीढ़ी में इसी उत्तम भाव को विकसित करने हेतु यहाँ के हर एक गुरुकुल में उपनिषद का ऋषि अपने शिष्य को दीक्षांत में उपदेश देता है, ''मातृदेव बनो, पितृदेव बनो, आचार्यदेव बनो।'' जिसके हृदय में माता देवी के रूप में

प्रतिष्ठित हो, वही मातृदेव है। जिसके हृदय में पिता देवता के रूप में विराजमान हो, वही पितृदेव है। जिसके हृदय में आचार्य देव के रूप में दीप्तिमान हो, वही आचार्य देव है। महाभारत में यक्ष ने धर्मपुत्र से यह भी पूछा था कि आकाश से ऊँचा कौन है और धर्मपुत्र का उत्तर था पिता। अर्थात् धर्मपुत्र पितृदेव था। धर्मपुत्र के स्तर की पीढ़ी को गढ़ना, यह था हिंदू संस्कृति का ध्येय। आचार्य देव के मामले में, इस देश में शान्ति निकेतन में महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर गुरुदेव बन गये और केरल में संत श्री नारायण, नारायण गुरुदेव बन गये।

हिंदू संस्कृति में 'ग्राहक हमारा भगवान है' व्यापारी संस्कृति कहती है। दूसरी तरफ अपरिचित अज्ञात, अनपेक्षित आगंतुक हमारे लिये भगवान है। ध्यान देने का विषय है, गृहस्थ जो आतिथेय है, उनका विशेषण है 'अतिथिदेव', न अतिथि का। जब आतिथेय का हृदय अतिथि को भगवान सदृश देखने की उदात्त अवस्था में विकसित होता है तब वह अतिथिदेव बन जाता है। भारत का आम गृहस्थ अतिथि देव बने, यह है हिंदू संस्कृति की अपेक्षा और शिक्षा।

इस 'अतिथि देव' के भाव का प्रगट वास्तुरूप है आसेतुहिमाचल दृश्यमान धर्मशाला, चट्टी-चावड़, प्याऊ आदि। पुराने जमाने में ही क्यों, आज भी कोई भी परिव्राजक, संन्यासी, गैर संन्यासी कन्याकुमारी से बदरी तक असुविधा के बिना पैदल जा सकता है। स्वामी अखण्डानंद, स्वामी तपोवन महाराज आदि के 'हिमगिरिविहार' वर्णनों में तिब्बत तक की चट्टी-चावड़ियों के अनुभव कथन हैं परंपरागत क्रम से पैदल नर्मदा परिक्रमा करने वाले अनेक यात्री आज भी दिखाई पड़ते हैं।

भाषा का विचार करते समय उसकी पूरी सांस्कृतिक विरासत हमारे सामने खड़ी होती है। घटना तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन की है, जहाँ 10 हजार देशी-विदेशी हिंदी प्रेमी विद्वान उपस्थित है। विश्व हिंदी सम्मेलन के प्रणेता, मराठी भाषी हिंदी को समर्पित अनंत गोपाल शेवड़े को स्मरण करती हुई, हंगरी की कवियत्री ऐवा अरादि लिखती हैं, 'मैं जानती हूँ/ आपकी आत्मा स्वर्ग से/ एक स्वर्ण सडक् पर/ वहाँ आकर देखती होगी? कैसी है उन्नति/ आपके शुरू किये काम की/ आपका नाम किसी ने/ भी नहीं लिया/ यद्यपि आपने/ हिंदी के लिये/ अपना प्राण उत्सर्ग किया लेकिन मेरे मन में/ और मेरे दिल में/ आपका स्मरण/ और अनुकरण सदा जीवित है।' यह हंगरी की कवयित्री की दृष्टि भारतीय संस्कृति की प्रेरणा से है। वस्तुतः संस्कृति और मतम् अर्थात् सम्प्रदाय दोनों को एक-दूसरे के सामने खड़ा कर देने के कारण विरोधी दिखती हैं जबकि मत या संप्रदाय की प्रेरणा मुक्त होकर पूर्ण अर्जित करने की है, वहीं संस्कृति की प्रेरणा चरितार्थ होकर सात्विक आनंद प्राप्त करने की है। पश्चिम की मत को रिलीज़न अर्थात् धर्म के बराबर तथा संस्कृति को कल्चर के समान मान लेने से हमारे युग निर्माता युवाओं के चिंतन की दिशा भ्रमित हुई है।

शक्ति की उपासना सचमुच में भारतीय सांस्कृतिक परंपरा और अखण्ड भारत की उपासना रही है। यह केवल भारतीय चेतना के सामर्थ्य को नहीं बढ़ाती बल्कि विश्व की चेतना शक्ति को सौंदर्य का सामर्थ्य प्रदान करती है। यही भारतीय संस्कृति की वह शक्ति है, जो चराचर में व्याप्त है। संस्कृति के लिये भौगोलिक सीमा अस्थायी होती है। वह दो चार पीढ़ियों से लेकर दस-बीस पीढ़ियों तक की यात्रा करते, सिमटती, सिकुड़ती, फैलती और विस्तारित होती रहती है। 'स्व' भारत की वह प्राणशक्ति है, जिसे हम संस्कृति कहते हैं। इसलिये आज जब विश्व के 21वीं सदी के परिदृश्य को देखते हैं तो ध्यान में आता है कि हजारों-हजारों वर्षों से ऋषियों, मनीषियों, मुनियों, परिव्राजकों, तपस्वियों तथा गृहस्थों के आचरण से यह संस्कृति जीवन-मूल्यों तथा जीवन-दर्शन के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाहित होती हुई, अरुणरश्मियों की तरह विश्व भर में आच्छादित नाना प्रकार के तिमिरों को नष्ट करती है। भारत केवल भूखण्ड नहीं, कालजेयी सिद्धान्त, चिरंतन परंपरा, अक्षुण और अजस्त्र संस्कृति का संवाहक और संवर्द्धक रहा है। तभी तो शोपनहार कहता है, भारत विश्व मानव का आदर्श रहा है। किंतु जब-जब इसमें शिथिलता आई, हमारे मूल्यों का क्षरण हुआ, तब-तब परिणाम न केवल भारत-भूमि के लिये बल्कि विश्व समुदाय के लिये विभीषिका बन कर उल्कापात की तरह बिखरकर समूची मानवता को झुलसाते है।

विश्व भौतिकवादी जीवन का जिस तरह से आदी होकर विनाश के कगार पर खड़ा है उसमें यदि उसे मानवीयता के आधार पर सहुष्ण समाज की स्थापना करनी है, लोकमंगल की कामना से विश्वबन्धुत्व तक जाना है तो उसका आधार केवल और केवल भारतीय संस्कृति है।

✧✧✧

हिंदी, हिन्दुस्तानी और भारतीय संस्कृति

—डॉ. ओम निश्चल

इसमें संशय नहीं कि हम पर अंग्रेजों का राज रहा, मुगलों का राज रहा जिसके फलस्वरुप भारत में अंग्रेजी और उर्दू का बोलबाला बढ़ा। हम औपनिवेशिकता के अधीन थे इसलिए हम पर शासकों की भाषाएं थोपी गयीं। किन्तु कोई देश अपनी पहचान, अपनी संस्कृति और सभ्यता की पहचान अपनी भाषा या भाषाओं के जरिए ही रख सकता है। भारत एक बहुभाषी देश है जहां संविधान की आठवीं अनुसूची की 22 राज्यभाषाओं के अलावा भी कई भाषाएं हैं, तमाम समृद्ध बोलियां हैं जिन्हें बोली न कह कर भाषा ही कहा गया। वे सब मिल कर भारतीयता के हक में एक बड़े प्रभामंडल का निर्माण करती हैं। जैसे बिना अभिव्यक्ति के व्यक्ति मूक है वैसे ही बिना अपनी भाषा या भाषाओं के कोई भी देश गूंगा है। फर्ज कीजिए भारत के हिंदी भाषी प्रदेशों में सब जगह अंग्रेजी फैल जाए, सब अंग्रेजी बोलते मिलें, गांव, कस्बे, शहर सब जगह केवल अंग्रेजी होय तो यह देख कर क्या किसी भारत का आभास होगा। क्या इससे भारतीय संस्कृति का अहसास होगा। नहीं। इससे धीरे धीरे भारतीयता और भारतीय संस्कृति के विलोपन का अहसास होगा।

महात्मा गांधी हिंदी और हिंदुस्तानी के समर्थक थे। सर सुंदरलाल ने भी हिंदुस्तानी को बढ़ावा देने का काम किया। गांधी मुसलमानों के रहन सहन, उनकी स्वीकार्यता को लेकर उदार थे, अपने प्रवचनों, अपनी बातचीत में वे हिंदुओं और मुसलमानों में एकता देखना चाहते थे। कहीं मुसलमानों को तंग किया जा रहा हो, या हिंदुओं को सताया जा रहा हो तो इसके प्रति उनके मन में करुणा उपजती थी। वे दोनों कौमों को समझाने का यत्न जीवन भर करते रहे। उर्दू भी मुगल शासन के दौरान फूली फली किन्तु हिंदुस्तानी के विकास में उर्दू का भी अपना योगदान है, वे इस बात को नहीं भूलते थे। वे जानते थे कि उर्दू जो हिंदी में सदियों से घुली मिली है उसे आत्मसात किया जाए और एक ऐसी भाषा विकसित की जाए जिससे आम आदमी उसे समझ सके, उसे बरत सके। गांधी जी खुद गुजराती थी, अंग्रेजी माध्यम से उच्च तालीम ली किन्तु बरसों अफ्रीका में काम करने व बैरिस्टरी करने के बावजूद उनके अंत:करण में हिंदी हिंदुस्तानी व भारतीयता के प्रति एक खास लगाव था। 18 अक्तूबर 47 को दिए अपने प्रवचन में उन्होंने पूछा था, ''क्या

सम्पर्क: जी-1/506ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059 मो: 8447289976 ई-मेल: omnishchal@gmail.com

अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा होने वाली है? बहुत साफ साफ मैं कहना चाहता हूँ कि वह तो कभी हो ही नहीं सकती। इसमें पड़ने की कोशिश तक न करें। यदि करते हैं तो इसमें हमें हारना है।'' (प्रार्थना प्रवचन, खंड 1, पृष्ठ 413) उनके इस विचार की जो भी फलश्रुति रही, पर इतना तय है कि 14 सितंबर 1949 को जिस भाषा को संविधान में राजभाषा का दर्जा दिया गया, वह कोई एक सदी की भाषा नहीं, बल्कि वह तो सदियों की बोली जाने वाली भाषा रही है।

गांधी और हिंदुस्तानी

खड़ी बोली में लेखन का इतिहास भले एक डेढ़ सदी पुराना हो, पर लेखन में हिंदुस्तानी लहजा सदियों पुराना है। सूरदास, कबीर, तुलसीदास, नानक, रैदास, मीरा ने जिस भाषा में लिखा, वह कोई संस्कृतनिष्ठ हिंदी नहीं, बल्कि आम लोगों की समझ में आने वाली हिंदी थी। यही वजह है कि सदियों पहले लिखे गए संत साहित्य का प्रसार पूरे देश में तब हुआ जब संचार का आज जैसा कोई त्वरित साधन न था। इन संतों को यह समझ थी कि हिंदी - हिंदुस्तानी में लिख कर पूरे देश में पहुंचा जा सकता है, किसी अन्य भाषा में नहीं। एक प्रवचन में गांधी ने हिंदुस्तानी की हिमायत में यह बात कही कि ''हमारे यहां हिंदी और उर्दू ये दो भाषाएं हैं जो हिंदुस्तान में बनीं और हिंदुस्तानियों द्वारा बनाई गयी हैं। उनका व्याकरण भी एक ही रहा है। इन दोनों को मिलाकर मैंने हिन्दुस्तानी चलाई। इस भाषा को करोड़ों लोग बोलते हैं। यह एक ऐसी सामान्य भाषा है जिसे हिंदू और मुसलमान दोनो समझते हैं। यदि आप संस्कृतमय हिंदी बोलें या अरबी फारसी के शब्दों से भरी हुई उर्दू बोलें, जैसा कि प्रो.अब्दुल बारी बोलते थे तो बहुत कम लोग उसे समझेंगे। तो क्या हम द्राविड़स्तान की चारों भाषाओं का अनादर कर दें। मेरा मतलब यह है कि वे मातृभाषा के तौर पर अपनी अपनी प्रांतीय भाषा को रख सकते हैं, मगर राष्ट्रभाषा के नाते हिंदुस्तान को जरूर सीख लें।''

वे कहते थे, ''यदि मैं अंग्रेजी में बोलना शुरु कर दूं तो आपमें से बहुत कम लोग समझेंगे। 8-10 वर्ष परिश्रम करें तब कहीं लंगड़ी अंग्रेजी हम सीख पाते हैं। इस तरह से तो सारा हिंदुस्तान पागल बन जाएगा। अत: अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। वह दुनिया की भाषा या व्यापार की भाषा रह सकती है, हालांकि दुनिया की भाषा भी अभी तक कोई बाजाब्ता तय नहीं हुई है। हिंदुस्तान की भाषा तो हिंदुस्तानी ही रहने वाली है।, इसमें मुझे कोई शक नहीं है। प्रांतीय भाषाएं अपनी अपनी जगह बनी रह सकती हैं परन्तु सबसे ज्यादा लोग जो भाषा बोलते हैं, वह हिंदुस्तानी ही है। ''उन्होंने कहा था कि दक्षिण भारत के लोगों को हिंदुस्तान सीख लेनी चाहिए। इन्हीं उद्देश्यों से उन्होंने हिंदुस्तानी प्रचार सभाओं की स्थापनाएं कराई। आज पूरे देश में साधारण हिंदी कहीं भी बोली और समझी जाती है। तमिलनाडु के शहरों में भी लोग अब हिंदी के उतने विरोधी नहीं रहे जितना वे हिंदी के राजभाषा बनने और राजभाषा नियम लागू किए जाने के दिनों में थे। गांधी हिंदी साहित्य सम्मेलन से भी जुड़े थे पर वहां बोली जाने वाली उच्चस्तरीय हिंदी के वे समर्थक न थे इसलिए उससे निकल आए। लोग उन पर तंज करते कि कहां हिंदी के समर्थक हुआ करते थे कहां यह हिंदुस्तानी? गांधी कहते थे, ''मेरी हिंदी तो अजीब प्रकार की है। मेरी हिंदी वह नहीं है जो साक्षर बोलते हैं। मैं तो टूटी फूटी हिंदी बोलता हूँ। मगर आप समझ लेते हैं। मैंने तुलसीदास पढ लिया है पर मैं हिंदी में साक्षर नहीं हुआ हूँ। उर्दू में भी साक्षर नहीं बना हूं, क्योंकि मेरे पास उतना वक्त नहीं है।'' वे कहते थे, ''न मुझे हिंदी चाहिए, न उर्दू। मुझे गंगा-जमुना का संगम चाहिए। अगर मैं अकेला रहूंगा तो भी यही कहूंगा कि मैं तो हिंदुस्तानी को ही राष्ट्रभाषा मानता हूँ।'' गांधी में यह बुनियादी समझ थी कि प्रांतों में प्रांतीय भाषाओं का प्रसार हो पर देश में हिंदी-हिंदुस्तानी चले। आम नागरिकों की तरह वे यह जानते थे कि अंग्रेज भले चले जाएं अंग्रेजियत से हम मुक्त नहीं होने वाले। यही वजह है कि आज आजादी के दशकों बाद भी हिंदी के प्रचार प्रसार के लिए जो संसाधन भारत सरकार दे रही है, उसका शतांश भी अंग्रेजी को मुहैया न कराने के बावजूद अंग्रेजी तालीम के हर स्तर पर स्वीकार्य भाषा बनी हुई है। गांधीवादी चिंतक दिनकर जोशी ने क्षोभपूर्वक लिखा है कि तीन या चार वर्ष के छोटे छोटे मासूमों को गले में फंदे के समान बंधी टाई लगाकर अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में जाते हुए देखते हैं तब लगता है हम स्वराज से अभी काफी दूर हैं। (हिंद स्वराज, पृष्ठ 41) कैसी विडंबना है कि गांधी के देहावसान के 70 साल बाद भी हिंदी एक अनामंत्रित अतिथि की तरह संविधान द्वारा प्रदत्त तथाकथित उच्च आसन पर विराजमान होकर भी जन जन का कंठहार नहीं बन पाई है।

संत कवियों की बानी

गांधी ने हिंदुस्तानी की ताकत संत कवियों को पढ़ कर पहचानी थी कि कैसे देश भर में संत कवियों की पहुंच रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम हर तरफ संतों के संदेश पहुंच जाते थे। संतों के परिव्राजक स्वभाव की तरह हिंदी भी परिव्राजकों के पीछे पीछे

चलती रही है। यही वजह है कि यह हिंदी मीरा की जबान पर थी, तो सूरदास की जबान पर भी। नानक के पदों में यही हिंदी थी (चाहे वह गुरुमुखी में ही क्यों न हो) तो कबीर की साखी सबद रमैनी में भी यही हिंदी रही है। संत रविदास काशी के थे तो कबीर का भी काशी और मगहर से नाता था। तुलसी बांदा के रहने वाले थे तो मीरा राजस्थान की। सूरदास का नाता मथुरा से था तो सुंदरदास का दौसा, राजस्थान से। दादू के शिष्य रज्जब भी राजस्थान के थे। नानक का रिश्ता लाहौर से था तो मलूकदास का इलाहाबाद से। ये सभी संत 13हवीं शताब्दी से लेकर 16हवीं शताब्दी के बीच हुए तथा अपनी सधुक्कड़ी भाषा में रचनाएं लिखीं। पढ़े लिखे कवियों के बीच आज भी निर्गुण सगुण धारा के भक्त एवं संत कवियों की रचनाएं जीवन की सच्ची सार्थकता का पाथेय हैं।

गांधी अपनी प्रार्थना सभाओं में सरल सहज भाषा में लिखी प्रार्थनाएं दुहराते थे। कभी सूरदास, कभी मीरा, कभी कबीर, कभी तुलसीदास, कभी मध्यप्रांत के संत तुकड़ो जी के भजन गाया करते। साधो मन का मान त्यागो, मों सम कौन कुटिल खल कामी, वैष्णव जन तो तेणे कहिए, हरि तुम हरो जन की की भीर, इस तन-धन की कौन बड़ाई, सबसे ऊँची प्रेम सगाई, पानी में मीन पियासी रे, मोहिं सुन-सुन आवे हांसी, किस्मत से राम मिला जिसको/ उसने ये तीन जगह पाई/ बिसर गई सब तात पराई/ जब ते साधु संगत पाइ/ नहिं कोई बैरी बेगाना / सकल संग हमरी बन आई ---जैसे भजन। हम जानते हैं कि सहज सरल भाषा में लिखी गयी प्रार्थनाओं का अपना असर होता है। प्रार्थनाएं मन की शुद्धि के लिए होती हैं। गांधी सरलचित्त मनुष्य थे पर वे देश में रहने वाली हर कौम के प्रति सहिष्णु थे। विभाजन के दंश से गुजरते हिंदुस्तान में उनके विचारों की आलोचना भी होती थी पर वे न केवल हिंदुओं के लिए बल्कि मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों के हितों के प्रति चिंतित रहते थे। गांधी जी को दूर दूर से तार संदेश आते थे। उन्हें पूरे देश की खबर रहती थी कि किस इलाके में क्या हो रहा है। हिंदू मुसलमानों के बीच यदि कहीं कोई संघर्ष है तो उसे दूर करने की उन्हें चिंता रहती थी। किसी इलाके में यदि हिंदू धर्म के लोग कुछ गलत करते थे तो वे उन्हें भी समझाते थे। प्रार्थना प्रवचन इसके लिए उपयुक्त स्थल होता था। यहां दिया गया उनका संदेश दूर तक पहुंचता था। कहना यह कि वे अंग्रेजी जानते हुए भी लोगों बातचीत हिंदी में किया करते थे। उनका समाधान हिंदी में सुझाते थे। हिंदी, हिंदुस्तानी के प्रति उनका नजरिया बहुत समावेशी था।

भाखा बहता नीर

आज से सदियों पहले कबीर ने कहा था, संस्कीरत है कूप जल, भाखा बहता नीर। पर हिंदी के निबंधकार कुबेरनाथ राय कबीर की इस अवधारणा से सहमत नहीं। वे संस्कृत को कुएं का जल कहे जाने के संकुचित दृष्टिकोण के खिलाफ थे। उन्होंने इस शीर्षक से एक पूरा निबंध ही लिखा है। कुबेरनाथ राय कहते हैं, ''संस्कृत कूपजल मात्र नहीं। उसकी भूमिका विस्तृत और विशाल है। वह भाषा-नदी को जल से सनाथ करने वाला पावन मेघ है, वह परम पद का तुहिन बोध हैं, वह हिमालय के हृदय का 'ग्लेशियर' अर्थात् हिमवाह है। जब हिमवाह गलता है तभी बहते नीर वाली नदी में जीवन-संचार होता है। जब उत्तर दिशा में तुषार पड़ती है तो वही राशिभूत होकर हिमवाह का रूप धारण करती है। जब हिमवाह पिघलता है जो नदी जीवन पाती है, अन्यथा उसका रूपांतर मृतशैय्या में हो जाता है।'' संस्कृत सारी भारतीय भाषाओं की जननी तो है, पर कुएं की जल की तरह है। कुएं का जल यानी जैसा पंडित वर्ग इस भाषा पर कब्जा जमाए रहा, इसे जनता में फूलने फलने नहीं दिया। आसानी से अलभ्य। अप्राप्य, अग्राह्य। यों तो यह गौरव की बात है कि हमारे सारे आदिग्रंथ संस्कृत में हैं। वे जीवन की विविध आवश्यकताओं के लिए समय समय पर लिखे गए पर जनता में इस लिए संचरित नहीं हो सके कि वे संस्कृत में थे। पर संस्कृत वाङ्‌मय सहस्रबाहु है। ज्ञान विज्ञान धर्म दर्शन और चिंतन तमाम सरणियों में प्रवाहित। यह और बात है कि संस्कृत में संस्कारित न होने के कारण संस्कृत के इन वाग्गेयकारों के सृजन एवं चिंतन का लाभ भारत की जनता नहीं उठा सकी।

इसकी वजह यह कि भारत की साक्षरता का दर पहले बहुत ही कम रहा है, पढने पढाने के साधन आम लोगों के पास न थे। आज के जैसी व्यावसायिक दक्षता और भाषाई पठन पाठन इतना सघन न था इसलिए हिंदुस्तानियों का आधा जीवन तो अंग्रेजी सीखने में गुजर जाता है तब भी वे अंग्रेजी में वैसी दक्षता हासिल नहीं कर पाते जैसी अंग्रेजी मुल्कों के नागरिक। इसी तरह हमारे आर्षग्रंथ संस्कृत में होने के कारण उनमें पैठ केवल संस्कृतज्ञों की रही है। उसे हमारे पंडित पुरोहितों ने भी आम जनता से दूर रखा। हमारे समय के बड़े कवि तुलसीदास ने इसीलिए संस्कृतज्ञ होने के बावजूद संस्कृत जैसी सुसंस्कृत भाषा में न लिख कर अवधी बोली में लिखा जो कि हिंदी की पोषक बोली है। कबीर की भाषा भी सधुक्कड़ी है। वे भोजपुरी अंचल में जन्मे पर भाषा बहुत ही साफ सुथरी और सहज रखी

जिससे आम जनता को उनकी बात समझ में आ जाए। कबीर ने अपने समय की खड़ी बोली में लिखा। भोजपुरी में भी नहीं; पर हां उनकी भाषा को लोक बोलियों ने सींचा है। बोलियां हमारी संस्कृति का आईना हैं। अवधी बोली से अवध संस्कृति का प्रसार हुआ तो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि बोलियों/भाषाओं से भोजपुरी, मगही एवं मैथिली संस्कृति का प्रसार हुआ। ये बोलियां सच कहें तो हिंदी की प्राणवायु हैं। हमारी भारतीय संस्कृति की धड़कनें हैं। सही मायने में यही हमारी जनभाषाएं हैं। लोक बोलियां हैं। पर विडंबना है कि जैसे तमाम अस्मिताएं अपनी पहचान आधुनिकता के आच्छादन में लुप्त हो रही हैं, हमारी तमाम बोलियां व भाषाएं भी लुप्त होने के कगार पर हैं।

कहना न होगा कि लोक गीत लोक संस्कृति के विधायक तत्व हैं। हमारे जीवन के सारे संस्कारों का लोक बोलियों से गहरा रिश्ता है। हम राम नरेश त्रिपाठी द्वारा संकलित ग्राम गीत के सभी खंड देखें तो कैसे जन जीवन के हर संस्कार, गतिविधि, यज्ञोपवीत, विवाह, विदाई, संतान जन्म, कटाई, रोपाई, निराई गुड़ाई के लिए लोकगीतकारों ने गीत रचे। यानी हमारे जीवन के प्रत्येक उत्सव में गीत संगीत का अपना योगदान है। आज बिहार की शारदा सिन्हा गाती हैं तो उनके कंठ से भोजपुरी व बिहार की लोक भाषाओं व संस्कृतियों का परिचय मिलता है। उनके साथ पूरी भोजपुरी संस्कृति गाती है, मालिनी अवस्थी गाती हैं तो उनके साथ जैसे पूरा पूर्वी भारत गाता है। पूरी अवधी संस्कृति गाती है, पूरा लोक गाता है। इसलिए हिंदी व उसकी बोलियों के माध्यम से न केवल हिंदी बल्कि भारतीय संस्कृति, अर्थात, हिंदुस्तानी संस्कृति का बोध होता है। भाखा बहता नीर से जिस निर्मल प्रवाही भाषा का आशय लिया जाता है, आज वैसी निर्मलता नदियों के जल में कहां। अव्वल तो नदियों के प्रवाह अवरुद्ध लगते हैं, दूसरे नदियों का जल भी कितना गंदला हो चुका है। जैसे हमारी भाषा मटमैली हो रही है। आज अंग्रेजी के मोह में हिंदी में आगत एक नई हिंगलिश का जन्म हो चुका है। हिंदीभाषी पढ़े लिखे लोग भी शुद्ध हिंदी या हिंदुस्तानी बोलने में हिचक का अनुभव करते हैं।

प्रिंट मीडिया, इलेक्ट्रानिक मीडिया और आभासी सोशल मीडिया पर प्रयुक्त हिंदी को देखें तो एक मिली जुली भाषाई संस्कृति का बोध होता है। मीडिया ने खिचड़ी भाषा ही सही, हिंदी बोलने का एक वातावरण तो तैयार किया है। पर प्रिंट मीडिया के कुछ अखबारों की खबरों को देखें तो वह भाषा को और सरल बनाने के चक्कर में उसमें अंग्रेजी के शब्द ज्यों के त्यों लिए जाने को प्रोत्साहित कर रहे हैं। विडंबना है कि अंग्रेजी भी दूसरी भाषाओं के शब्दों व दूसरी भाषाई संस्कृतियों के शब्द अपने में सहेजती है पर अंग्रेजी व्याकरण और डिक्शन में गूंथ कर। पर हिंदी में ऐसे शब्द ऊपरी सतह पर जल पर तेल की तरह तैरते नजर आते हैं और हिंदी की भाषाई संस्कृति को प्रदूषित करने का काम करते हैं।

भारतीय संस्कृति और हमारी बोलियां

कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति अपनी बोलियों में सुरक्षित है। जब तक हम अपनी बोलियों से अपना रिश्ता बनाए रखेंगे भारतीय संस्कृति, हिंदुस्तानी संस्कृति को कोई खतरा नहीं है। बिना लोक भाषाओं, बोलियों, लोक कथाओं, लोक गीतों, व कहावतों के कोई भाषाई संस्कृति बनती है भला। इन लोकतत्वों व लोक वार्ताओं में हमारी भारतीय संस्कृति के गुणसूत्र छिपे हैं। लोक में अनेक मिथक भी अनुस्यूत हैं। इन्हीं मिथकों की देन है कि पेड पौधों, पशु पक्षियों, सूरज चांद सितारों और पंचतत्वों तक से एक आत्मीय रिश्ता है। ऐसा रिश्ता शायद प्रतिवेशी संस्कृतियों में न मिले। वेदों में प्रकृति के उपादानों की उपासना की गयी है। उनके आवाहन के लिए मंत्र और सूक्त रचे गए हैं। लोक कथाओं में हमारे यहां पंचतंत्र हैं तो पौराणिक कहानियां भी। उपनिषद भी ऐसी ही कथाओं का केंद्र हैं। इन कथाओं में आचरण की शुद्धता, नैतिकता, सत्य, असत्य, लाभ, लोभ, उदारता, सामूहिकता, सहिष्णुता का बखान किया गया है। हमारी संस्कृति के नायक राम, कृष्ण, बुद्ध, नानक, रैदास, मीरा, नामदेव, याज्ञवल्क्य, शंकराचार्य, सावित्री, जाबाला आदि चरित्र हैं। इस तरह हमारे लोक व्यवहार, लोक कथाएं, लोक वार्ताएं, भारतीय संस्कृति के आधारभूत अंग हैं।

भूमंडलीकरण के चलते सबसे ज्यादा खतरा लोक संस्कृतियों को हुआ है। एक ग्लोबल और एकध्रुवीय संस्कृति इंटरनेट व सोशल माध्यमों से हमारी संस्कृति पर मंडरा रही है। वह हिंदुस्तानी संस्कृति, हिंदी भाषा व लोकभाषाओं के फैब्रिक को नष्ट कर रही है। हमारे यहां राम के चरित को लेकर कितनी भाषाओं में काव्य, महाकाव्य, व आख्यान रचे गए हैं। विश्व के अनेक देशों में रामलीलाएं मंचित की जाती हैं। रामलीलाएं भारतीय संस्कृति का एक लोकनाटय रूप है। जहां जहां भारतवंशी हैं, वहां वहां भारतीय भाषाओं प्रमुखतया, हिंदी, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, भारतीय पूजा पद्धतियों, व्रत, त्योहारों, रीति रिवाजों, लोक व्यवहारों का प्रचलन है। यहां से हमारे पुरखे अपनी स्मृतियों

में धारण कर यहां के लोकगीत ले गए, भजन और संध्या, अर्चन नीराजन के लिए प्रविधियां अपनाई ----इसलिए कि इन प्रतीकों में ही हिंदुस्तानी संस्कृति के तत्व निहित हैं। इसलिए लोक भाषा ही वह बहता हुआ नीर है जो जन जन में व्याप्त है।

हम जानते हैं कि खड़ी बोली हिंदी पूरे देश में बोली व समझी जाती है तथा लोकभाषाओं का रिश्ता जनपदीय या प्रांतीय है। किन्तु यदि राजभाषा देश के राजकीय गौरव का प्रतिनिधित्व करती है तो लोक भाषाएं समग्र लोक का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह अच्छी बात है कि कैरेबियाई देशों में हिंदुस्तानी संस्कृति तो पनपी पर हिंदी नहीं, कम से कम नागरी लिपि का व्यवहार अभी सफलतापूर्वक नहीं किया जा रहा है। फीजी में बोली जाने वाली भाषा को फीजी बात कहते हैं तो दक्षिण अफ्रीका की हिंदी को नैताली। सूरीनाम में जहां भोजपुरी व अवधी मिश्रित हिंदी बोली जाती है, उसे सरनामी कहा जाता है पर यह सरनामी हिंदी रोमन लिपि में लिखी जाती है। यहां नागरी लिपि के प्रचार प्रसार का अभियान तो चला पर पूर्णतः सफल नहीं हो सका। हमारी लोक बोली में बोले जाने के बावजूद लिखित में रोमन लिपि से उस भारतीयता या हिंदुस्तानी भाव का बोध नहीं होता जो नागरी लिपि में लिखीं हिंदी या हिंदुस्तानी से होता है। सूरीनाम ही क्यों, जिन देशों में हिंदी या हिंदुस्तानी किसी भी रुप में बोलचाल में है पर उसका कोई लिखित साहित्य नही है या वह पठन पाठन में स्वीकार्य नहीं है वहां हिंदी या हिंदुस्तानी के विकास में बाधाएं हैं। क्योंकि भाषा हमारे विचारों की संवाहिका है। भाषा संस्कृति के प्रसार की भी संवाहिका है। इस तरह संस्कृति से भाषा का नाभिनाल संबंध है। यही वजह है कि विदेशी विद्वानों मैक्समूलर, ग्रियर्सन, मैकग्रेगर, ए.बी.कीथ आदि ने जिनकी रुचि हिंदुस्तान और उसकी संस्कृति को जानने समझने की रही है, उन्होंने संस्कृत का विपुल अध्ययन किया, भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण कराए तथा संस्कृत साहित्य का इतिहास लिख कर यह सिद्ध किया कि संस्कृत भले ही एक कठिन व दुस्साध्य भाषा हो, भारतीय संस्कृति के धुनी विद्वानों के लिए यह कोई सीमा नहीं है। कुछ ऐतिहासिक भूल चूक के कारण भले ही सूरीनाम जैसे देशों में रोमन लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी को मान्यता मिली हो, पर आज विश्व भर के विश्वविद्यालयों में हिंदी का पठन पाठन चल रहा है तथा भारत अपनी संस्कृति, सभ्यता, चिंतन व दर्शन के नाते पूरे विश्व के ध्यानाकर्षण का केंद्र बना हुआ है।

लोकगीतों में रची-बसी संस्कृति

भारतीय संस्कृति को रचने में लोकगीतों का बड़ा योगदान है। पूर्वी भारत में हिंदी में गाए जाने वाले लोकगीत से भारतीय समाज के भीतर की सांस्कृतिक संरचना समझ में आती है। इसी तरह अन्य अंचलों में उनकी अपनी बोलियों में संस्कारगीत गाए जाते हैं। बचपन में हम गांव-घर में लोकगीत सुना करते थे। तब कैसेट या सीडी का जमाना न था। न पेनड्राइव का। लाउड स्पीकर होते थे जिन पर फिल्मी गीत बजते थे। अनेक संस्कारों पर गाए जाने वाले गीत। पर जो बात स्त्रियों के कंठ से गाए जाने वाले गीतों में थी वह लाउडस्पीकर या सीडी पर सुनने में कहां है। बहनें, पड़ोसिनें मिल कर जो संस्कार गीत गातीं, विवाह, जन्मोत्सव, कलश, परछन, भीखी आदि के गीत तो लगता कोई अनुष्ठान संपन्न हो रहा है। ये लोकगीत सोहर, कजरी, गारी, नटका आदि हमारे जन जीवन से जुडे हैं। लोकगीतों में लोकलुभावन तत्व होते हैं। आधुनिक-उत्तर आधुनिक होती दुनिया में आज भले ही इनका महत्व क्षीण हुआ हो तथा तीव्र जीवनशैली में सब कुछ इंस्टेंट फूड की तरह मौजूद हो, पर इनमें जीवन नहीं होता, संस्कृति की सुवास नहीं होती।

भारतीय संस्कृति आखिरकार लोक संस्कृति है जिसमें किसान मजदूर कामगार सभी आते हैं। नीचे ऊँचे तबके सभी वर्ग के लोग आते हैं। लोकगीत हमारी वाचिक परंपरा का हिस्सा हैं। यह परंपरा बाहर नहीं है। हमारे यहां जैसे श्रुतियां, वेद, आरण्यक, उपनिषद, कथा सरित्सागर, पंचतंत्र आदि वाचिक परंपरा से होते हुए लिखित रुप में आए, वैसे ही लोकगीत, संस्कार गीत भी लाखों कंठों से होते हुए यात्रा करते रहे। कालांतर में वाचिक तौर पर गाए जाने वाले गीतों का संचयन भी किया गया, जिसमें रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी जैसे लोकसंस्कृति के अध्येताओं का योगदान अविस्मरणीय है। इन लोकगीतों में पुरुष वर्चस्व की छवियां मिलती हैं तो स्त्री की एक कारुणिक दुनिया भी। देखा जाय तो सच्चा स्त्री विमर्श तो इन लोकगीतों में समाया हुआ है जहां पुत्र जन्म पर सोहर तो गाए जाते हैं पर कन्या जन्म पर न तो गाने का विधान है न किसी उत्सव के अनुष्ठान का। हां इसके अपवाद भी हैं जिनमें बेटी की कामना भी गीतों में मिलती है। एक गीत में कहा गया है, जब मेरे बेटी पैदा हुई तो जैसे चारों ओर अंधकार छा गया। यहां तक कि सास और ननद ने घर में दीया तक नहीं जलाया और पिता का मुख मुरझा गया। वहीं एक दूसरे गीत में स्त्री बेटे के साथ बेटी की कामना भी करती है: सोनवा त लेब सोहाग खातिर/ रुपवा सींगार खातिर हो/ ललना धीयवा त लेबों धरम खातिर/ पूता धन संउपै खातिर हो। (लोकगीत और स्त्री, तद्भव, पृष्ठ 19)

इन गीतों से पितृसत्ता भी उभर कर सामने आती है और स्त्री के उत्पीड़न के लिए सास और ननदों की भूमिका भी। सास बोलीं अड़पी ननद बोलीं तड़पी हो। परिवार की धुरी होकर भी स्त्री हाशिये पर रहती आई है।

जहां तमाम स्थलों पर स्त्री का एक दयनीय संसार व्यंजित है वहीं गांव देहात की दुनिया में राम, सीता और कृष्ण लोकगीतों के नायक नजर आते हैं। जीवन के हर उत्सव के गीत लोकगीतकारों ने रचे हैं। कहीं राम का विवाह हो रहा है, कहीं कृष्ण मनिहारी बने साड़ी बेच रहे हैं तो कहीं ग्वालिनें दही बेचने निकली हैं। राधा कृष्ण के मिलन के गीत रचे गए हैं तो सामान्य स्त्रियों के विरह गीत भी। परदेस गए पतियों के लिए विरहगीत गाए जाते हैं। कुछ गीतों में स्त्री का प्रतिरोध भी दिखता है। इसी तरह तमाम रीति रिवाजों पर गाए जाने वाले गीत हैं जिनका लोक जीवन के उत्सवों से रिश्ता है। चाहे वह छठ का त्योहार हो, होली दीवाली का या जीउतिया का, ये लोकगीत संस्कारों में पगे हैं। इनकी भाषा पर मत जाइये, इनमें रचे बसे भावों पर जाइये। इनमे भारतीय मन रचा बसा है। हिंदी इसी भावजगत की भाषा है। तभी तो एक निबंध में विद्यानिवास मिश्र जी कहते हैं, ''मेरे लिए हिंदी भाषा नहीं, मन है, वह मन, जिसमें पपीहे की स्वाभिमानी चाह है। 'सुरसरि सम सब कर हित' होने की परबद्धता है, किसी और के लिए वह शहंशाह है या जिसमें लिए कोई और बड़ा ऐश्वर्य नहीं है, जिसमे कबीर का फक्कड़पन है----'जो घर फूँकै आपना चलै हमारे साथ', जिसमे भारतेंदु की संयत लापरवाही है, 'दोनो जहां के ऐश को खाक में मिलाया', जिसमें दद्दा की चुनौती है ---राम को तुम ईश्वर नहीं कह सकते, तुम्हें रमना है, रम रहोय जिसमें निराला के सीधी राह चलने का संकल्प है, जिसमें महादेवी की सामान्य से सामान्य प्राणी के लिए गहरी आत्मीयता है, जसमें नवीन का 'अहि आलिंगित शिवत्व' है, जिसमें अज्ञेय के हारिल जैसा उड़ते उड़त गगन बन जाने की दुर्धर्ष आकांक्षा है, मैं ऐसे मन की तलाश करता हूँ तो लगता है कि वह मन कहीं खो गया है। (हिंदी और हम) क्या विडंबना है कि जो हिंदी कभी मानव मुक्ति के लिए संघर्ष की भाषा रही है, वह खुद उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और बाजारवाद से मुक्ति के लिए छटपटा रही है।

कैरेबियाई देशों में हिंदी हिंदुस्तानी और भारतीयता को बचाने में रामचरित मानस, श्रीमदभगवत गीता, हनुमान चालीसा के साथ साथ हिंदुस्तानी त्योहारों, रीति-रिवाजों का बड़ा योगदान है। यह और बात है कि इन देशों की प्रशासनिक कामकाज की भाषा भलें ही अन्य हो, भारतवंशियों की अपनी बोलचाल की भाषा हिंदी ही है। तुलसी, कबीर, मीरा, रैदास, नानक की बानी के प्रति यहां सदभाव है। इनके अपने पूजाघर हैं तो भारतीयता की प्रतीक तुलसी भी इनके घरों में देखी जा सकती है। इन देशो के दूतावासों के माध्यम से हिंदी के प्रचार प्रसार किया जाता है जिससे हिंदी, हिंदुस्तानी और भारतीयता के वातावरण के निर्माण में सहायता मिली है। यहां स्थापित आर्यसमाज, सनातन धर्म आदि संस्थाओं ने हिंदी व भारतीयता के विकास में अहम योगदान किया है। हिंदी व भारतीय भाषाओं ने औपनिवेशिकता से कड़ा संघर्ष किया है। जिस मुल्क में लंबे अरसे तक मुगलों का साम्राज्य रहा हो, जहां अंग्रेजों लंबे अरसे तक शासन किया हो, जहां ईस्ट इंडिया कंपनी के कारिंदों ने भारत को लूटने खसोटने की व्यापारिक प्रविधियां ईजाद करने में संलग्न रहे हों, जहां भारतीयों को अंग्रेजी के मोह से इस हद तक बांध दिया हो कि वे इसके प्रभामंडल से मुक्त न हो सकें, जहां भारतीय प्रतीकों मिथकों विश्वासों को ध्वस्त और नष्ट करने की कोशिशें की गयी हों, वहां हिंदी, हिंदुस्तानी और भारतीयता को बचाए रखना ही सबसे बड़ा मिशन है। आज फिर भूमंडलीकरण, बाजारवाद के चलते भारतीय संस्कृति की सम्प्रभुता खतरे में है, ऐसी स्थिति में अपनी भाषाओं, अपनी संस्कृतियों, अपनी अस्मिताओं को बचाने की एक लंबी मुहिम की आवश्यकता है। हिंदी ने स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई लड़ी है। इसी भाषा में जीने मरने की कसमें खाई गयी हैं। सबसे ज्यादा स्वतंत्रता के गीत इसी भाषा में रचे गए हैं। इसलिए एक व्यापक भूभाग में बोली और बरती जाने वाली हिंदी यदि जन जन के कंठों में विराजमान है तो यह इस भाषा की अपनी ताकत है। इसे संतों, लोकगीतकारों, हिंदी फिल्मों, प्रिंट एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया ने रचा है और आज सोशल मीडिया के मंच पर यह नई हिंदी के रूप में ढल रही है। पर जो तत्व इस सबके बावजूद अभी भी लुप्त नहीं हुआ है वह है हिंदी का हिंदुस्तानी रूप। यानी भाषाई शुचिता के विपरीत विभिन्न सामासिक संस्कृतियों एवं तत्वों में घुल मिल कर एक स्वीकार्य भाषा का स्वरुप हासिल कर लेने की योग्यता जिसमें हिंदी में सर्वाधिक लचीलापन है। इसीलिए यह भारत की राजभाषा, राष्ट्रभाषा दोनों रूपों में तो समादृत है ही, अपनी लोक बोलियों के सहयोग से बोलचाल के सर्वस्वीकृत ढांचे में ढालते हुए हिंदी में वह हिंदुस्तानी लहजा बरकरार है जिसे हर भारतवासी अपने अपने तरीके, उच्चारण एवं भाषाई क्षमता के अनुरूप बोलता और व्यवहार में लाता है।

✦✦✦

वैश्विक संदर्भ में भारतीय संस्कृति और हिंदी

—प्रो. शैलेंद्र कुमार शर्मा

भारतीय चिंतनधारा में संस्कृति की संकल्पना अत्यंत व्यापक है। हमारे यहाँ संस्कृति को पूर्णता का पर्याय माना गया है। संस्कृति महज कल्चर नहीं है, इसकी अवधारणा कल्चर की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और युक्तिसंगत है। इसमें परम्परा, भाषा, साहित्य, नाटय, कला और शिल्प से लेकर विज्ञान, मूल्य और दर्शन तक सब अंतर्भुक्त हो जाते हैं। संस्कृति एक, अखंड और सार्वभौमिक है, किंतु उसकी साधना के अलग-अलग मार्गों के रहते वह अलग-अलग जानी-समझी जाती है। इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति को संस्कृति की अनवरत यात्रा में भारतीय मार्ग के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति अनेक सहस्राब्दियों से विश्व-संस्कृति के मूलाधारों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती आ रही है। वर्तमान में जारी अंधी स्पर्धा, परस्पर विद्वेष, हिंसा, आतंक और मूल्यों के विखंडन के दौर में भारतीय संस्कृति सही दिशा दे सकती है। सुदूर अतीत से लेकर अब तक संस्कृति की साधना द्वारा मनुष्य अपनी अपरिमित संभावनाओं को मूर्त करता आ रहा है। भाषा, साहित्य और विविधविध कलाओं के सरोकार संस्कृति की आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित होते हैं। संस्कृति किसी भी राष्ट्र के जन-समुदाय की आत्मा होती है। संस्कृति यदि उच्चतम चिंतन का मूर्त रूप है तो भाषा उसका माध्यम है। सही अर्थों में भारतीय संस्कृति और परम्पराओं की समर्थ संवाहिका है - विश्वभाषा हिन्दी। विश्व की अनेक भाषाओं की जननी संस्कृत सुदूर अतीत से हमारी संस्कृति को आधार देती आ रही है, आज उसी की सहज उत्तराधिकारिणी के रूप में हिन्दी अपनी समर्थ भूमिका का निर्वाह कर रही है। साम्प्रतिक दौर में भारतीय संस्कृति और हिंदी के नए क्षितिज अपार संभावनाएं लिए हुए हैं।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी लोकव्यापित। भारतीय संस्कृति को गढ़ने में विविध शास्त्रों के साथ यहाँ की लोक-संस्कृति और लोक भाषाओं को अपनी परिव्याप्ति में सहेजती हुई हिन्दी अहम भूमिका निभा रही है। भारत के अधिकांश अंचलों में शास्त्र, जातीय स्मृतियों, इतिहास और संस्कृति के साथ लोक की अंत:क्रिया सहस्राब्दियों से जारी

सम्पर्क: 407 साईनाथ कॉलोनी सेठी नगर, उज्जैन 456 010 (मध्य प्रदेश), मोबाईल: 098260-47765, निवास: 0734-2515573, ई-मेल : shailendrasharma1966@gmail.com

है, जिसे मजबूती देने में हिन्दी और उसकी विविध बोलियों का जीवंत योगदान है। यह बात भारत की सीमाओं से परे विश्व के तमाम देशों में पहुंची हिन्दी और उसके नव विकसित रूपों में देखी जा सकती है। विश्व पटल पर हिंदी और उसके बोली रूप भारतीय संस्कृति, धर्म, अध्यात्म, दर्शन और परंपरा की संवाहिका के रूप में प्रभावी भूमिका निभा रहे हैं। मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी जैसे अनेक देशों में हिन्दी मात्र एक भाषा नहीं, भारतीय संस्कृति का पर्याय है। वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति और विश्व भाषा हिंदी के परस्परावलंबन की पहचान और उनकी भावी संभावनाओं की तलाश बेहद जरूरी है।

किसी भी राष्ट्र और उसमें बसने वाले समुदायों की सही पहचान भाषा और संस्कृति के बिना संभव नहीं है। एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों, विशेष तौर पर भारत को देखें तो हम पाते हैं कि यहाँ की संस्कृति और सभ्यता न जाने किस सुदूर अतीत से आती हुई परम्पराओं पर टिकी हुई है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में अज्ञात अतीत से सक्रिय विविध जनसमुदायों की सहभागी भूमिका चली आ रही है। भारत की विविध भाषाएँ और बोलियाँ संस्कृति का संवर्धन करती हुई एक-दूसरे के हाथों में हाथ डाले इस तरह से खड़ी हैं कि उन्हें एक-दूसरे से विलग किया जाना संभव नहीं है। इनके बीच मेल-मिलाप का सिलसिला पुरातन काल से चला आ रहा है। भारतीय संस्कृति का यह विराट और समावेशी स्वरूप आज विश्व-संस्कृति का अनिवार्य अंग बन गया है और इसके साथ अनेकानेक भाषाओं और बोलियों का साहचर्य लिए हिंदी विश्व के सम्बन्धों का नैरन्तर्य बना हुआ है। सुदूर अतीत से भारतीय संस्कृति का दूर देशों की संस्कृतियों के साथ इस तरह का संगम होता आ रहा है कि उसमें से यह पहचान पाना मुश्किल है कि उनका कितना अंश भारतीय है और कितना गैर भारतीय। भारतीय संस्कृति के इसी अभिलक्षण को जीवन्त करता है- हिंदी विश्व।

दुनिया के तमाम देशों में बसे तीन करोड़ से अधिक भारतवंशी हिंदी को किसी न किसी रूप में- परस्पर सम्पर्क, सूचना, संस्कृति, शिक्षा, मनोरंजन, व्यापार-व्यवसाय, राजकाज आदि का माध्यम बनाए हुए हैं। जनभाषा से विश्वभाषा तक संचरणशील हिंदी ने बहुत लंबी यात्रा तय की है। इस यात्रा में हिन्दी का स्वरूप निरंतर बृहत्तर हो रहा है। सम्प्रति विश्व फलक पर हिंदी के साथ अन्य भारतीय भाषाओँ की भी अहम भूमिका दिखाई दे रही है। दुनिया में सबसे ज्यादा बोली जाने वाली चालीस भाषाओं में एक चौथाई भाषाएँ भारतीय ही हैं। दुनिया का हर पाँचवाँ व्यक्ति किसी न किसी भारतीय भाषा का प्रयोक्ता है और हर छठा व्यक्ति हिन्दी जानता-समझता है। ऐसे में हिन्दी विश्व की सुदृढ़ता सुस्थापित तथ्य बन चुकी है। वस्तुतः हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं की एकता और परस्पर संवाद से विश्व में जारी महज कुछ भाषाओं के साम्राज्यवाद से मुक्ति की राह खुल सकती है।

हिंदी विश्व की निर्मिति में दुनिया के कोने-कोने में डेढ़ सौ से अधिक देशों में बसे भारतीय समुदाय, संस्थाओं और व्यक्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। शेष विश्व के साथ भारतीयों का रिश्ता सुदूर अतीत से बना हुआ है। ईसा के पांच सौ साल पहले भारतीय धर्म-संस्कृति के प्रचार के लिए एशिया और यूरोप के बहुत बड़े भूभाग तक पहुंचे थे। मध्यकाल में असंख्य भारतीयों ने दक्षिण एवं मध्य एशिया के अनेक देशों के साथ सांस्कृतिक-राजनीतिक संबंध बनाए, जिनकी निरंतरता आज भी बनी हुई है। यह सिलसिला अलग-अलग कालों में किसी न किसी रूप में जारी रहा। इधर पराधीन भारत में बड़ी संख्या में भारतीय शर्तबंदी के तहत अथवा बहला-फुसलाकर मॉरीशस, गयाना, फिजी, बारबाडोस, दक्षिण अफ्रीका जैसे कई देशों तक पहुंचे। फिर भारत के सवाधीन होते-होते और बाद में लाखों भारतीय यूरोप, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और खाड़ी के देशों में गए। इनमें से अधिकांश अपनी भाषा, संस्कृति और धर्म को सुरक्षित रखते हुए भारतीय बने हुए हैं। हिन्दी ऐसे तमाम लोगों के लिए अपनी संस्कृति और परम्पराओं के साथ आत्मीय लगाव और रिश्ते को मजबूती देने का माध्यम रही है। एक दौर में देश-देशांतर में स्थापित आर्य समाज, सनातन धर्म सभा जैसी संस्थाओं ने अपने मूल उद्देश्यों के साथ हिंदी प्रचार और संवर्धन का लक्ष्य रखा था, जिसके परिणामस्वरूप अनेक पीढ़ियाँ भारतीय जड़ों से जुड़ी रहीं। कालांतर में हिंदी के प्रसार की बागडोर साहित्यिक-सांस्कृतिक संगठनों, हिन्दी सेवी संस्थाओं, हिन्दी सेवियों और सर्जकों, पत्र-पत्रिकाओं और तदनंतर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने संभाली, जिनके अथक प्रयासों से हिंदी भारतीय संस्कृति के संवहन के साथ कई नए क्षेत्रों और दिशाओं में गतिशील दिखाई दे रही है। आज विश्व के प्रायः सभी प्रमुख देशों में इस प्रकार की संस्थाएँ, समुदाय और लोग सक्रिय हैं। भारत के सवतंत्रता संग्राम में भारत की सीमा से परे दुनिया भर में फैले प्रवासी भारतीयों ने हिन्दी के प्रति निरंतर अपनत्व एवं भारतीयता के प्रति अनुराग का परिचय दिया था। स्वयं राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने स्वाधीनता संघर्ष की शुरूआत

ही रंगभेद से पीड़ित अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के बीच की और सत्याग्रह की अवधारणा को नया परिप्रेक्ष्य देते हुए उसे वैश्विक प्रतिष्ठा दिलाई। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज तथा आजाद हिन्द सरकार की स्थापना दक्षिण-पूर्व एशिया में की थी। ऐसे अनेक नायकों की माध्यम भाषा हिन्दी ही थी। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो विदेशों में बसे भारतवंशी हिन्दी को परस्पर संपर्क के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान की भाषा बनाए हुए हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनकी हिन्दी परिनिष्ठित हो। कनाडा, अमेरिका, रूस, ब्रिटेन या अन्य स्थानों में बसे ऐसे लाखों भारतीय, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, हिन्दी को ही सांस्कृतिक संबंध और संपर्क की भाषा के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

हिन्दी जिस तरह भारत भर के विभिन्न भाषा भाषियों के बीच सांस्कृतिक सेतु बनी हुई है, ठीक उसी प्रकार की भूमिका यह भारत की सरहद के पार निभाती आ रही है। यह सिडनी, सिंगापुर, बैंकॉक, दुबई से लेकर इटली, लन्दन, न्यूयॉर्क, सैन फ्रांसिस्को तक दुनिया के तमाम नगरों-महानगरों में भारतवंशियों के बीच सांस्कृतिक मेलजोल और वैचारिक आदान-प्रदान की भाषा बनी हुई है, वहीं दक्षिण एशिया के लाखों पर्यटकों के मध्य सूचना-संचार की भाषा के रूप में उनके दैनन्दिन जीवन से लेकर व्यवसाय को भी आधार दे रही है। भारत से बाहर जिन देशों में हिन्दी का व्यवहार विचार-विनिमय की भाषा से लेकर सांस्कृतिक गतिविधियों और अध्ययन-अध्यापन में होता आ रहा है, उन्हें हम पाँच प्रवर्गों में बाँट सकते हैं। पहला प्रवर्ग जहाँ भारतीय मूल के लोग बड़ी संख्या में रहते हैं, जैसे - अफगानिस्तान, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, म्यांमार, श्रीलंका, मालदीव आदि। दूसरा प्रवर्ग भारतीय संस्कृति से गहरे प्रभावित दक्षिण पूर्वी एवं मध्य एशियाई देशों का है, जैसे- इंडोनेशिया, मलेशिया, थाईलैंड, कंबोडिया, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान आदि। तीसरा प्रवर्ग उन देशों का है, जहाँ उपनिवेशकाल में बड़ी संख्या में प्रवासी भारतीयों को ले जाया गया, जैसे मॉरीशस, फिजी, गुयाना, सूरीनाम, त्रिनिदाद और टोबैगो, सेशल्स आदि। इन लोगों ने अपनी परंपरा और संस्कृति का संरक्षण इसी भाषा के माध्यम से किया। रामचरितमानस और अन्य धार्मिक पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने अपनी भाषा को जीवंत रखा। चौथा प्रवर्ग उन देशों का है जहाँ हिन्दी को विश्व की एक आधुनिक भाषा के रूप में अपनाया जा रहा है, जैसे अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, रूस और इंग्लैंड सहित यूरोप के कई देश। पाँचवें प्रवर्ग में अरब और अन्य इस्लामिक देश रखे जा सकते हैं, जहाँ बड़ी संख्या में भारतवंशी विभिन्न सेवाओं में हैं, जैसे- संयुक्त अरब अमीरात, ईरान, कतर, मिस्र, ओमान, कुवैत, उजबेकिस्तान, कजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान आदि। इन सभी क्षेत्रों में हिन्दी की महत्ता रोजमर्रा के कामकाज से लेकर सांस्कृतिक गतिविधियों और अन्य प्रयोजनों में बनी हुई है। भारत में बोले जाने वाले नए बोली रूप, यथा मुंबईया, कलकतिया हिंदी की तरह हिंदी के कई नए बोली रूप देश की सीमा से परे विकसित हुए हैं, जिनके पीछे विशिष्ट सांस्कृतिक और भाषाई आधार रहे हैं। इन नवविकसित बोली रूपों में उल्लेखनीय हैं- मॉरीशसी हिंदी, सरनामी हिंदी, फिजीबात, नैताली हिंदी, सिंगापुरी हिंदी, अरबी हिंदी, लन्दनी हिंदी, नेपाली हिंदी आदि। उजबेकिस्तान और तजाकिस्तान में बोली जाने वाली 'पार्या' भी हिंदी की ही एक भाषिक शैली है, जिसके लिए 'ताजुज्बेकी हिंदी' नाम भी सुझाया गया है। हिंदी के ऐसे अनेक बोली रूप दुनिया के कोने कोने में विकासमान हैं, जिनमें स्थानीय संस्कृति, भाषा और बोलियों का जैविक संयोग हो रहा है। हिंदी की ये नई बोलियाँ विश्व-आँगन से लेकर लोक व्यवहार तक अटखेलियाँ कर रही हैं।

भारतीय संस्कृति की सुवास दुनिया के अनेक देशों में परिव्याप्त है। सुदूर अतीत में संस्कृत, पालि और प्राकृत के माध्यम से सांस्कृतिक उपादान और संकल्पनाएँ तमाम देशों तक पहुँचीं, जिनकी जीवन्त छाप आज भी वहाँ मौजूद है। इसी तरह ब्राह्मी और उसकी विभिन्न शैलियों से कई देशों की लिपियों के विकास की राह सुगम हुई। थाईलैंड यात्रा के दौरान मैंने अनेक स्तरों पर भारत की प्रतिध्वनियों और प्रतिबिम्बों को अनुभव किया था। इसी प्रकार की सिथतियाँ कम्बोडिया, म्यांमार, मलेशिया, इण्डोनेशिया, वियतनाम, श्रीलंका सहित एशिया के अनेक देशों में देखी जा सकती है। सांस्कृतिक सेतु का जो कार्य कभी संस्कृत सहित प्राचीन भाषाएँ करती थीं, वही कार्य आज हिंदी कर रही है। आधुनिक दौर में मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, जमैका, त्रिनिदाद और टोबैगो, गुयाना, दक्षिण अफ्रीका जैसे कई देशों में किसान और श्रमिक नई संभावनाओं की तलाश में गए, तब से वे हिंदी और उसके विविध बोली रूपों की गंध को आज भी जीवन्त बनाए हुए है। इस दृष्टि से हिंदी की वैश्विक महत्ता भारतीय संस्कृति, परम्परा और जीवन मूल्यों को विस्तारित करते हुए तमाम देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों को मजबूती देने में है।

दूर देशों तक पहुँचे श्रमिकों, किसानों, कारीगरों और बहला-फुसलाकर बंधक बनाये गए भारतीयों के साथ हिंदी सदियों से उनकी संस्कृति और धर्म के साथ गहरा अनुराग और रिश्ता कायम रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती आ रही है। जो लोग पिछली लगभग दो सदियों में भारत से बाहर गए थे, उनके पास तुलसी कृत रामचरितमानस, हनुमान चालीसा, सुखसागर, आल्हा, महाभारत, गीता आदि सुरक्षित रहे। भारतीय संस्कृति और मूल्यों के वैश्विक विस्तार में रामकथा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सुदूर अतीत में रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथ एशिया के अनेक देशों तक पहुंचे और वहाँ काव्य और कला परम्पराओं के उपजीव्य बने थे, ठीक वही स्थिति पिछली शताब्दियों में रामचरितमानस के साथ बनी। आज परिवार जीवन से लेकर विश्व फलक पर रामकथा में निहित मूल्यों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अखंड मानवता और विश्व शांति की पक्षधरता इस महान कथा को विलक्षण बनाती है। श्रीलंका, म्यांमार, थाईलैंड, मलेशिया और इंडोनेशिया से लेकर मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनिदाद तक इस कथा की काव्य, नाटय, नृत्य, रामचरितमानस पाठ, चित्र, शिल्प आदि कई रूपों में अभिव्यक्ति के साथ हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का सीधा रिश्ता रहा है। आज इस रिश्ते को और मजबूत बनाने की जरूरत है, तभी हम भारत की सीमाओं से परे बसे 'लघु भारत' को अपने मूल रूप में चरितार्थ कर सकेंगे।

तुलसी कृत रामचरितमानस भारत से बाहर लगभग तीन करोड़ लोगों की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में जीवंत है। सूरीनाम जैसे कई देशों में दशहरे के पहले खेली जाने वाली रामलीला की प्रदर्शन शैली काशी के रामनगर की प्रसिद्ध रामलीला से अनुप्रेरित है। इसी तरह संत कबीर के आंतर-बाह्य परिवर्तनकामी स्वर की अनुगूँज अनेक देशों के भारतवंशी समुदायों में आज भी सुनाई देती है। इन लोगों ने रासलीला, नौटंकी, बिरहा, फगवा जैसी अनेक लोक विधाओं को आज भी जीवंत रखा है। विवाह सहित विविध संस्कारों, व्रत-पर्व-उत्सवों और अनुष्ठानों में भारतीयता का रंग और हिन्दी की बोलियों का माधुर्य आज भी उनके सिर चढ़कर बोलता है। स्पष्ट है कि भारतवंशियों की इस यात्रा में उनकी अनेक पीढियां गुजर गयीं, फिर भी वे हिंदी के साथ भारतीय संस्कृति-धर्म-दर्शन, परम्पराओं और रीति-रिवाजों से स्वयं को जुड़ा हुआ महसूस करते हैं। उनकी यह निरंतर कोशिश रहती है कि भारतीय चिंतन और मूल्य पद्धति को अपनाए रखें और उसका अपनी नई पीढ़ी में हस्तांतरण भी करें।

भारत के आधुनिक पुनर्जागरण, स्वतंत्रता और नवनिर्माण में हिंदी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, ठीक उसी तरह विश्व फलक पर हिंदी भारतीय संस्कृति के संरक्षण के साथ भारतीयों की जातीय अस्मिता और स्वतंत्रता के लिए बहुत बड़ी भूमिका निभाती आ रही है। फिजी के विवेकानन्द शर्मा इस बात को स्वीकार करते हैं, "दुनिया भर में अपने धर्म, जाति, संस्कृति व भाषा की रक्षा के लिए किए जाने वाले अनेक संघर्षों की दास्तानें आप लोगों ने सुनी-पढ़ी होंगी, लेकिन प्रवासी भारतीयों ने अपनी संस्कृति और धर्म की रक्षा की कड़ी लड़ाई जीती तो केवल हिंदी भाषा के हथियार से ही। पराजय और निराशा की चरम स्थितियों में उन्हें साहस और सांत्वना देने का महान कार्य तुलसीदास की रामायण ने ही किया था, जिसे मैं हिंदी भाषा का हिमालय कह दूँ तो अत्युक्ति न होगी। जिस तरह हिमालय भारत माँ का अडिग प्रहरी है, उसी तरह गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस हमारे देश में प्रवासी भारतीयों की भाषा, धर्म, संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करने वाला प्रहरी है।" फीजी में लाखों लोगों द्वारा हिंदी बोली और समझी जाती है। रेडियो स्टेशन हैं, अखबार हैं, स्कूलों और विश्वविद्यालयों के पाठयक्रम में हिंदी निर्धारित है। इधर फिजी को स्वतंत्र हुए कई दशक हो चुके है। वहाँ हिंदी की उन्नति और संवर्धन के लिए अनेक प्रकार के कदम उठाए गए हैं। इसी तरह रैंडाल बूटीसिंह गुयाना के बहुसांस्कृतिक समाज के सामाजिक- सांस्कृतिक जीवन में हिंदी की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित करते हैं। उनके अनुसार, "गुयानी जीवन में हिन्दी कई रूपों में अस्तित्वमान है। मुख्य रूप से यह हिंदुओं के गहरे धार्मिक विश्वासों, रीति रिवाजों एवं परम्पराओं के महत्त्व से जुड़ी हुई है। हिंदी उनके लिए महज रोजी-रोटी की भाषा नहीं है। यहाँ हिंदी कविता ने एक अभिप्रेरक के रूप में भारतीय चेतना को जीवंत रखने के माध्यम का काम किया है। भारत से आए थोड़े से लोग ही पढ़े लिखे थे, जो धार्मिक ग्रंथों को अपने साथ लेकर आए थे। उनमें हिंदी में रची रामायण सर्वाधिक मूल्यवान थी। इसके बहुत से श्रोता निरक्षर थे, लेकिन उन्होंने रामायण की कथा को अपने मनोमस्तिष्क में जिंदा रखा। इसके बाद हनुमान चालीसा और दानलीला भी उनके बीच लोकप्रिय थीं।" रैंडाल जी ने हिंदी के जरिये सभी गुयानावासियों की राष्ट्रीय एकता को मजबूती देने की सम्भावनाओं पर भी मंथन किया है। जाहिर है इस दिशा में निरन्तर नवाचारी प्रयत्नों से सम्भावनाओं के नए द्वार खुल सकते हैं।

भारत की समृद्ध सांस्कृतिक–साहित्यिक विरासत के संवहन की दृष्टि से हिंदी का महत्त्वपूर्ण स्थान बना हुआ है। स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में धार्मिक अध्ययन विभाग की वरिष्ठ व्याख्याता, कबीर प्रेमी विदुषी और लेखिका डॉ लिंडा हेस 1960 के दशक से निरंतर भारत यात्रा और अध्ययन कर रही हैं। 1970 के दशक से उन्होंने कबीर वाणी का अनुवाद प्रारम्भ किया। इस बात से वे गहरे प्रभावित हुई कि वर्तमान सदी में देश के अनेक हिस्सों में कबीर गायन किया जाता है। तब उन्होंने अपना ध्यान उत्तर भारत में कबीर की मौखिक और संगीत परंपरा पर केंद्रित किया। आज वे भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जारी कबीर और निर्गुणी गायन की परम्परा और विश्व मानवता के हित में उसकी महिमामयी उपस्थिति को विश्व मंच पर रेखांकित करने में सन्न) हैं। इस तरह के प्रयासों से हिंदी की व्यापित और विस्तार की नई दिशाएँ खुल रही हैं। साथ ही कबीर की मौखिक परंपराओं और उत्तर भारत में उसके क्रियात्मक संसार से साक्षात्कार का नया सिलसिला शुरू हो सका है।

हिंदी दुनिया के तमाम देशों के लोगों के लिए भारत को जानने और उससे अनुराग का महत्त्वपूर्ण साधन बन चुकी है। दुनिया के विभिन्न हिस्सों में भारत के प्रति रुचि की जड़ें गहरी और पुरानी हैं, जिसे हिन्दी का आधार मिल रहा है। सदियों से भारतविद्या के प्रचार के साथ हिंदी का प्रसार जुड़ा रहा है। योग, आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, देशज ज्ञान–विज्ञान, ज्योतिष, कर्मकांड आदि सहित विविध क्षेत्रों में भारतीय ज्ञान के प्रसार में हिंदी ने सशक्त भूमिका निभाई है। भारत की बहुवर्णी सांस्कृतिक परम्पराओं, कला रूपों, जीवन–मूल्यों, और पर्यटन के प्रति रुचि रखने वाले मनीषी इस बात को स्वीकार करते हैं। ऑस्ट्रेलिया के हिंदी प्राध्यापक डॉ पीटर फ्रीडलैंडर हिंदी में अंतर्निहित बहुसंस्कृतिवाद को इसकी शक्ति मानते हैं, जिसके कारण यह दुनिया भर में स्वीकार्य बनी हुई है। इसके साथ ही उनकी स्पष्ट मान्यता है कि ''एक भारतीय भाषा के द्वारा हम गहराई से भारतीय संस्कृति को समझने की कोशिश कर सकते हैं। मैं लगभग 40 सालों से इस रास्ते पर यात्रा कर रहा हूं कि मैं हिंदी के द्वारा भारतीय संस्कृति को समझूँ और मैंने बहुत कुछ देखा जो सिर्फ अंग्रेजी भाषा के माध्यम से नहीं देख पाता।'' संघर्षमय इतिहास के बीच पले–बढ़े इजराइल के तेल अवीव विश्वविद्यालय के पूर्वी एशिया अध्ययन विभाग के प्रोफेसर, समर्पित शिक्षाविद् एवं इसराइल में हिन्दी के अनन्य सेवी डा. श्लोम्पर गेनादी ने उनके भारत आगमन पर एक साक्षात्कार में मुझे बताया था कि इसराइल देशवासियों को हिन्दी से गहरा प्रेम है। वे स्वीकार करते हैं कि भारत यात्रा में हिन्दी का ही प्रयोग करता हूँ। अन्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी सीखना ज्यादा आसान है। वे बताते हैं कि इसराइल की आबादी लगभग 80 लाख है। भारतीय संस्कृति को जानने लाखों लोग हर वर्ष भारत भ्रमण पर आते हैं। वस्तुतः भाषा और संस्कृति का गहरा रिश्ता है। भाषा सीखने के लिए संस्कृति जानना जरूरी है और संस्कृति को जाने बिना भाषा का अच्छा ज्ञान नहीं हो सकता। उनकी दृष्टि में हिंदी इसराइलवासियों के लिए भारतीय संस्कृति का द्वार खोल रही है। वे बताते हैं कि छोटे से देश इसराइल की सड़कों पर घूमें, तो उतनी सारी भाषाएँ और बोलियाँ सुनने में आ जाएँगी, जितनी कि अमरीका, रूस या भारत सरीखे बहुजातीय और बहुभाषीय देशों में ही गूँजती हैं। ये भाषाएँ विदेशी यात्रियों की नहीं, वरन् इसराइल के उन नागरिकों की हैं जो यहाँ विश्व के कोने–कोने से आ बसे हैं। इसराइल में भारतीय मूल के लगभग सत्तर हजार लोग रहते हैं। उनमें से अधिकांश महाराष्ट्र से आये हुए हैं और मराठी उनकी मातृभाषा है। वे हिन्दी भी अच्छे से जानते–समझते हैं। अश्दोद, दीमोना, राम्ला जैसे शहरों में भारतवंशियों की संख्या काफी बड़ी है। वहाँ जगह–जगह पर हिंदुस्तानी ढंग के रेस्तराँ और दुकानें हैं, जहाँ भारतीय खाना मिलता है। भारतीय फिल्मों और संगीत के सी.डी. बिकते हैं।

भारतीय संस्कृति के ज्ञान और मनोरंजन की दृष्टि से हिंदी की असरकारक भूमिका किसी से छुपी नहीं है। फिल्म, टेलीविजन, एफ एम चौनल के जरिए हिन्दी भाषी ही नहीं, हिन्दीतर भाषी भी बड़ी संख्या में भारतीय संस्कृति और कला परम्पराओं से जुड़े रहे हैं। फिजी, सूरीनाम, मॉरीशस जैसे कई देशों में हिंदी के संरक्षण में भारतीय संगीत और नृत्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीय शास्त्रीय और लोक संगीत एवं नृत्य से लेकर आधुनिक सिने संगीत और नृत्यों के माध्यम से बड़ी संख्या में दुनिया भर में फैले भारतवंशी जुड़े हुए हैं, जिन्हें हिन्दी मजबूत आधार दे रही है। आधुनिक युग में वैश्विक स्तर पर हिंदी की स्वीकार्यता और लोकप्रियता के लिए हिन्दी सिनेमा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वह भारतीय संस्कृति और मूल्यों के प्रसार में विशिष्ट योगदान देता आ रहा है और दूर देशों में उसने अपना बहुत बड़ा दर्शक वर्ग तैयार कर लिया है। हिन्दी सिनेमा और सिनेगीतों के कारण हिंदीतर भाषियों की प्रवृत्ति हिंदी सीखने की ओर बढ़ी है। मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, श्रीलंका जैसे कई देशों में हिंदी गानों, फिल्मों, धारावाहिकों

तथा अन्य कार्यक्रमों के माध्यम से हिंदी के प्रति आकर्षण चरम पर दिखाई देता है। फिजी, सूरीनाम सहित कई देशों के प्रमुख नगरों में शायद ही कोई ऐसा सिनेमाघर होगा, जहाँ हिंदी फिल्म न दिखाई जाती हो। फिजी में बसे भारतीय लोगों के अतिरिक्त अन्य भाषा-भाषी तथा काईबीती लोगों में भी, जो फिजी के मूल निवासी हैं, हिंदी फिल्में देखने का बड़ा शौक है। एक समय सभी लोग अपने-अपने टेलीविजन पर वीडियो फिल्म देखते थे। हिंदी वीडियो फिल्म यहाँ सर्वाधिक देखी जाती थीं। कभी स्थान-स्थान पर हिंदी वीडियो फिल्में किराए पर देने वाली दुकानें थी, अब उनकी जगह इंटरनेट माध्यम ने ले ली है। सिने निर्माताओं की आय का बहुत बड़ा हिस्सा विदेशों में फिल्म के वितरण अधिकार देने से प्राप्त हो रहा है। हाल में सफल हुई हिंदी की अनेक फिल्मों ने इसके माध्यम से बहुत बड़ी पूँजी जुटाई है। यही वजह है कि हिंदी की बड़े बजट की फिल्में मुंबई, दिल्ली के साथ लन्दन, न्यूयार्क सहित दुनिया के तमाम शहरों में सबसे पहले प्रदर्शित की जाती हैं। यूरोप, अमेरिका सहित कई देशों में हिन्दी और हिन्दीतर भाषी परिवारों के लिए हिन्दी फिल्में भारत से जुड़ने के एक सशक्त साधन के रूप में देखी जा सकती हैं। वहाँ भारत से जुड़ाव के लिए हिन्दी फिल्मों के अतिरिक्त टी. वी. धारावाहिकों, समाचार चौनलों और क्रिकेट का भी अहम योगदान रहा है।

दुनिया के तमाम देशों से अलग-अलग प्रयोजनों से भारत आने वाले लोगों के लिए हिंदी सदियों से भारतीय संस्कृति और परम्पराओं का प्रवेश द्वार रही है। यूरोपीय देशों से आए अनेक प्रवासियों ने पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी में भारत के साथ नए रिश्ते की शुरुआत की थी, तब उन्होंने भारतीय संस्कृति की पहचान के लिए हिंदी सहित विभिन्न भाषाओं के प्रति अपना गहरा लगाव दिखाया था। इसी की फलश्रुति के रूप में उस दौर की हिंदी के अनेक व्याकरण, शिक्षण सामग्री और शब्दकोश अस्तित्व में आए थे। इन्हीं की नींव पर यूरोपीय देशों में भारतीय संस्कृति और हिंदी के अध्ययन-अनुसंधान का नया सिलसिला शुरू हुआ, जो आज भी जारी है। विदेशी मूल के अनेक लेखकों, विद्वानों ने भारतीय संस्कृति और हिन्दी के प्रति आत्मीय जुड़ाव के साथ इनके विविधायामी विकास में अविस्मरणीय योगदान दिया है। जॉन जोशुआ कैटेलर, डॉ कैलाग, दीमशित्स, वारान्निकोव, डॉ लोथर लुत्से आदि का कार्य आज भी मील का पत्थर बना हुआ है।

दुनियाभर में फैले प्रवासी भारतीयों के लिए हिंदी भाषाई-सांस्कृतिक पहचान को रूपायित करने के साथ अपनी संवेदना, अनुभव और विचारों को अभिव्यक्त करने का समर्थ माध्यम रही है। वर्तमान दौर में सक्रिय कई प्रवासी साहित्यकार, ब्लॉगर, पत्रकार, संस्कृतिकर्मी आदि इसी रूप में हिंदी को आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बनाये हुए हैं। हिंदी विश्व के विस्तार में प्रवासी साहित्य की अविस्मरणीय भूमिका रही है, इसे लेकर वरिष्ठ समालोचक डॉ. कमल किशोर गोयनका ने सार्थक टिप्पणी की है, ''प्रवासी साहित्य ने हिंदी को वैश्विक रूप प्रदान किया है। हिंदी का प्रवासी साहित्य भारतेतर देशों को भारत से जोड़ने का एक सेतु बनाता है, जिसके मूल में भारतवंशियों के स्वदेश-प्रेम, भाषा-प्रेम संस्कृति-प्रेम, उनकी संलग्नता, सहभागिता एवं सहयोग अटूट रूप में संबद्ध है। यह सेतु विश्वव्यापी हिंदी साहित्यिक समाज का निर्माण करता है, विभिन्न देशों के हिंदी-लेखक एवं हिंदी-समाज भारत के हिंदी-समाज से जुड़ते हैं और परस्पर एक दूसरे के निकट आकर हिंदी-विश्व को स्थायित्व प्रदान करते हैं। भारतेतर देशों में भारतवंशियों के इस हिंदी साहित्य ने अपना एक भरा-पूरा संसार निर्मित किया है। इस प्रवासी हिंदी साहित्य ने परदेश में रहते हुए स्वदेश को देखने का दृष्टिकोण बदला है और वहां की परिस्थितियों, जीवन-संघर्ष आदि को देखने, समझने, जीने के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी रूप से उद्वेलन एवं परिवर्तन उत्पन्न किया है।'' विदेशों में बसे ऐसे अनेक प्रवासी साहित्यकारों को विशिष्ट पहचान मिलने लगी है। हाल ही में कुछ विश्वविद्यालयों के पाठयक्रमों में देशांतर में हिन्दी की व्याप्ति के साथ हिन्दी डायस्पोरा को शामिल किया गया है। मॉरीशस से अभिमन्यु अनत (कथा साहित्य), अमरीका से सुषम बेदी (कथा साहित्य), सुधा ओम ढींगरा (कहानी), सुदर्शन प्रियदर्शिनी (उपन्यास, कहानी और कविता), अनिल प्रभा कुमार (कहानी और कविता), ब्रिटेन से मोहन राणा (कविता), जकिया जुबैरी (कहानी), तेजेन्द्र शर्मा (कहानी), दिव्या माथुर (कहानी), डेनमार्क से अर्चना पैन्यूली (उपन्यास), शारजाह से पूर्णिमा वर्मन (कविता), सिंगापुर से श्रद्धा जैन (गजल) जैसे कई लेखक अध्ययन-अध्यापन के अंग बने हैं, वहीं प्रवासी साहित्य पर अनुसन्धान की नई राह खुल गई है। विगत दशकों में अनेक लेखकगण दुनिया के तमाम देशों में सृजनरत रहे हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं- सोमदत्त बखोरी, मुनीश्वर चिंतामणि, प्रो. वासुदेव विष्णुदयाल, पूजानन्द नेमा, रामदेव धुरंधर, राज हीरामन, राजरानी गोबिन (मॉरीशस), पं. कमलाप्रसाद मिश्र, जोंगिदरसिंह कँवल, विवेकानंद शर्मा (फिजी), सुरेशचन्द्र शुक्ल

शरद आलोक (नॉर्वे), कविता वाचक्नवी (यूके), स्नेह ठाकुर (कनाडा), अनीता कपूर, अंजना संधीर (यूएसए) आदि। वस्तुत: देश दुनिया के कई विश्वविद्यालयों की पाठयचर्या और शोध की दृष्टि से हिन्दी में जारी प्रवासी लेखन को लेकर पैदा हुए नए रुझान और सक्रियता को शुभ संकेत माना जा सकता है, जो भारतीय संस्कृति और हिन्दी विश्व को नूतन परिप्रेक्ष्य दे रहा है।

विदेशों में भारतीय संस्कृति, धर्म और जीवन मूल्यों के प्रति अनुराग के साथ हिंदी शिक्षण के लिए बहुत बड़ी संख्या में लोग प्रवृत्त हैं, लेकिन उनके लिए स्तरीय और पर्याप्त पाठ सामग्री की उपलब्धता समस्या पैदा कर रही है। विदेशों में हिंदी शिक्षण से जुड़े पाठयक्रमों में हिंदी की सहज सम्प्रेषण क्षमता और समृद्ध साहित्यिक विरासत को समाहित करने के साथ ही भारतीय संस्कृति के साथ उसके तादात्म्य को साकार करने के लिए विशेष प्रयत्न जरूरी हैं। भाषा, लिपि और संस्कृति का गहरा संबंध होता है। मुश्किल यह है कि कुछ देशों में हिंदी को रोमन लिपि में लिखा-समझा जा रहा है, यद्यपि यह एक दौर की बाध्यता भी रही है। सूचना प्रौद्योगिकी के व्यापक प्रसार के साथ आज यह कोई समस्या नहीं है। इस दृष्टि से उन देशों में हिंदी के लिए देवनागरी जैसी अत्यंत वैज्ञानिक और स्वाभाविक लिपि के प्रयोग का वातावरण बने, यह जरूरी है। इस प्रकार के प्रयत्नों से हिंदी के सभी शिक्षार्थी भारत की जड़ों और संस्कृति को सहज ही आत्मसात कर सकेंगे, चाहे वे भारतवंशी हो फिर विदेशी मूल के।

विदेशों में स्थित भारतीय मिशन और दूतावास हिंदी की वैश्विक प्रतिष्ठा में विशिष्ट भूमिका निभाते आ रहे हैं। हिंदी और भारतीय संस्कृति के संरक्षण-सम्प्रसार में विदेश मंत्रालय के अंतर्गत क्रियाशील भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद द्वारा स्थापित भारतीय सांस्कृतिक केंद्र और हिंदी पीठ भी सक्रिय बने हुए हैं। जहाँ भारतवंशी बड़ी संख्या में बसे हुए हैं, ऐसे सभी देशों में इन केन्द्रों और पीठों को स्थापित करते हुए गहरे दायित्वबोध के साथ क्रियाशील किया जाना चाहिए। एक दौर में श्रीलंका में हिंदी सिने गीतों से आकर्षित होकर वहाँ के लोगों में हिंदी सीखने की ललक जागी थी, तब वहाँ के दूतावास ने हिंदी शिक्षण में प्रभावी योगदान दिया था। आज आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय राजनयिक, विशेष तौर पर भारतीय संस्कृति को आत्मसात किए हुए देशों में, सांस्कृतिक रिश्तों को सुदृढ़ बनाने के साथ हिंदी के प्रसार में प्रभावी भूमिका निभाएँ। तब हिन्दी विश्व के साथ भारतीय संस्कृति के परस्परावलंबन की नई राह खुल सकेगी। संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी की प्रतिष्ठा दिलाना महज राजनैतिक प्रश्न नहीं है, यह विश्व मंच पर सांस्कृतिक बहुलता और वैविध्य को प्रतिनिधित्व दिलाने की दृष्टि से बेहद जरूरी है। यूएनओ में वर्तमान में जो भाषाएँ आधिकारिक बनी हुई हैं, उनके माध्यम से एशिया की बहुत बड़ी जनसंख्या और समृद्ध संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं हो रहा है, इसकी पूर्ति यूएनओ में हिंदी की स्वीकार्यता से ही संभव होगी। इस दिशा में भारतीय मिशन और दूतावास की सक्रियता से यूएन में हिंदी की मान्यता के लिए जरूरी समर्थन जुटाने में सरकार के प्रयासों को समर्थ आधार मिल सकेगा। हिंदी मात्र सूचना, मनोरंजन या सृजन की भाषा ही न रहे वह ज्ञान, विज्ञान, विचार और संस्कृति की संवाहिका के रूप में स्थापित हो, तब हिंदी विश्व की नई संभावना के द्वार सहज ही खुल जाएंगे।

हिंदी और भारतीय संस्कृति मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी, गुयाना जैसे देशों में कठिन संघर्षों के बीच-पली बढ़ी है, उनका संघर्ष काल अब बीत चुका है। इन देशों में भारतवंशी बड़ी संख्या में हैं, वहीं राजनैतिक दृष्टि से प्रभावी भी हैं। समस्या यह है कि जिस तरह भारत में बसा प्रभुत्वशाली वर्ग पश्चिमाभिमुख होने को तत्पर है, लगभग वही स्थिति इन देशों में दिखाई दे रही है। नए दौर की चुनौतियाँ जैसी भारत में है, वैसी वहाँ भी है, जैसे आत्महीनता, कथित गुलाम मानसिकता, आधुनिक सभ्यता के दबाव, पराई भाषा और संस्कृति के प्रति अविचारित आसक्ति आदि। इनसे मुक्ति की राह भारतीय संस्कृति और हिंदी सहित भारतीय भाषाओं के प्रति गहरे स्वाभिमान और व्यापक व्यवहार से ही संभव है। हिंदी विश्व की स्वीकार्यता को भारतीय संस्कृति और अस्मिता के साथ जोड़कर देखने के साथ ही उनके बीच मौजूद जैविक रिश्ते को और सुदृढ़ बनाने की जरूरत है। नए दौर में विश्व संस्कृति को आधार देने में भारतीय संस्कृति की भूमिका को नए सिरे से पहचानना होगा। सूचना-संचार क्रांति के दौर में दुनिया के तमाम देशों के लोग, भाषाएँ और सांस्कृतिक परम्पराएँ परस्पर निकट आ रही हैं। ऐसे में दुनिया के विभिन्न हिस्सों में भारतीय संस्कृति, भाषा, कला और जीवन मूल्यों के प्रसार के साथ ही वहाँ के सांस्कृतिक उपादानों से अंत:संवाद और परस्परावलम्बन का नया सिलसिला प्रारम्भ हो। तभी वसुधैव कुटुम्बकम् का प्रादर्श पुन: मैदानी सच्चाई बन सकेगा और भारतीय संस्कृति के साथ हिंदी को नए क्षितिज की प्राप्ति सहज ही हो सकेगी।

✦✦✦

हिंदी का सांस्कृतिक रंग

—स्वाति श्वेता

आज का यह उत्तर-आधुनिक समय संस्कृतियों के टकराव का समय है। संस्कृति तत्वपरक, भाव मूलक आदर्श प्रवण है। स्थूल रूप से संस्कृति को किसी देश की जनता की जीवन विधा कहा जा सकता है।

वह मूल्यबोध की वह परंपरा है, जो जीवन दृष्टि और विश्व दृष्टि में प्रवाहित होती है। यह जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। संस्कृत के एक समकालीन कवि श्रीनिवास रथ का एक गीत स्मरण हो रहा है -----

''विज्ञान नौकास्मानियतेज्ञानग्ङ्गाविलुप्तेतीनालोक्येते संस्कृतोद्यानदूर्वादरिद्रीकृतानिष्कुटेषु स्वयं कंटकिन्याहृता पुष्पतानां लतानां नरक्षाकृता विस्तृता वाटिका योजना निर्मिता।''

अर्थात विज्ञान की नाव तो लाई जा रही है, पर ज्ञान की गंगा कहाँ खो गई यह देखने वाला कोई नही है। संस्कृति के उद्यान की दूब सुखा दी गई है और क्यारियों में कैक्टस खुद ला-लाकर रोपे जा रहे हैं। फूलती लताओं की रक्षा नही की गई, विस्तृत वाटिकाओं की योजना जरूर तैयार कर ली गई है।

कहना न होगा कि हमें अपनी संस्कृति के इस उद्यान को सूखने से बचाना है।

संस्कृति की विकास यात्रा एक रेखीय नही होती।

इसमें आवर्त और विवर्त होते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया और घात प्रतिघात का सिलसिला बना रहता है। इतना ही नहीं संस्कृति में उदात्त होते जाने का संकल्प है। संस्कृति तभी संस्कृति है जब वह सभ्यता को परिमार्जित करती चले।

विवेक, साधना, तत्व ज्ञान और आध्यात्मिकता से संस्कृति का मौलिक स्वरूप बना है।

सम्पर्क: गार्गी कॉलेज, ई-मेल: swati.shweta@gmail.com

वह मिट्टी, हवा, पानी और रक्त की तरह धमनियों में प्रवाहित रहती है तथा वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौपी जाती है।

भाषा व्यक्ति और संस्कृति की पहचान है। इतना ही नहीं भाषा व्यक्ति और राष्ट्र की समृद्धि की भी पहचान है। कहना न होगा कि संस्कृति की विरासत भी भाषा ही सजोती है। हिन्दी भी इन से अछूती नहीं। हिन्दी भारतीय संस्कृति की संवाहिका है।

अँग्रेजी अभी तक पूरे विश्व में 'लिंग्वा फ्रैंका' का कार्य कर रही थी परंतु भारत की राष्ट्रभाषा और राजभाषा हिन्दी आर्थिक और राजनीतिक कारणों से विदेशी भाषा के रूप में भी उभर रही है और अंग्रेजी को चुनौती दे रही है। अमेरिका, इंग्लैंड के अलावा कई अन्य देश साहित्यिक और व्यापारिक कारणों से हिन्दी भाषा को सीखने पर जोर दे रहे हैं। हिन्दी सीखकर वे हमारी संस्कृति से बहुत नजदीक से परिचित हो सकेंगे।

आज भारत के अलावा 150 से अधिक देशों में हिन्दी का अध्ययन-कार्य हो रहा है और पूरे विश्व में 100 करोड़ से अधिक लोग हिन्दी बोलते हैं। ---'संसार के नक्शे में जो बड़ी भाषाएँ हैं, उनमें एक हिन्दी है। बिल गेट्स के बेटे का वक्तव्य जो उन्होंने बर्मिंघम में दिया था वहाँ के एक अँग्रेजी अखबार में पिछले दिनों छपा ---'अँग्रेजी को थोड़ा चौकन्ना रहने की जरूरत है क्योंकि चीनी, हिन्दी और स्पेनिश उससे स्पर्धा कर रही हैं।'

अँग्रेजी को आखिर क्यों चौकन्ना रहने की जरूरत पड़ रही है। उत्तर स्पष्ट है ---हिन्दी लचीली भाषा है जिसमें प्रयुक्ति के विभिन्न स्तर हैं और उसमें भिन्न-भिन्न संदर्भों को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। यही नहीं हिन्दी कंपोजिट पर्याय सामासिक संस्कृति -एकता की वाहक भी है। कहना न होगा कि हिन्दी भारत की सामासिक संस्कृति के सभी अंगों का वहन करने में सक्षम भाषा है। भारत की सामासिक संस्कृति असमिया, गुजरती, बंगला, मराठी आदि विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं में निहित है। इसने जहाँ एक ओर अँग्रेजी के शब्दों को आत्मसात किया वहीं दूसरी ओर अपनी बोलियों, भाषाओं, अरबी-फारसी के शब्दों को भी अपनाया है। विदेशी भाषाओं के शब्दों की ग्रहण-क्षमता के बावजूद हिन्दी अपनी प्रकृति को बनाए हुए है और दबावों में भी हिन्दी की अस्मिता बढ़ रही है।

यह कहना गलत नहीं होगा कि हिन्दी को विश्व भाषा के रूप में स्थापित करने में अनुवाद का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रवासी भारतीयों के कारण हिन्दी पहले से ही फीजी, मारीशस, त्रिनिदाद आदि में प्रतिष्ठित थी। अनुवाद के माध्यम से हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन अंतरराष्ट्रीय स्तर पर संभव हो पाया। हिन्दी विश्व की अन्य संस्कृतियों के अब और नजदीक आ गई है। हिन्दी में अनुवाद हो सकने के कारण ही आज बहुत से हिन्दी भाषी लियो टालस्टाय, गोर्की, शेक्सपीयर आदि की कृतियों के माध्यम से उनकी संस्कृति को जान पा रहे हैं। इतना ही नहीं अनुवाद के माध्यम से ही हिन्दी तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम, गुजराती आदि अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य और संस्कृति के और निकट पहुँच सकी है। हमारी संस्कृति की संवाहिका हिन्दी के विकास में जिन विदेशी विद्वानों का अद्वितीय योगदान है उनमें बेल्जियम के फादर कामिल बुल्के का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। चेकोस्लोवाकिया के डॉ आड़ोनाल्ड स्मेकल प्रथम विदेशी हिन्दी कवि हैं जो विदेश की धरती पर जन्में, भारत में चेक गणराज्य के राजदूत रहे और निरंतर हिन्दी भाषा में काव्य सृजन करते रहे। इतना ही नहीं लंदन में भारतीय संस्कृति की अनेक संस्थाओं से सक्रिय रूप से संबद्ध, लंदन के दक्षिण एशिया विभाग में प्राच्य और अफ्रीकी अध्ययन केंद्र में हिन्दी के विद्वान डॉ. स्नेल ने हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा के चार खंडों एवं धर्मवीर भरती की 'कनुप्रिया' का अँग्रेजी अनुवाद किया। जापान के डॉ. तोमियों मिजोकामि ने हिन्दी भाषा में सृजनात्मक साहित्य भी लिखा। पोलैंड के डॉ. बिृंस्की, रोमानिया के प्रो. निकोलाया ज्वेर्या, कैनेडा की डॉ. कैथरीन, डेन्मार्क के प्रो. फिंकीसन, हंगरी की प्रो. मारिया नैज्येशी आदि विश्व के अनेक विद्वान हैं जो भारतीय संस्कृति और हिन्दी चेतना के वाहक बने।

हिन्दी भाषा के माध्यम से हमारी संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग माने जाने वाले योग, शास्त्रीय और लोक कलाओं का प्रचार –प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हुआ। हिन्दी सिनेमा ने भी भारतीय संस्कृति को विश्व के कोने–कोने में फैलाया। हमारी संस्कृति के संवाहक विद्वान, विदुषियाँ, नृत्यांगनाएँ और प्रवचनकर्ता सम्पूर्ण विश्व में भ्रमण कर इसका प्रचार–प्रसार करते हैं।

सरकारी स्तर पर बात करें तो तो कई एजेंसियां बाहरी देशों में भारतीय संस्कृति और हिन्दी के प्रसार–प्रचार के काम में लगी हैं। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, दूरदर्शन और आकाशवाणी, अपनी विदेशी सेवाओं के माध्यम से और विदेश मंत्रालय, पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय अपने–अपने स्तर पर कार्य कर रहे हैं। हिन्दी के दर्शकों की बढ़ती हुई मांग के कारण विदेशी चौनल अब हिन्दी भाषा में ज्ञान–विज्ञान के कार्यक्रम, कार्टून, खान–पान के कार्यक्रम दिखा रहे हैं। यह हिन्दी के बढ़े कदम ही हैं कि डिस्कवरी और नेशनल जिओग्राफिक चैनल अब हिन्दी में भी आ रहा है।

भूमंडलीकरण, बाजारवाद, दलित विमर्श, लोक चेतना और स्त्री –विमर्श सब आज हिन्दी में एकाग्रता के साथ व्यक्त हो रही हैं।

भारत विविधताओं का देश है जहाँ विभिन्न धर्म, जाति, वर्ण और वर्ग के लोग रहते हैं। भारतीय संस्कृति ने आज उन्हें विकृत हुए बिना अपने में समाहित कर लिया है। कहना न होगा कि हिन्दी 'समष्टि में व्यष्टि' के सिद्धान्त का ज्वलंत उदाहरण है।

हिन्दी की शक्ति उसकी बोलियों में छिपी है। भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, अंगिका, अवधी, ब्रज आदि में तो इस विविधता को खासकर महसूस किया जा सकता है।

भाषा एक ओर संस्कृतियों का वहन करती है तो दूसरी ओर वह मनुष्य के भावों का भी वहन करती चलती है। हम चाहे किसी भी भाषाई परिवेश में क्यों न चले जाए हमारी भाषा हिन्दी और उसकी बोली कहीं न कहीं हमारे अवचेतन में बनी रहती है। हिन्दी और उसकी बोलियों में इतनी सारी विविधता तथा उसके अलग–अलग अर्थ–संदर्भ ही उसकी ताकत बन गई है।

बाजार ने धर्म, राजनीति, मीडिया, विज्ञापन जैसे अपने औजारों की मदद से हिन्दी की अस्मिता को चोट पहुँचाने की कोशिश की है लेकिन हिन्दी अपने अस्तित्व पर आए तमाम नव उपनिवेशवाद – नव उदारवादी हमलों से जूझती हुई बड़े ही चाक–चौबन्द ढंग से अपना विस्तार कर रही है।

आज हिन्दी का जो अंतरराष्ट्रीयकरण हुआ है वह हिन्दी को आत्मसात कर नेकी और अनुकूलन की प्रवृति के कारण ही संभव हो सका है।

आज हिन्दी के बहुत सेवक हो चुके हैं पर ध्यान दिलाना चाहूंगी कि उनमें से कई तथाकथित सेवक भी हैं। नए लेखक तेजी से तैयार हो रहे हैं। सबका साथ सबका विकास हिन्दी के साथ भी जुड़ा है।

हिन्दी सेवकों में समर्पित लोग ऐसे नहीं होने चाहिए जो केवल मौका देखकर ही सेवाभाव से लबरेज हों। हिन्दी की याद तभी नहीं आनी चाहिए जब हिन्दी दिवस हो या फिर या जब हिन्दी के नाम पर विदेशों की यात्राएँ करनी हो। विदेशी यात्राओं की आँधी बहते ही हिन्दी के वटवृक्ष पर चढ़े यह हिन्दी ज्ञान के पिपासु छलाँग लगा विदेशी यात्राओं की आँधी में बह जाना चाहते हैं। समर्पित लेखक तो दिनरात हिन्दी के दीये जला–जलाकर साहित्य की सेवा करते जा रहे हैं और विश्व की संसृति को भारतीय संस्कृति से और भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति से जोड़ने का कार्य मूक रूप से करते जा रहे हैं। हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं का पसरता जाल हो या फिर कुकुरमुत्ते की तरह रातों–रात उग आए टीवी के हिन्दी चैनल हों, चाहे दुभाषिए हों या फिर कई सरकारी महकमों में लगे हिन्दी अधिकारी हों, इन सब के कारण भारतीय संस्कृति देश के साथ–साथ विदेशों में भी फैल रही है। विश्व हिन्दी सम्मेलन से अपेक्षाएँ अधिक हैं। वह हमेशा की तरह हिन्दी की प्रगति के मूल्यांकन का प्रस्थान बिन्दु बनता रहे।

✦✦✦

भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं का वैज्ञानिक आधार

—मोनिका अग्रवाल

सम्पर्क: कुमार कुंज, जीएमडी रोड, मुरादाबाद, पिन-244001, मो: 9568741931 ई-मेल: monikagarwal22jan@gmail.com

प्रत्येक देश की अपनी सामाजिक परंपराए होती हैं। यह परंपराएं उस समाज के अनुभव तथा स्थानीय दशाओं पर आधारित और समाज के लिए हितकारी होती हैं। समाज उन परंपराओं को अपना लेता है और समय बीतने के साथ साथ, वह समाज और उस देश की संस्कृति का अंग बन जाते हैं। हमारे देश का समाज और संस्कृति अति प्राचीन है। परंपराओं के पालन से, समाज को लाभ देखकर, उनका पालन सुनिश्चित करने हेतु, मनीषियों ने परंपराओं को धर्म के साथ जोड़ दिया जिससे उनका महत्व बढ़ने के साथ-साथ उन पर आस्था भी उपजी; और उनका पालन सुनिश्चित हो गया। दशक बीते सदियां बीती। समाज परंपराओं का पालन करता रहा परंतु यह भूल गया कि अमुक परंपरा क्यों मनाई जाती है? उसका क्या महत्व है? उसके पालन से उस व्यक्ति और समाज को क्या लाभ मिलता है? बाद में उनका पालन पूर्वजों की परंपरा मानकर किया जाने लगा।

क्यों पूजा करते हैं लोग पीपल के वृक्ष की?

पीपल को हिंदू धर्म में ब्रह्मा भगवान मानकर उसकी पूजा की जाती है।

पीपल की पेड़ अनेक रोगों की दवा बनाने के काम आता है और पीपल ही एकमात्र ऐसा पेड़ है, जो रात में भी ऑक्सीजन छोड़ता है जो जीव-जगत के लिए प्राण हैं, जबकि रात में ऑक्सीजन का मुख्य स्रोत पेड़-पौधे कार्बन डाई-ऑक्साइड छोड़ते हैं। इस वृक्ष की छाया सर्दियों में गर्म तथा गर्मियों में ठंडी रहती है।

शास्त्रों में सगोत्र विवाह करना वर्जित क्यों है?

हमारी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार विवाह अपने कुल के बाहर होना चाहिए। हिंदू शास्त्रों में अपने कुल में विवाह करना अधर्म, निंदित और महापाप बताया गया है। इसलिए माता की 5 तथा पिता की 7 पीढ़ियों को छोड़कर अपनी ही जाति की दूसरी गोत्र की कन्या से विवाह हेतु कहा गया है।

चिकित्साशास्त्रियों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि निकट संबंधियों के बीच विवाह होने से उत्पन्न संतानों में आनुवांशिक दोष अधिक होते हैं जैसे-जन्मजात विकलांगता, मानसिक जड़ता आदि। इसलिए शास्त्रों में सगोत्र विवाह वर्जित है।

धार्मिक कार्य में शंख बजाने की परंपरा क्यों?

पूजा-पाठ, उत्सव, हवन, विजयोत्सव, आगमन, विवाह, राज्याभिषेक आदि शुभ कार्यों में शंख बजाना शुभ और अनिवार्य माना जाता है। मंदिरों में सुबह और शाम के समय आरती में शंख बजाने का विधान है। शंखनाद के बिना पूजा-अर्चना अधूरी मानी जाती है। सभी धर्मों में शंखनाद को बहुत पवित्र माना गया है।

अथर्ववेद के चौथे कांड के दसवें सूक्त में स्पष्ट कहा गया है कि शंख अंतरिक्ष, वायु, ज्योतिर्मंडल एवं सुवर्ण से संयुक्त है। इसकी ध्वनि शत्रुओं को निर्बल करने वाली होती है हमारा रक्षक है। यह राक्षसों और पिशाचों को वशीभूत करने वाला, अज्ञान, रोग एवं दरिद्रता को दूर भगाने वाला तथा आयु को बढ़ाने वाला है।

शुभ कार्यों का प्रारंभ स्वास्तिक से क्यों?

प्रत्येक शुभ और कल्याणकारी कार्य में स्वास्तिक (सातिया) का चिह्न सर्वप्रथम प्रतिष्ठित करने का आदिकाल से ही नियम है। गणेश पुराण में कहा गया है कि स्वास्तिक, भगवान गणेशजी का स्वरूप है। मांगलिक कार्यों में इसकी स्थापना अनिवार्य है।

इसमें विघ्नों को हरने और सारे अमंगल दूर करने की शक्ति निहित है। जो इसकी प्रतिष्ठा किए बिना मांगलिक कार्य करता है, वह निर्विध्न सफल नहीं होता। इसी कारण किसी भी मांगलिक कार्य के शुभारंभ से पहले स्वास्तिक चिह्न (सातिया) बनाकर स्वास्तिवाचन करने का विधान है। सातिया को सुदर्शन चक्र का प्रतीक भी माना जाता है। यह धनात्मक या 'प्लस' को भी इंगित करता हैं, जो संपन्नता का प्रतीक है। स्वास्तिक के चारों ओर लगाए गए बिंदुओं को चार दिशाओं का प्रतीक माना गया है।

हिंदु धर्मानुसार संस्कार कितने के होते हैं?

वेदव्यास के अनुसार संस्कार सोलह प्रकार के होते हैं-1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमन्तोन्नयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. निष्क्रमण, 7. अन्नप्राशन, 8. चूड़ाकर्म, 9. कर्णवेध, 10. यज्ञोपवीत, 11. वेदारंभ, 12. केशांत, 13. समावर्तन, 14. विवाह, 15. आवसश्याधाम, 16. श्रौता धाम।

नामकरण

शिशु के जन्म के बाद बहुत से ऐसे रीति-रिवाज हैं जिसका लोग पालन करते हैं। जिसमें नामकरण, अन्नप्राशन या फिर मुंडन ये सभी जन्म के बाद मुख्य रूप से बच्चों में किया जाता है। खासकर अगर बात मुंडन की करें तो भारत में मुंडन या पहली बार बाल उतरने के उत्सव को बड़े ही धूम-धाम से मनाया जाता है। यह एक प्रकार का रिवाज है जो बरसों से चला आ रहा है।

शिशु में बाल कटवाने को लेकर अलग-अलग धारणाएं हैं, जिसमें ऐसा माना जाता है कि जब बच्चा मां के गर्भ में होता है तब उसके सिर के बालों में बहुत से कीटाणु और बैक्टीरिया लगे होते हैं, जो साधारण तरीके से धोने से नहीं निकलते। इसलिए एक बार बच्चे के सिर के बाल हटाना जरूरी होता है।

हालांकि, मुंडन होने के पीछे सिर्फ धार्मिक मान्यता नहीं बल्कि कुछ वैज्ञानिक कारण भी हैं। मुंडन करवाने से बच्चों की सेहत में कई लाभ पहुँचते हैं जिस वजह से बच्चे का मुंडन करवाना बेहद जरूरी हो जाता है।

इसके अलावा, शिशु में जन्म के बाद बाल इसलिए भी हटाएँ जाते हैं ताकि काले-घने बाल निकल कर आएं। इसलिए इस बाल को निकाला जाता है।

मुंडन कराने से बच्चों के शरीर का तापमान सामान्य हो जाता है, जिससे कि फोड़े-फुंसी की समस्या बच्चों में नहीं होती है।

कर्णवेध संस्कार

इस संस्कार में कानों को छेदने की प्रथा है। कर्ण-छेदन का संस्कार प्रायः छठे, सातवें, आठवें या ग्यारहवें वर्ष में संपन्न कराया जाता है। लड़के के दाहिने कान को छेदने तथा लड़कियों के दोनों कानों को छेदने की प्रथा प्रचलित है।

वैज्ञानिक दृष्टि से कर्णभेद संस्कार के ऐसे फायदे हैं जिसे जानकार आप चौंक जाएंगे। विज्ञान कहता है कि कर्णभेद से मस्तिष्क में रक्त का संचार समुचित प्रकार से होता है। इससे बौद्धिक योग्यता बढ़ती है।

अन्नप्राशन

एक बहुत ही प्रचलित कहावत है जैसा खायें अन्न वैसा होगा मन यानि हम जिस प्रकार का अन्न यानि भोजन ग्रहण करते हैं हमारे विचार हमारा व्यवहार भी उसी प्रकार का हो जाता है। सात्विक भोजन से सात्विक गुण और तामसिक भोजन से तामसी प्रवृत्ति हमारे अंदर आ जाती है। खान-पान संबंधी दोषों को दूर करने के लिये ही जातक के जन्म के सात मास बाद ही सप्तम संस्कार किया जाता है जिसका नाम है अन्नप्राशन। हिंदू धर्म के सोलह संस्कारों में अन्नप्राशन संस्कार का भी खास महत्व है।

छह मास तक शिशु माता के दूध पर ही निर्भर रहता है लेकिन इसके पश्चात उसे अन्न ग्रहण करवाया जाता है ताकि उसका पोषण और भी अच्छे से हो सके।

क्यों करते हैं लोग व्रत और उपवास?

हिंदू धर्म विचारधारा के अनुसार देवी–देवताओं को प्रसन्न करने के लिए व्रत–उपवास किया जाता है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से देखें, तो कुछ दिनों में जैसे एक हफ्ते या एक माह में एक उपवास रखकर यदि भारी पदार्थ या अन्न न खाकर खूब पानी पिया जाए, तो शरीर हल्का हो जाता है व कब्ज जैसी व्याधियों से राहत मिलती है। मोटापे को कम करने में भी उपवास सहायक है परंतु आज देखा जाता है कि कई लोग व्रत–उपवास तो रख लेते हैं पर व्रत के खाने के नाम पर कुछ–न–कुछ दिन भर खाते रहते हैं। यह लाभ की बजाए हानि ही करता है।

नज़र लगना

बुरी नजर से बचाने के लिए बच्चों पर किसी काली वस्तु का स्पर्श किया जाता है।

कारण स्पष्ट है यह इसलिए किया जाता है क्योंकि काली वस्तुएं हर प्रकार का विकिरण अवशोषित कर सकती हैं। इस प्रकार बच्चों के शरीर पर पड़ने वाले विकिरण के प्रभाव की संभावना क्षीण हो जाती है।

महिलाएं एवं पुरुष माथे पर कुमकुम या तिलक लगाते हैं।

वैज्ञानिक तर्क–आँखों के बीच में माथे तक एक नस जाती है। कुमुकुम या तिलक लगाने से उस जगह की ऊर्जा बनी रहती है। माथे पर तिलक लगाते वक्त जब अंगूठे या उंगली से प्रेशर पड़ता है, तब चेहरे की त्वचा को रक्त सप्लाई करने वाली मांसपेशी सक्रिय हो जाती है। इससे चेहरे की कोशिकाओं तक अच्छी तरह रक्त पहुँचता है।

चरण स्पर्श

मान्यता के अनुसार जब भी आप किसी बड़े से मिलें, तो उसके चरण स्पर्श करें। यह हम बच्चों को भी सिखाते हैं ताकि वे बड़ों का आदर करें।

मस्तिष्क से निकलने वाली ऊर्जा हाथों और सामने वाले पैरों से होते हुए एक चक्र पूरा करती है। इसे कॉसमिक एनर्जी का प्रवाह कहते हैं। इसमें दो प्रकार से ऊर्जा का प्रवाह होता है, या तो बड़े के पैरों से होते हुए छोटे के हाथों तक या फिर छोटे के हाथों से बड़ों के पैरों तक।

सूर्य नमस्कार

हिंदुओं में सुबह उठकर सूर्य को जल चढ़ाते हुए नमस्कार करने की परंपरा है।

पानी के बीच से आने वाली सूर्य की किरणें जब आँखों में पहुँचती है, तब हमारी आँखों की रौशनी बेहतर होती है।

तुलसी की पूजा

तुलसी की पूजा करने से घर में समृद्धि आती है। सुख शांति बनी रहती है।

तुलसी प्रतिरोधक क्षमता को मजबूत करती है। लिहाजा अगर घर में पेड़ होगा, तो इसकी पत्तियों का इस्तेमाल भी होगा और उससे बीमारियां दूर होती है।

मूर्ति का पूजन

हिंदू धर्म में मूर्ति का पूजन किया जाता है।

यदि आप पूजा करते वक्त कुछ भी सामने नहीं रखेंगे तो आपका मन अलग–अलग वस्तु पर भटकेगा। यदि सामने एक मूर्ति होगी, तो आपका मन स्थिर रहेगा और आप एकाग्रता और ठीक ढंग से पूजन कर सकेंगे।

मेहंदी प्रयोग

शादी–ब्याह, तीज–त्योहार पर हाथों–पैरों में मेंहदी लगायी जाती है, ताकि महिलाएं सुंदर दिखें।

मेहंदी एक जड़ी बूटी है, जिसके लगाने से शरीर का तनाव, सिर दर्द, बुखार आदि नहीं आता है। शरीर ठंडा रहता है और खास कर वह नस ठंडी रहती है, जिसका कनेक्शन सीधे दिमाग से है। लिहाजा चाहे कितना काम हो, तनाव नहीं आता।

यहाँ हिंदू धर्म की कुछ परंपरायें तथा उनके वैज्ञानिक तर्क तथा फायदे बताये गये हैं। दरअसल पुराने समय से चली आ रही ये परंपरायें हमारे ऋषि मुनियों के गहन अध्ययन का नतीजा हैं जिनसे लोगों को प्राकृतिक चिकित्सा का लाभ मिलता है। अब वैज्ञानिक तथा आयुर्वेद ने भी अपने शोधों से यह प्रमाणित कर दिया है कि ऋषि मुनियों और हमारे पूर्वजों द्वारा चलाई गई ये परंपरायें मानव जीवन के लिए बहुत फायदेमंद हैं तथा जरूरी भी हैं।

✦✦✦

समावेशी संस्कृति के प्रतीक: गुरु जम्भेश्वर

—प्रो. अनिल राय

निर्गुण संत काव्य परंपरा में गुरु जम्भेश्वर का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। जम्भनाथ, जम्भेश्वर, जम्भोजी इत्यादि इनके कई नाम मिलते हैं। ऐसा माना जाता है कि इनके माता-पिता प्रेम से इन्हें बचपन में जम्भो नाम से पुकारते थे। यही जम्भो शब्द गुरु जम्भेश्वर के व्यक्तित्व के अनुसार कई रूपों में प्रचलित हुआ। गुरु जम्भेश्वर के बारे में प्रचलित हैं कि चौंतीस वर्ष की अवस्था तक इन्होंने एक शब्द भी उच्चारित नहीं किया और ऐसे अनेक विस्मयकारी और चमत्कारिक कार्य किए जिससे जनमानस में इनका प्रभाव व्याप्त हुआ। अपने महान चिंतन और आध्यात्मिक चेतना से इन्होंने साधना के उच्चतम सोपानों का संस्पर्श किया, फलत: वे मुनीन्द्र जम्भरषि के नाम से विख्यात हुए।

गुरु जम्भेश्वर आरंभ से ही चिंतनशील प्रवृत्ति के थे और मानवीय संवदेना से ओतप्रोत थे। वे मनुष्यता के साक्षात् अवतार थे। उनकी आध्यात्मिक चेतना का उद्देश्य भी लोकमंगल और मानवीय संवेदना का परिष्कार था। वे अन्य निर्गुण संतों की भांति ही यायावरी थे और इस यायावरी वृत्ति ने उन्हें ज्ञानात्मक संवेदना और तत्वाभिनिवेशी दृष्टि से सम्पन्न किया। अपने संप्रदाय व सिद्धांतों का प्रसार उन्होंने अपनी जन्मभूमि से इतर भी किया; यही कारण है कि उनकी वाणी की व्याप्ति उत्तरी भारत के अधिंकाश भूभागों में दिखायी पड़ती है।

गुरु जम्भेश्वर की वाणी में संत-परंपरा के अधिकांश तत्व देखने को मिलते हैं। उसमें जय, निरंजन की साधना, अजपाजाप, सतगुरु महिमा, सोह्यजाप, जरा-मरण मुक्ति, अनन्य भक्ति इत्यादि मिलती है, किंतु इन सबसे बढ़कर उनकी वाणी की विशेषता उसमें निहित गहरी मानवीय संवेदना और विश्व मानवतावाद है। मानवतावाद उनकी वाणी का मूल है। वे मनुष्य की चिंता करने वाले ऐसे संत हैं जिनकी वाणियों में निहित संदेश आधुनिक मनीषा को भी ग्राह्य है। स्वयं अक्षर ज्ञान से वंचित गुरु जम्भेश्वर की वाणियों में न केवल तत्त्वचिंतन का सघन स्पंदन है, अपितु अपने समय और समाज की गहरी चिंता है। धर्म के नाम पर आडंबर और व्यवस्था के नाम पर विषमतामूलक समाज गुरु जम्भेश्वर को कतई स्वीकार नहीं था।

विश्व हिंदी सम्मेलन
मॉरीशस, 18-20 अगस्त, 2018

सम्पर्क: 86, अमित अपार्टमेंट, सेक्टर-13, रोहिणी, दिल्ली-110085
ई-मेल: anilrai1963@gmail.com

इस दृष्टि से देखें तो वे कबीर की ही परंपरा का विकास करते नजर आते हैं, परंतु बिना किसी विद्रोह और व्यंग्य के। उन्हें कबीर की तरह दोहा देने की जरूरत नहीं पड़ी। वे गहरे मानवीय करूणा से संपन्न चिंतक और सच्चे अर्थो में युग चेता संत थे। उनका कहना है कि न मैं क्रोध करता हूँ और न दुखी होता हूँ। न किसी को दुखी करता हूँ और न ही किसी को शाप देता हूँ।

'को पूँ न कलायूँ, दुख न सरायूँ।' (सबद-2/4) इस पंक्ति से जम्भेश्वर जी की मानव मात्र के प्रति गहरी सम्पृक्ति झलकती है। उन्होंने सुंदर जीवन जीने के लिए 120 नियम बनाये हैं। व्यक्ति उन नियमों का पालन कर अपने जीवन को श्रेष्ठ और सार्थक बना सकता है। उनका कथन है कि 'जीवन जुगति और मुवा मुक्ति' अर्थात् 'जीते जी भरो, जीवन से मुक्ति प्राप्त करो'। जो जीने की सही निधि जानता है वही ऐसा कर सकता है। जो जीवन से संघर्ष करता है, जूझता है, जीवन के रहस्यों को समझता है, उसकी जटिल गांठों को खोलता है, वही जीवन का रस प्राप्त करता है। यही 'भराजिवा' भाव है। सूफियों के यहाँ भी साधक इसी प्रक्रिया से 'अन-अलहक' की अवस्था को प्राप्त करता है और यही गुरु जम्भेश्वर जी के विचार में 'मुक्ति भाव' है। साधक की साधना का यही लक्ष्य है। इस ऊर्ध्व अवस्था तक पहुँचा हुआ साधक ही समष्टिगत चेतना से सम्पन्न हो सकता है।

गुरु जम्भेश्वर ने अपने ज्ञानोपदेश के माध्यम से कलिकाल में वही कार्य किया है जो कभी द्वापर में भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के ज्ञानोपदेश के द्वारा अर्जुन के मोह-भंग के माध्यम से किया था। जम्भेश्वर जी जन-जन का जगत्-मोह दूर किया। सृष्टि के जटिल रहस्य के बारे में बताया और इस बात पर बल दिया कि ज्ञान-मार्ग ही जीवन का मूल है, जो इस मार्ग पर नहीं चलता उसको कभी भी चैन नहीं मिल सकता। गुरुजी के शब्द ही सिद्धांत बन गये और बिस्नोई समाज के चिंतन का मूल आधार भी।

साहित्य वहीं स्तुत्य होता है जो केवल स्वांत:सुखाय न होकर बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय हो। जम्भेश्वर जी वाणी भी साहित्य की इसी अंत:प्रेरणा की प्रतिध्वनि है।

सामाजिक समरसता के प्रसार की प्रक्रिया में संत जम्भेश्वर जी ने निम्न और उच्च श्रेणी का कोई विचार नहीं किया है, अपितु उन्होंने अपनी वाणियों में समाज के हर तबके का ध्यान रखा है। हर वर्ग के लोगों से उन्हें प्यार और सौहार्द था। अपनी व्यापक मानवीय संवेदना के कारण ही गुरु जम्भेश्वर मरुभूमि के मसीहा कहे जाते हैं। मानव मात्र के कल्याण के लिए उन्होंने कबीरादि संतों की भांति इसी दुनिया में रहकर इसे बेहतर बनाने की बात की है। वे एक ऐसे लोकधर्मी संत एवं चिंतक हैं जिसने धर्म को भी मानव मात्र के कल्याण के लिए इस्तेमाल किया। वे धर्म की उस संकीर्ण मनोभूमि के प्रति उपेक्षा दिखाते हैं जहाँ धर्म आडंबरों और अंधविश्वासों से जुड़ा हुआ है।

मध्यकालीन समाज अनेक प्रकार के अंधविश्वासों और धार्मिक पाखंडों से जकड़ा हुआ था। रूढ़ियों, अंधविश्वासों और पाखंड के अनेक स्तरों का कबीरदास दिखा चुके थे। वे उन पर गंभीर चोट कर चुके थे—विद्रोह की सीमा तक। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, गुरु जम्भेश्वर का कार्यक्षेत्र मूलत: राजस्थान और उसका समीपवर्ती भूभाग रहा है। राजस्थान की मरुभूमि में उस समय अनेक प्रकार की सामाजिक जटिलताएं थी। समाज भूत-प्रेम और जादू-टोने की संकीर्णताओं में जकड़ा हुआ था। वैज्ञानिक चिंतन का नितांत अभाव था। ऐसे में एक वर्ग ऐसा था जो धर्म को ढाल बनाकर भोली-भाली जनता को भूत-प्रेम का भय दिखाकर मूर्ख बनाता था। ऐसे लोगों पर गुरु जम्भेश्वर जी करारी चोट करते हैं और जनता को सावधान करते हैं कि इस प्रकार के प्रपंच से लोगों को सावधान रहना चाहिए—'भूत परेती जपीजै, अैत पाखंड परवाणौ।

जम्भेश्वर जी कबीर की भांति ही बड़े तीखे शब्दों में हिंदू और मुस्लिम समाज में व्याप्त अंधविश्वासों और तज्जन्य अनाचारों का अनावरण करते हैं। वे एक तरफ पाहन-पूजन का प्रतिरोध करते हैं, तो दूसरी तरफ गाय मारने वालों की खबर लेते हैं। वे योगियों और काजियों को फटकारते हुए कहते हैं 'हे योगी! तुम योग ही अंतश्चेतना को नहीं समझते; हे काजी! तुम कुरान की अंतरात्मा को नहीं पहचानते। गाय की हत्या क्यों करते हो? क्या गाय की हत्या से तुम्हारा खुदा खुश होता है?

जोगी रे तूं जुगति पिछांणी, काजी रे तूं कलंक कुरांणी।

गऊ विणासौ काहे के तांई, राम राय सूं दीन्हीं दानी।।

धर्म का मूल दया और मानवीय करूणा है। मानवीय करूणा ही वह भाव है जो मनुष्य को जीव मात्र के प्रति संवेदनशील बनाता है। भगवान बुद्ध और महावीर की महान करूणा भावना ने ही उन्हें और उनके चिंतन को वैश्विक बनाया। उसी करूणा भावना से अनुप्राणित है गुरु जम्भेश्वर की वाणी।

मध्ययुगीन कवियों और संतों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे अमानवीय व्यवहार करने वालों को नरक का भय दिखाकर सही रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते हैं। जीवों पर अत्याचार करने वालों को गुरु जम्भेश्वर जी नरक में भेजते है।। उनका कहना है कि जीवों के ऊपर जो जुल्म करते हैं वे अवश्य ही नरक के भागी होते हैं—

जीवां ऊपरि जोर करीजै, अंतकाल हुयासी भारी।

गुरु जम्भेश्वर का मानना है कि मनुष्य व्यष्टि से समष्टि की यात्रा तभी करता है, जब वह सत्कार्य और परोपकार करता है किंतु कुपात्र और पाखंडियों के प्रति वे लोगों को सजग करते हैं। उनका कहना है कि कुपात्र और पाखंडी को दिया गया दान उसी प्रकार है जिस प्रकार अंधेरी रात में चोर घर का सामान ले जाता है—

कुपातां नै दान नदीयौ, जांणे रैण अंधारी चोरै लीयौ।

आज तो लोगों के ऐसे चेहरे हैं कि पहचानना ही मुश्किल है कि कौन कुपात्र है, और कौन सुपात्र! निहित स्वार्थ लोगों का इतना चारित्रिक पतन हो गया है कि लोग छोटे-छोटे स्वार्थों को पूरा करने के लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं। अपने एक शब्द में जम्भेश्वर जी इस ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

गुरु चेलै के पाए लागै, देखौ लोग अन्याई।

आज के समय में मनुष्य की बढ़ती लोलुप वृत्ति है। स्थान-स्थान पर इस प्रकार के कृत्य करते लोग दिख जाएँगे जिससे मानवता शर्मसार होती है और लोग लहूलुहान होते हैं। यह सारी मारा मारी मानव की अतिशय स्वार्थ भावना के कारण ही है। यही कारण है कि संतों ने संतोष भावना को सर्वाधिक प्रगतिगामी मानवमूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया—'जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान'। संतोष न होने के कारण ही लोग क्षत-विक्षत हो रहे है। ऐसे में गुरु जम्भेश्वर जी का चिंतन और प्रासंगिक हो रहा है।

जम्भेश्वर जी का विचार है कि मनुष्य के भीतर पाशविक वृत्तियों का समावेश नहीं होना चाहिए। यह समूची मानवता के लिए अभिशाप है। इसके विपरीत मनुष्य में प्रेम, दया और करूणा का भाव होना चाहिए; जिन लोगों के हृदय में करूणा, दया और प्रेमभावना का संचार नहीं होता वे समूची मानव जाति के लिए निरर्थक हैं—

जां जां दया न मया, तां तां विक्रय कया।[7]

संत जम्भेश्वर जी ने ये बातें केवल उपदेश देकर सिद्धांत मात्र के रूप में नहीं कही हैं; बल्कि अपने सकर्मक व्यक्तित्व और आचरण के माध्यम से उन्हें जीवन में उतारा भी है। उनका मानना है कि नर ही नारायण का रूप धारण करता है, किंतु अपने चिंतन, विचार और कर्म के द्वारा।

गुरु जम्भेश्वर जी ने अपनी वाणियों के माध्यम से मनुष्य के भीतर उस अग्रगामी चेतना का प्रसार करने का प्रयास किया जो विश्व मानवता की भावना से अनुप्राणित है। उन्होंने कबीरादि संतों की भांति की मनुष्य मात्र में भेद-बुद्धि का संचारण करने वाली मानवीय कमजोरियों से दूर एक ऐसे समाज की परिकल्पना की जो मानव के विकास के नये आयामों के गवाक्ष खोलता है।

गुरु जम्भेश्वर जी की वाणियों की अंतर्वस्तु बहुआयामी है, किंतु भारतीय साहित्य में उनका सबसे महत्वपूर्ण प्रदेय यह है कि उन्होंने तत्वचिंतन की अपेक्षा लोक चिंता को ज्यादा महत्व दिया। धार्मिक भेदभाव और जातिगत भेदभाव की उपेक्षा करते हुए उन्होंने सबके लिए आदर्श एवं मानवीय भावनाओं के प्रसार का कार्य किया। यद्यपि खुद उन्होंने बिस्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की, किंतु अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी उनके मन में अपार श्रद्धा थी, क्योंकि उनके विचार में सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों का व्यापक लक्ष्य एक ही है—विश्वमानवता। इस भावना से अनुप्राणित जम्भेश्वर वाणी हमारे लिए आज भी प्रेरणा का एक महान स्रोत है, साथ ही सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

पर्यावरण को लेकर आज पूरे विश्व में गहरी चिंता है और आज उस पर अनेक दृष्टियों से विचार विमर्श हो रहा है। प्रकृति मानव की सहचारी है। प्रकृति और पर्यावरण की चिंता गुरु जम्भेश्वर जी को भी है। वे प्रकृति के विभिन्न उपादानों के साथ वनस्पतियों और पेड़-पौधों की भी चिंता करते है। उनका कहना है कि 'सिर कटवाकर भी आप यदि पेड़ों की रक्षा कर लेते हैं तो वह सस्ता सौदा है—

'सिर काटे रूंख रहै, तो भी सस्तो जांण।[7]

मनुष्य तो क्या प्रकृति और पर्यावरण के प्रति इसी गहरी संपृक्ति और चिंता मध्यकाल के बहुत कम संतों या भक्तों में दिखाई देती है।

✦✦✦

कबीर साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना

—रेखा यादव

संत कबीरदास के दर्शन का मूल आधार भले ही आध्यात्मिक और धार्मिक हैं परंतु उसमें सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों, चेतना और आदर्शों का वर्णन भी बहुत अधिक मिलता है। संत कबीर ने भी संत रविदास की तरह निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग को अधिक महत्व दिया। इन्होंने समाज में रहते हुए अपने विचारों का प्रचार-प्रसार किया। इनकी वाणी में एक नए समाज के निर्माण का संकेत मिलता है जिसमें समानता की भावना को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। इन्होंने युगीन परिवेश की आवश्यकतानुसार अपने सामाजिक चिंतन का निर्माण किया। इन्होंने अपने विचारों के द्वारा भारतीय समाज की जड़-आस्थाओं की निरर्थकता को सिद्ध करते हुए उसे सुंदर बनाने का प्रयास किया क्योंकि संत कबीरदास जी का परम उद्देश्य जन सामान्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का विकास करना था। इन्होंने भारतीय समाज को मानवता की आधारशिला पर निर्मित किया। यही कारण है कि संत कबीरदास के चिंतन में समानता, मानवता, चेतना, पाखंडवाद एवं कुरीतियों का विरोध, वर्ण व्यवस्था एवं जातिवाद का विरोध आदि के दर्शन होते हैं।

भारतीय संस्कृति के स्वरूप एवं निर्माण में संत कबीरदास का महत्वपूर्ण योगदान रहा हैं। संस्कृति का मूल्य निर्धारण करने में, जो कुछ कमियां जैसे उसका मांजना, अर्थात् धार्मिक पाखंडवाद, समाज के क्षेत्र में जातिगत-भेदभाव ऐसे कारण है, जिनके निवारण से ही देश तथा समाज की संस्कृति का उचित स्वरूप संवरता है। कबीर ने अपने समय में व्याप्त सामाजिक बुराईयों, धार्मिक अंधविश्वास, बहुदेववाद, वर्णव्यवस्था, जातिगत भेदभाव, ज्योतिष, बलि, कुर्बानी प्रथा, पर्दा प्रथा, दान प्रथा, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, नमाज-रोजे का प्रचलन एवं धार्मिक कट्टरता, धार्मिक ग्रंथों की मान्यताएँ एवं गंगा आदि नदियों के प्रति रूढ़िवादी भावना का जमकर खंडन किया और इनको समाज एवं संस्कृति के लिए घातक बताया। इनका मत था कि इन सामाजिक एवं सांस्कृतिक कुरीतियों के उन्मूलन के बिना सामाजिक व्यवस्था को स्वस्थ रखना असंभव है। अर्थात् इनका उन्मूलन अनिवार्य है। आधुनिक समाज में विश्व भर में जिस मानव धर्म की स्थापना पर बल दिया जा रहा है, ऐसे मानव धर्म के बीजारोपण संत कबीर एवं संत रैदास हैं। कबीर ने समस्त

सम्पर्क: हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)
ई-मेल: rekhasinghbhartiya@gmail.com

मानव जाति के बीच भावात्मक, धारणात्मक एवं संवेदनात्मक संबंध बनाने की परजोर अपील की है, ताकि मानवीय संस्कृति का ढाँचा तैयार हो सकें। संत कबीर के समय में देश के इस्लाम धर्म अपनी जड़ें जमा चुका था। यह दो संस्कृतियों के संयोग का संक्राति काल था। सामाजिक मूल्यों में बुनियादी अंतर आ चुके थे। मुस्लिम संस्कृति अपने गुण-दोषों सहित हिंदू धर्म को प्रभावित कर रही थी। संत कबीर का युग हिंदू मुसलमानों के सांस्कृतिक संघर्ष का युग था। इनके समय में भारतीय संस्कृति अपने पतन के दौर से गुजर रही थी। धार्मिक एवं जातिगत मतभेदों ने लोगों को कई वर्गों में बांट दिया था। यह भेद केवल हिंदू-मुसलमानों में ही नहीं था वरन् एक ही जाति और धर्म के वर्ग आपस में ही विभाजित थे। आडम्बर, जातिवाद, मूर्ति-पूजा, अंधविश्वास जैसी विषमताओं ने भारतीय समाज को जर्जर और खोखला कर दिया था। समाज पूर्णरूपेण विकृत हो चुका था। मुसलमान भी तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। छुआछुत और उच्च वर्ग की नैतिकता ने सामाजिक असमानता को जन्म दिया। इस संबंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि-''पश्चिमी सीमांत से मुसलमानों का आक्रमण हो रहा था। आक्रमण होना कोई नई बात नहीं थी, इससे पहले भी भारत पर अनेक आक्रमण हो चुके थे, परंतु वे आक्रमण अधिकतर सैनिक और राजनैतिक आक्रमण थे। परंतु इस बार का आक्रमण एक विशिष्ट धर्ममत और संस्कृति का भी आक्रमण था।''

यद्यपि समाज का कोई नियमबद्ध अध्ययन 'कबीरवाणी' में नहीं मिलता तथापि ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि कबीर अपने समाज के प्रति उदासीन थे। कबीर न तो इतिहासकार थे न ही अपनी वाणी ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत कर रहे थे। वह तो मूल रूप में समाज सुधारक थे। समाज सुधारक की भूमिका दोहरी होती है। एक ओर तो वह सामाजिक परिवर्तन की गति का तीव्र करता है और दूसरी तरफ समाज के नवीन मूल्यों को समाज तक पहुँचाता है। इस प्रकार संत कबीरदास एक तरफ समाज के नवीन मूल्यों को समाज तक पहुंचा रहे थे। संत कबीर एक तरफ सामाजिक इतिहासकार थे और दूसरी तरफ वह सांस्कृतिक नेता थे। कबीर ने धर्म के मूल को पहचाना और धर्म का अध्ययन सामाजिक संदर्भो में किया। अनेक धर्मो के चक्रव्यूह से मध्यकालीन मनुष्य को बाहर निकाला। जन साधारण के समक्ष आदर्श भक्ति, नैतिकता और धर्म की उचित धारणाएँ रखी। यह दृष्टि एक सामाजिक व्यक्ति की थी। कबीरदास जी ने उस समय के समाज में घर कर चुकी कुरीतियों की व्यावहारिक रूप में निन्दा की। काजी, मुल्ला, पंडित, ब्राह्मण, योगी और अन्य मध्यकालीन धर्म के ठेकेदारों को जनता की अदालत में बेनकाब किया। आदर्श हिंदू और आदर्श मुसलमान की सही परिभाषा लोगों के सामने रखी। गुरू नानक ने भी कबीर के ऐसे सामाजिक पक्ष को और अधिक स्पष्ट किया है। सरनाम सिंह शर्मा का कथन है कि ''कबीर ने समाज की हीन, कुरूप, दयनीय और कुरी दशा को बड़ी गहराई से देखा, परखा। अपनी वाणी में एक-एक दुर्बलता के निवारण के लिए आवाज बुलंद की।'' डॉ. आर्य प्रसाद त्रिपाठी ने स्पष्ट कहा है कि ''हिंदू और मुसलमानों का यह द्वंद्व एक शाश्वत संघर्ष के रूप में स्थिर नहीं रह सकता था क्योंकि अंततोगतवा नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक सत्ता का प्रसार है। सब हृदय अपने मूल रूप में एक ही प्रकार से स्पन्दित होते हैं। जो लोग हृदय के स्पंदन को सुनकर सब मनुष्यों में उसकी अनुभूति करते हैं, वे सब के दु:ख को एक समान समझते हैं। वास्तव में वही महात्मा है और वही ईश्वर प्रेमी है। ऐसे महात्माओं में कबीर का नाम सर्वोच्च है।'' हिंदू मुसलमानों में जो संघर्ष चल रहा था, उसमें से भयानक आग की लपटें निकल रही थी। इन लपटों को शांति करने के लिए कबीर के शांति संदेश ने जल धारा का काम किया। कबीर का यह यत्न एक अनूठा कदम था जिससे दो भिन्न संस्कृतियों को जोड़ कर मानवतावाद की स्थापना की। कबीर के इस मानव प्रेम में समाज का पुरूत्थान है। उपरोक्त दोनों विचारों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि कबीर ने ऐसे अवसर पर अपनी सामाजिक संवेदना को धर्म-निरपेक्ष बनाकर सामंती युग में जन साधारण तक पहुँचाया। कबीर ने वर्णाश्रम के दोषों को भी सामाजिक बुराई मानकर उसका खंडन किया। इस प्रकार संत कबीर ने समाज में फैली बुराईयों को जड़ से समाप्त करने के लिए सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना को माध्यम बनाया और धर्म व संस्कृति के नाम पर हो रहे शोषण एवं अत्याचार का विरोध किया।

धर्म शास्त्रों के आधार पर प्रस्तुत की गई वर्ण-व्यवस्था की अमानवीय प्रथा संत कबीर को स्वीकार्य नहीं थी। उनका कहना था कि यदि सृष्टिकर्ता को वर्ण व्यवस्था स्वीकृत थी तो उसने ब्राह्मणों की पहचान के लिए उनके ललाट पर कोई तिलक का चिह्न क्यों न बना दिया? उनके जन्म का भी दूसरा उपाय क्यों नहीं किया जिससे वे शूद्रादि से स्वभावत: भिन्न समझ लिए जाते।

जौ पे करता वरण विचारै, तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै।
उत्पत्ति व्यंद कहा थै आया, जौ घरौ अरु लागी माया।।
नहीं कौ ऊँचा नहीं कौ नीचा, जका व्यंद ताही का सीचा।।

संत कबीर ने इस संबंध में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की तत्कालीन दुरावस्था की और भी विशेष ध्यान दिलाया है और कहा है कि ब्राह्मण लोग जहां वेदादि के केवल अध्ययन मात्र में भूले रहते हैं अथवा संध्या तर्पन, षट्कर्म आदि के जाल में फंसे रहते हैं और वास्तविक रहस्यों को नहीं जान पाते, वहाँ क्षत्रिय भी क्षत्रियोचित कर्मो की उपेक्षा करते हुए जीवों की निरर्थक हत्या करते हैं और जीव रक्षा का नाम भी लिया करते हैं। कबीर वर्ण व्यवस्था का विरोध इसलिए करते थे क्योंकि यह ऊँच-नीच एवं जातिगत भेदभाव को बढ़ावा देती हैं और धर्म एवं संस्कृति के नाम पर ईश्वर के सच्चे भक्तों पर अत्याचार कराती हैं। संत कबीर कहते हैं-

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरे भरया, साधू निंदा सोई।।

अर्थात् कोई भी व्यक्ति ऊँचे कुल या जाति में जन्म लेने मात्र से बड़ा या महान नहीं बन जाता हैं, सत पुरुष बनने के लिए तो उसे अपने कर्मो को सुधारना होगा। जन्म से सभी शूद्र है और अपने कर्मो से वह ब्राह्मण कहलाता हैं। आगे कबीरदास जी कहते हैं कि-

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर।।

संत कबीर कहते हैं कि ऐसा ऊँचा बनने का क्या लाभ जिससे किसी को कोई सुख नहीं मिलता। खजूर का पेड़ा बहुत ऊँचा होता हैं, किंतु वह किसी व्याकुल पथिक को शीतलता प्रदान नहीं करता है। उस पर लगा हुआ फल इतना दूर होता हैं कि सामान्य मनुष्य उसे तोड़कर खा भी नहीं सकता है। अर्थात् बिना महत्व के कोई भी वस्तु व्यर्थ हैं। ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त पांडे को संत कबीर ने बहुत खरी-खरी सुनाई हैं। वे मानते हैं कि ऐसा पंडित अपने ज्ञान का बोझा अपनी देह पर उसी प्रकार लादे हुए घूमता है जैसे कोई गधा चंदन का भार ढो रहा हो। ऐसे अहंकारी व्यक्ति को राम-नाम का तत्व तो समाज में आता नहीं, अंत में माया रूपी धूल ही उसके मुंह पर गिरती हैं। संत कबीर जातिगत छुआछूत का विरोध करते हुए कहते हैं-

एक बूंद, एकै मल मुतर, एक चाम, एक गुदा।
एक जोति ते सब उतपना, कौन ब्राह्मण कौन सूदा।।

अर्थात् सभी प्राणी एक ही ज्योति से उत्पन्न हुए है, एक ही शरीर धारण करते हैं तो ब्राह्मण ऊँचा और शुद्र नीचा कैसे हुआ? ऐसी विचारधारा वाला मनुष्य निरा मुर्ख है, जो प्रभु की रचना को नहीं जानता हैं और अपने भ्रम में जीता हैं। स्वयं तथाकथित नीची जाति के होने के कारण ही इस भेदभाव की अमानुषिकता का कड़वा घूंट का अनुभव उन्हें था। स्वभावतः जातिगत भेदभाव और छुआछूत पर इनकी वाणी उग्र दिखाई पड़ती हैं। इन्होंने चुनौती भरे स्वर में पंडितों से पूछा कि-

तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद्र।
हम कत लोहू तुम कत दूध।।

मानो संत कबीर के मुख से तथागत भगवान बुद्ध और महावीर की वाणी ही उनके कंठ से ध्वनित हुई थी, जब उन्होंने जन्म के आधार पर नहीं, अपितु कर्म के आधार पर ब्राह्मणत्व और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकारने की बात कही थी। इसी तरह वे मुल्ला और काजी को भी उनके पदों द्वारा नहीं, आचरण गुणों द्वारा ही श्रेष्ठ मान सकते थे। उनका कहना था-

जे तूं बांभन जाया, तो आन बाँट ह्वे काहे ने आया।
जे तू तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतना क्यूँ न कराया।।

हिंदू समाज में सदैव ही पंडित-पुरोहितों पर अंधता की सीमा तक विश्वास करने की परंपरा रही है, चाहे वह सवर्ण हिंदू हो या शुद्र, दलित और प्रारंभ से ही ईश्वर के सबसे निकट व्यक्ति पंडित जी को माना हैं। पंडितों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए भोलीभाली जनता को भविष्य में होने वाली अनिष्टकारी घटनाओं का भय दिखाकर, ईश्वर का कोप बताकर उस कोप से मुक्ति, ईश्वर को प्रसन्न करने के उपाय का ज्ञाता होने का दावा करके सामाजिक जनता खूब लूटा हैं। लोगों में ज्योतिष का झुठा प्रचार करके उनको मूर्ख बनाया हैं। अनदेखे भविष्य के गर्भ में क्या हैं, जानने की उत्सुकता ने लोगों में भविष्यफल, राशि, नक्षत्र, ज्योतिष के प्रति अंधविश्वास पैदा कर दिया। परंतु संत कबीर ने इस प्रकार के अंधविश्वासों और उन्हें भुनाने के ब्राह्मणों के समस्त प्रयासों की कटु आलोचना की-

पंडित तेरी पोथियां, जो तीतर का ज्ञान।
औरत शकुन बतावही, अपना फंद न जान।।

अर्थात् पंडितों की पोथियाँ मानो पशु पक्षी का ज्ञान हैं, जो औरों को तो शकुन-अपशकुन बताता हैं, किंतु अपने गले के फंदे के बारे में नहीं जानता। उन्होंने ऐसे दिखावे के उस पंडित से पशु को भला माना जो राम को नहीं मानता। ईश्वर की इच्छा से संसार में सब कुछ कार्य होते हैं और जो उसकी इच्छा का सम्मान कर उसे समदृष्टि भाव से स्वीकार करने के बजाय उन्हें परिवर्तित करने की कुचेष्टा करता हैं, वह पशु से गया गुजरा हैं। ऐसे पंडितों की तुलना में उन्होंने मशालची से की हैं जो दूसरों को तो प्रकाश देता हैं, पर स्वयं अंधकार में चलता है।

पंडित और मसालची दोनू सूझै नाहिं।
औरन को करै चांदना, आप अंधेरा मांही।।

ब्राह्मणों, पुरोहितों के द्वारा बताए गए शास्त्रों के अर्थ, कर्मकांडों में जनता अंधविश्वास करती हैं पंडित जी, लग्न, शुभमुहूर्त के फेर में लोगों को उलझाये रखते हैं और धार्मिक रूप से गुलाम व्यक्ति मूर्खता के चलते इनके धार्मिक पाखंड में फंस जाते हैं और अपना शोषण करवाते रहते हैं।

भक्तिकालीन समाज में धर्म का तात्पर्य सिर्फ रूढ़िगत बातों में विश्वास करना रह गया था, उनके अनुसार कृत्यों को दोहरा लेना, अवतारों के गुणगान, पूजा-पाठ, स्वर्ग-नरक की धारणा में अंधविश्वास, तीर्थयात्रा, व्रत, हिंदुओं में बलि और मुसलमानों में कुर्बानी आदि मात्र ही माना जाता था। पंडित-मौलवी द्वारा कही गयी बातें ही धर्म मानी जाती थी, जिनका कबीर ने खंडन किया। धर्म का दोहरा आचरण करने वालों से संत कबीरदास का तार्किक प्रश्न हैं-

जीव वधत अरु धरम कहत हो, अधरम कहाँ है भाई।
आपन तो मुनिजन हैं, बैठे का सनि कहौं कसाई।।

अर्थात् जीव की हत्या कर, धर्म का काम कहते हो। यदि यह धर्म हैं, तो अधर्म क्या हैं भाई। और हत्या करके भी खुद को संत, मुनि कहते हो। यदि यही संतई हैं तो कसाई किसे कहेंगे। संत कबीर ने देवी-देवताओं के समक्ष जीवों की बलि चढ़ाने वालों की भर्त्सना ही की हैं। इनके अनुसार जो लोग निर्जीव की पूजा के लिए सजीव की हत्या करते हैं, उनका अंतिम समय बहुत कष्टमय होता हैं। कबीरदास जी इस्लाम धर्म की कुरीतियों के बारे कहते हैं कि इस्लाम धर्म में कुर्बानी दी जाती हैं अपनी प्रियतम वस्तु की, जिससे अपने अहं का नाश और त्याग की चरम सीमा तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त हुआ माना जाता हैं, लेकिन धर्मान्धों ने पवित्र कुरान का सही उपदेश न मानकर अपने स्वाद आदि को पूर्ण करने के लिए धर्म की आड़ लेकर निरीह पशुओं की हत्या करना शुरू कर दिया जोकि पूर्णरूपेण अधर्म है। कबीर ने इस प्रथा का खंडन किया था और धर्म के नाम पर पशु-हत्या को त्याज्य बताया था-

कबीरा काजी स्वाद बस, जीव हते तब दोय।
चाढ़े मसीत एको कहै, क्यों दरगाह सांचा होय।।

अर्थात् काजी अपनी जिह्वा के स्वाद के लालच में जीव की हत्या करता हैं और मस्जिद के गुम्बद पर बैठकर ईश्वर और बंदे को एक ही कहता हैं, जो जीवहत्या तो ईश्वर के अस्तित्व को ही अस्वीकार करना है। यदि हम प्रत्येक जीव में ईश्वर का अस्तित्व मानते हैं, तो जीव की हत्या ईश्वर की हत्या के बराबर पाप हुआ। कबीरदास जी कहते हैं कि दूसरों की पीड़ा समझना ही धर्म हैं, उन्हें दूर करना ही कर्तव्य है। कोई भी धर्म हत्या का उपदेश नहीं देता है। धर्म की वास्तविकता तो आत्मतत्व पहचानने में हैं, जो इन कर्मकांडों से कोसों दूर हैं। संत कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कुर्बानी के नाम पर जीव हत्या करने वाले काजी को ही आड़े हाथों लिया हैं। कबीर ने कहा है-

राखी दिन को रोजा रहतु हौ, राति हनत हो गाय।
यह तो खून वह बंदगी क्यों कर खुसी खुदाय।।

संत कबीर कहते है कि हे काजी! क्या तुम्हारा काम यही है कि घर-घर भैंसा कटवाओ। किसके आदेश पर तुम मुर्गा और बकरी काटने का फरमान जारी करते हो? पीर कहलाकर भी बेजुबान जीवों का दर्द नहीं जानते हो। कबीर का मानवतावादी अंतर्मन किसी भी प्रकार से कथनी और करनी का यह विरोधाभास स्वीकार नहीं कर सका, इसीलिए उन्होंने धर्मानुकूल बताकर जीवों की हत्या करने वालों का कड़ा विरोध करते हुए कहा है कि-

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात है, तिनका कौन हवाल।

कबीरदास जी कहते है कि बकरी तो केवल पत्तियाँ खाती हैं, किन्तु जो बकरी को ही मारकर खाते हैं, उनके लिए दंड की क्या व्यवस्था है, क्योंकि उसका अपराध कहीं अधिक बड़ा है। आज भी मुस्लिम सम्प्रदाय में कुर्बानी दी जाती हैं, किन्तु बुराइयों की नहीं, निर्दोष पशुओं की।

हिंदू धर्म के सारे धार्मिक कर्मकांडों का मूल मूर्तिपूजा में है। भगवान की निराकार भक्ति के रूप और आधार देने के लिए मूर्ति रूप में प्रतीक बनाकर ईश्वर की आराधना की परंपरा समय के लिए सूक्ष्म से स्थूल हो गयी और "पत्थर में भी भगवान के बजाय, पत्थर ही भगवान" हो गये। कबीर ने इस पाखंड के कारण तिरोहित होती वास्तविक श्रद्धा-भक्ति को देखकर हिंदू धर्म के इस कुरूप कटु सत्य की आलोचना की व उन लोगों को फटकारा, जो इन्हें बढ़ावा देने के लिए उत्तरदायी थे। मूर्ति पूजा के संबंध में कबीर का कहना था कि-

पाहिन कूँ का पूजिए जे जनमत देह जाब।
आंधा नर आसामुखी यौ ही खौंवे आब।।

कबीरदास जी कहते है कि पत्थर का क्यों पूजते हो, यह पत्थर जीवन-भर तुम्हारे किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं देगा। तुम उससे व्यर्थ ही आशा लगाकर अपनी प्रतिष्ठा खोते हो। सच्चे ईश्वर का निवास तो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में होता है। यदि पत्थर को ही पूजना है तो मूर्तियों के बजाय क्यों नहीं लोग पत्थर की चक्की की पूजा करते, जो कम से कम लोगों को पेट भरने के काम तो आती है। मूर्ति से अधिक उपयोगिता तो उस चक्की की है-

पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
वासै तो चाकी भाली, पीसि खाय संसार।।

कबीरदास जी ने भारतीय समाज में फैले अंधविश्वास का खंडन करते हैं तीर्थ स्थानों की यात्रा तथा उनमें निवास करने वाले संसार के प्राय सभी धर्मों का प्रमुख अंग माना जाता रहा है। धर्म प्रधान भारत देश में अति प्राचीन काल से आध्यात्मिक महत्व के स्थानों पर श्रद्धा भावना प्रतिष्ठित रही है जो कि सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय आदि सभी पक्षों को स्पर्श करती है। अत: भावनागत संस्कार की उपयोगिता के दृष्टिकोण से सभी संप्रदायों के केंद्र तथा उनके प्रवर्तकों के जीवन से संबंधित महत्वपूर्ण स्थान तीर्थ स्थल बनते गए है। किंतु समकालीन अन्य मान्यताओं की भांति इस युग में भी रूढ़ता का समावेश होने के कारण मिथ्याडंबर, स्वैराचार आदि को स्थान मिल गया, जिसके कारण निर्गुण साधकों को इस आस्था पर प्रहार करना पड़ा। तीर्थयात्रा के संबंध में कबीरदास जी कहते हैं कि-

'मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।
दसवां द्वार देहुरा, तामैं, जोति पिछांणि।।

संत कबीरदास जी कहते हैं कि व्यर्थ कि इधर-उधर तीर्थो में भटकने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का मन ही मथुरा है, हृदय द्वारिकापुरी हैं एवं समस्त शरीर काशी हैं जिसमें ब्राह्मरंध ही मंदिर का द्वार है। वहां अपनी शक्तियाँ केंद्रित का निरंजन पुरुष की ज्योति से साक्षात्कार करना ही श्रेष्ठ हैं। कबीर ने तीर्थ व्रत मिथ्या आडंबरों को जंगली बेल के समान माना हैं।

भारतीय समाज में विभिन्न धर्मो के आधार पर फैलायें जा रहे अंधविश्वास का संत कबीरदास जी ने पूर्णरूप से खंडन किया हैं। धर्म के नाम पर संन्यासी का वेश बनाकर संसार को धोखा देने वाले पाखंडियों का संत कबीर ने जमकर विरोध किया था। जैसे कि सिर का मुंडन कराकर संन्यास लेकर स्वयं को विद्वान समझने वालों को कबीर प्रश्न पूछते हैं कि-

मन मैवासी मूंड ले, केसा मूंड काइ।
जे कुछ किया सो मन किया कैसों किया नाइ।।

कबीरदास जी कहते हैं कि अगर मुंडन ही करना है तो मन का कीजिए, उसकी इच्छाओं का कीजिए, विषय वासनाओं का कीजिए। तुम्हारी हानि केशों की वजह से नहीं हुई है, ये जो हानि तुम्हारी हुई है यह तुम्हार मन की वजह से हुई हैं। जितन भी सजा देनी है अपने मन को दीजिये अपने बालों को किस बात की सजा देते हो। अर्थात् सारे अवगुणों की जड़ तो मन ही है। आगे कबीरदास जी कहते हैं कि-

मुड मुंडाये हरि मिलैं सब कोई लेहु मुंडाय।
बार-बार के मुंडने भेड़ बैकुंठ न जाइ।।

अंत में कहा जा सकता है कि संत कबीर एक महान संत ही नहीं अपितु एक क्रांतिकारी एवं महान समाज सुधारक थे, जिन्होंने भारतीय समाज में फैली बुराइयों को समूल नष्ट करने का आंदोलन शुरू किया जिसकी झलक वर्तमान में भी दिखाई पड़ती हैं। इन्होंने समाज में फैली बुराईयों जैसे पाखंड, अंधविश्वास, हिंसा और दुराचार, जाति-पाति, छुआछूत आदि का विरोध किया और समाज को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। वास्तव में उनके द्वारा किय गये प्रयासों ने भारतीय संस्कृति को अपने चरम बिंदू पर पहुंचा दिया, जिसके लिए संपूर्ण मानवजाति उनके योगदान के लिए सदैव ऋणी रहेगी।

✦✦✦

अद्भुत संत दादू दयाल

—अखिलेश आर्येन्दु

भारतीय संस्कृति की विविधता और उत्कृष्टता का अपना वैभव है। विश्व की सर्वोत्तम संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति इसलिए बेजोड़ मानी जाती है क्योंकि इसका उद्भव और विकास दोनों की अपनी वैविध्यता है। सत्यम्-शिवम्-सुंदरम का इस धराधाम पर कहीं मूर्त दर्शन होता है तो वह भारतीय संस्कृति में ही होता है। संस्कृति के जितने आयाम, आधार और मूल्य हो सकते हैं उतने अन्य किसी के नहीं हो सकते। यह इस लिए कि संस्कृति से ही जीवन, धर्म और शक्ति का उद्भव होता है। संस्कृति से ही मनुष्य सच्चे अर्थों में मानव बनता है। और जब इस विशाल फलक से परंपराओं की धारायें निकलती हैं तो उसका वैभव कहीं और भी उन्नत और अनुपम बन जाता है। इन्हीं अनेक परंपराओं में भारतीय संत परंपरा का अपना इतिहास, वैभव और सत्त्व है। इस संत परंपरा में अनगिनत धाराएं निकलीं। और इन धाराओं में अनगिनत संतों की जीवनधर्मी धारायें मंदाकिनी की तरह पावन बनती गई।

भारतीय संत परंपरा में कई धाराएं दिख पड़ती हैं लेकिन निर्गुण सूफी काव्य धारा और सगुण वैष्णव काव्य धारा की विशेष चर्चा होती है। जिस धारा में संत कबीर हैं उसी धारा में संत दादू दयाल भी है। संत कबीर और उनके उत्तरकालीन संत महात्माओं में निराकार रूप एवं निर्गुणोपासना के प्रति प्रबल भाव था। महात्मा दादू भी निराकारवादी और निर्गुणोपासक थे। उपनिषद में जिस निराकार की उपासना को ईश्वर भक्ति के लिए उपयुक्त माना गया उसी धारा को संत दादू भी मानने वाले थे। दूसरी जो उत्कृष्ट बात थी वह 'प्रेम' को ही जीवन, धर्म, अध्यात्म, योग और संस्कृति का आधार मानना। दादूजी भी उसी 'निश्चल प्रेम के दीवाने थे जिसे संत कबीर 'ढाई आखर के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं। सूफी संत परंपरा में इसी 'प्रेम' का वैभव हर स्थान पर प्रतिष्ठित है। संत दादू ने भी इसी को सबसे उत्कृष्ट माना है।

संत या कवि जिस युग में पैदा होते हैं, उस युग का राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक प्रभाव उन पर कई प्रकार से पड़ता है। यह प्रभाव कई स्तरों पर प्रभावी होता है। जिस

सम्पर्कः ए-11, त्यागी विहार, नांगलोई, दिल्ली-110041

युग में संत दादूजी पैदा हुये थे वह अकबर का युग था। भारत ही नहीं सुदूर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर तक अकबर का राज्य फैला हुआ था। लेकिन उस प्रभाव से यदि कोई निर्लैप था तो वह थे कवि दादू दयाल। दादू भक्ति की उस पावन धारा में नई मिठास घोल रहे थे। वह कबीर की तरह अक्खड़ नहीं थे बल्कि बहुत विनम्र और मर्यादा के साथ अपनी बात करते थे। अंधविश्वास, पाखंड, कुरीतियों और बुराइयों पर कबीर की तरह उन्होंने भी खूब प्रहार किए। इससे हिंदू और मुसलमान उनके विरोधी हो गए थे। लेकिन इसके बावजूद संत दादू अपने युगधर्मी विचार लगातार फैलाते ही रहे। 'भय' में जीना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। जो बात कहते थे डंके की चोट पर कहते थे। भक्तिकालीन संत परंपरा की धारा की यह विशेषता भी रही कि संतों ने अपनी कविताओं के माध्यम से जो भी बातें कहीं या उपदेश दिया, उसे अत्यंत आत्मविश्वास के साथ ही दिया।

संत दादू दयाल का जन्मकाल— भक्तिकालीन कवियों या संतों के जन्म को लेकर इतिहासकारों में कई स्तरों पर मत भिन्नता देखने को मिली है। दादू का जन्म स्थान गुजरात का अहमदाबाद नगर और जन्म संवत् 1601 में माना जाता है। इनके पिता का नाम लोदीराम नागर था। एक किंवदंती के अनुसार इनके पिता के कोई संतान नहीं थी। एक दिन किसी महात्मा ने उन्हें पुत्र रत्न के जन्म का आशीर्वाद दिया। इस संबंध में 'संतगुण सागर' में वर्णित यह उद्धरण बहुत रोचक है।–

गैबी संत मिल्यो मिहिं बारा, करी बीनती चरन मझारा। माँग प्रानि यह वचन उचारा, तू चाहे तो देऊ सारा।। तू चाहे तो देहूं तोई, भक्ति मुक्ति कामना कोई।

इनके पिता ने गुरु से अपनी व्यथा बताई। लोदीराम ने कहा, मेरे कोई संतान नहीं है। यदि एक संतान आंगन में आ जाए तो मेरा जीवन धन्य हो जाए। कविता के रूप में संतगुण सागर में इसका वर्णन बहुत मार्मिक है–

सुन लो इक अरज हमारी, पुत्र बिना मम दुख है भारी।
संत कृपा कर गिरा उचारी, जाहु नदी तट बड़े सँवारी।।
दियो पुत्र तेहि ब्रह्म विचारी, देवे कुल को केई तारी।
बड़े संवार नदी तट जावै, बालक उधर सो तिरतो आवै।।
गोद मांहि तब लेकर आयो, गैब दूध माता के पायो।
इति विधि स्वामी जन्म जु लिया, लोदीराम पुत्र यों किया।।

कविता से ऐसा प्रतीत होता है कि संत दादू लोदीराम की पत्नी के गर्भ से पैदा नहीं हुए थे बल्कि तालाब में तैरते हुए लोदीराम को मिले थे। कहा जाता है, किसी महात्मा ने इन्हें तालाब के किनारे जाकर तैरते हुए बालक को अपने घर ले आने की बात कही। और जैसे ही लोदीराम ने बालक दादू को अपनी पत्नी की गोद में दिया अतिशय वात्सल्य के कारण उनके स्तनों में दूध आ गया।

बालक देखने में बहुत सुंदर था। बचपन से ही अपनी वस्तु दूसरों को देने की इसमें प्रवृति थी। इस परोपकार की वृति के कारण इनके माता-पिता ने इनका नाम प्यार से 'दादू' यानी देने वाला रख दिया। जन्म से ही इनमें विलक्षण स्वभाव विद्यमान था। कहा जाता है कि 7 वर्ष की अवस्था में एक दिन बालकों के साथ काँकरिया तालाब (नगीना बाड़ी) में क्रीड़ा करते समय भगवान ने एक वृद्ध ऋषि के रूप में प्रकट होकर दर्शन दिये, और दादू जी को शुभ आर्शीर्वाद, दीक्षा रूप निर्गुण भक्ति का संदेश देकर अंतर्धान हो गए। इस संबंध में लोक में एक प्रचलित दोहा इस प्रकार है–

दादू गैब माँहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धर्या, दश्या अगम-अगाध।।

संत दादू का व्यक्तित्व— भारतीय संत परंपरा में ही नहीं विदेश के संत परंपरा में भी एक विशेषता पाई जाती है, वह विशेषता है सर्वे भवंतु सुखिनः की। भक्ति काल या मध्यकाल के संत परंपरा के जितने भी संत या कवि हुऐ हैं सभी सर्वे भवंतु सुखिनः के महान भाव से जुड़े दिखाई देते हैं। मध्ययुग के सभी संतों ने निर्गुण निरंजन की महिमा, योग मार्ग की बातें, बाह्यचार का प्रत्याख्यान और भक्ति-प्रेम की बातें बताई हैं, लेकिन इसके बावजूद यह नहीं समझना चाहिए कि सभी कवियों का व्यक्तित्व एक जैसा है। उदाहरण के तौर पर दादू ने बाह्यचार का खंडन किया और संत कबीर ने भी। दादू में वह उग्रता और तीव्रता नहीं है जो कबीर के पदों में है। दादू स्वभाव के विनम्र और मधुर हैं और यह माधुर्य ही उनकी वाणियों की शोभा है। वहीं पर कबीर की वाणियों में फक्खड़पना और मस्ती है। दादू अपनी बात कहते वक्त प्रीत और नम्र दिखाई देते हैं। वे उस व्यक्ति को ही सच्चा साधु मानते हैं जो उग्र को पानी बना सके, रुद्र को प्रसन्न

कर सके। दादू के मुताबिक साधु वह है जो विष को अमृत कर सके, आग को पानी बना सके, खारे को मीठा बना सके, जो बद्ध को मुक्त कर सके, उलझे को सुलझा सके, वैरी को मित्र बना सके, जो झूठे को सच्चा बना सके, कांच को कंचन बना सके और मैले को निर्मल कर सके। वे कहते हैं—

''विष का अमृत कर लिया पावक कर पानी।
बांका सूधा कर लिया सो साधु बिनानी।।

दादू की सब से बड़ी विशेषता यह है कि हृदय परिवर्तन पर विशेष जोर देते हैं। वे यह कदापि नहीं मानते कि जो बिगड़ गया है उसे सुधारा ही नहीं जा सकता है। इसलिए ऊंच-नीच, वर्ग-भेद, जाति-भेद, धर्म-भेद और वर्ण-भेद को वे स्थायी नहीं मानते है। वे कहते हैं—इस संसार में जो कोई पैदा हुआ है, वह उसी परमात्मा का संतान है। इसलिए सारे प्रकार के सामाजिक या धार्मिक भेदभाव मानवता के खिलाफ हैं वे कहते हैं, यदि कोई व्यक्ति पतित है, उसमें काला अंश ज्यादा है तो इसका मतलब है कि उसके घट यानी दिल में परमात्मा का दिया नहीं जला है। जिस दिन वह दिया जल जाएगा उस दिन वह सारे संसार को अपूर्व ज्योति से देख सकेगा। वे कहते हैं—''**जिहिं घट दीपक राम तिहिं घट तिमिर न होय। उस उजियारे ज्योति से सब जग देखे सोय।।**

संत दादू न किसी मजहब विशेष से बंधे थे और न जांत-पांत के झमेलों से ही। वे तो सारी दुनिया को प्रभुमय देखना चाहते थे। तीर्थ, व्रत उपवास, कर्मकांड और अन्य परंपरागत बातों से उनका कोई नाता नहीं था। वे कहते हैं, परमात्मा की ज्योति अंदर है बाहर नहीं। बाहर घूमने का मतलब परमात्मा को हर जगह व्याप्त नहीं मानना। जाहिर-सी बात है, वेद, उपनिषद् और शास्त्रों में इन सभी पौराणिक कर्मकांडों की कोई जगह नहीं है। इसी बात को कबीर सहित अनेक मध्यकालीन संत मानते हैं। कहते हैं, इधर-उधर कहां भटकता है। घूंघट के पट खोलकर देखो। परमात्मा तुम्हें दिखाई पड़ जाएगा। मनुष्य को वे भटका हुआ पक्षी मानते हैं। इस दोहे में यही बात कही कहते हैं—''**मुझ ही में मेरा धनी पड़दा खेलि दिखाई। सरवर भरिया दह दिशा पक्षी प्यासा जाइ।''**

भगवत् भक्ति में दादू का अपना अलग स्वभाव है। वे ईश्वर को 'पीव' शब्द के द्वारा बारांबर संबोधित करते हैं। वे भगवान को अति सुंदर रूप में देखते हैं। इसलिए राम के जीवों को भी उसी 'प्रेम' भाव से देखते हैं। वे अपने प्रियतम 'राम' के प्रति जिस तरह से भाव रस में निमग्न होते हैं वह अद्भुत है। जैसी ज्योति उस सृष्टिकर्ता की उनके हृदय में जलती है उसका वर्णन ही संभव नहीं। केवल शब्दों से उस ज्योति का वर्णन नहीं किया जा सकता है। दादू जी कहते हैं-

**''सुदर राम राया।
परम ज्ञान परम ध्यान परम प्राण आया।
अकल सकल अति अनूप छाया नहीं माया।**

दादू की कविताओं में शब्दों का अद्भुत प्रवाह है, एक दूसरे को धकियाकर आगे निकल जाने का ऐसा उल्लास है और सब मिलकर पाठक को एक अपूर्व रसलोक में खींच ले जाने का एक ऐसा आकर्षण है कि मन आनंद से सराबोर हो जाता है। कैसा प्रेम है जो संत को अंतर रस से भर देता है। इस प्रेम को क्या कोई शब्द दिया जा सकता है? प्रेम तो प्रेम ही होता है-

''ज्यों चातक चित जल बसे ज्यों पानी चित मीन। जैसे चंद चकोर है ऐसे हरि सों कीन।।

इस प्रकार संत कवि दादू स्वभाव से मधुर और प्रेमी होते हुए एक प्रखर साधक भी हैं। उनकी प्रकृति किसी भी प्रकार संत कवि दादू स्वभाव से मधुर और प्रेमी होते हुए एक प्रखर साधक भी हैं। उनकी प्रकृति किसी भी तरह निराशावादी नहीं है। किसी भी मानव को वे हमेशा के लिए कलंकी या पतित मानकर उससे घृणा नहीं करते। यही दादू के व्यक्तित्व का अपना निरालापन है। आत्मविश्वास और संकल्प उनके व्यक्तित्व की पूंजी है।

संत दादू का ब्रह्मवादी मत और पंथ—संत दादू का निर्गुण ब्रह्म लीलाधारी है। लेकिन यह लीला देहधारी सगुण ब्रह्म जैसी नहीं है। उनका लीलाधारी ब्रह्म सृष्टिकर्ता और सब जीवों का रखवाला और पैदा करने वाला है। वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। उनके मत के अनुसार सारा जगत उस पार ब्रह्म परमेश्वर से व्याप्त है। उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। यानी वे पूर्णतः ब्रह्मवादी है। अपने मत के अनुरूप ही उन्होंने 'ब्रह्म' संप्रदाय की स्थापना की थी जो आगे चलकर दादू पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

दादू का समाज किसान, अनपढ़, मजदूर, अज्ञानी और पीड़ित लोगों का था। गांव में बसने वाले हर तबके और वर्ग के लोगों से उनका ताल्लुकात था। यही कारण है, लोक जीवन और लोक रंग की जो छटा और मस्ती होती है वह दादू की वाणी में सर्वत्र देखने को मिलते हैं। उनका पंथ क्या था, इस बारे में वे कहते हैं—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा, द्वै परत रहित पंथ गह पूरा, अवरण एक अधारा।
वाद-विवाद काहूं सौ नांही, मांही जगत तै न्यारा।

उनका मत सभी धर्मो की एकता में विश्वास करता है। सभी धर्मो के सुसामंजस्य के वे हिमायती थे। धर्मो की एकता का उनका मतलब एकाकारता नहीं है। दादू दयाल कहते हैं—हमने सभी धर्मो को खूब शोध करके देख लिया है, हिंदू औ मुस्लिम सभी में एक ही आत्मा है—

''सब हम देख्या सोधिकार दूजा नाहीं आन।
सब घट एकै आत्मा क्या हिंदू मुसलमान।

दादू दयाल और उनका काव्य—

दादू के मत को उनके शिष्यों ने 'बानी' नामक संग्रह में संग्रहित किया। इस पुस्तक में 37 अध्यायों में लगभग पांच हजार पद संग्रहित है। समस्त पद आकर्षक तथा संगीतात्मकता लिए हुए है। इस प्रकार संत कवि दादू की कविताओं में संत मत के विलक्षण विचारों का दर्शन करते हैं। दादू के संप्रदासय की 12 श्रेणियां हैं और प्रत्येक श्रेणी में उसका एक प्रधान है। लेकिन विडंबनाएं भी कम नहीं हैं।

संत दादू दयाल के साहित्य में भी ज्ञान, उपासना और कर्म की प्रधानता है। इसमें निर्गुण अद्वैतवाद और निर्गुणभक्ति के सिद्धांत निहित है। अन्य संतों की तरह ही दादू की कविताओं में जातिभेद, वर्णभेद और अन्य सांप्रदायिक रूढ़ियों का खंडन मिलता है। वेद मत दादू के दर्शन की धारा है। वेद से बाहर जाकर दादू ने कोई अपना स्वतंत्र विचार नहीं दिया। देखा जाय तो वेद के दर्शन संबंधी विचार दादू के दर्शन संबंधी विचार एक जैसे हैं, इस पद में ब्रह्म के लक्षण देखिए—

परम तेज परात्परं परमज्योति परमेश्वरम।
स्वयं ब्रह्म सदई सदा दादू आविचलं स्थिरम्।

इसके अतिरिक्त ये दोहे भी उनके दर्शन संबंधी विचारों को बखूबी बताते हैं—

कृतम नहीं सो ब्रह्म है घटै बढै नहिं जाय।
पूरण निहचल एक रस जगत न नाचै आय।।

ब्रह्म के स्वरूप लक्षण एवं विकारों का निषेध दादू ने जिस प्रकार से किया हैं वह अन्य संतों से अलग प्रकार का है, लेकिन वेद में निहित दर्शन विचार से पूरा मेल खाता है। दादू कहते हैं—**''घटै बढ़ै नहिं जाय। ''ना बहुत जामै ना मरै' उपजै विनसे नांहि।** यानी ब्रह्म के उत्पत्ति, वृद्धि, अपक्षय तथा विनाश इन चार भाव विकारों का निषेध किया है। निराकार, निरंजन, अजर, अभय, नित्य और पवित्र जैसे ब्रह्म के लक्षण दादू के दर्शन में मिलते हैं। वह कहते हैं—

बिन श्रवणहु सब कुछ सुनै बिन नैनहु सब देखै।
बिन रसना मुख सब कुछ बोलै यहु दादू अचरज पेखै।
हस्त पाँव नहीं सीस मुख श्रवण नेत्र कहु कैसा।
दादू सब रेखै सुणै कहै गहै है ऐसा।

दादू के दर्शन तत्त्व में ब्रह्म के सोपाधिक स्वरूप का निरूपण बहुत ही सुंदर तरीके से किया गया है। वह ब्रह्म जिसको अनुपद में सर्वेद्रियरहित बतलाया गया है सोपाधिक अवस्था में सर्वेद्रियसंपन्न और सर्वेधर्मोपपन्न बन जाता है। उनकी इन साखियों में इसका वर्णन देखते ही बनता है—

सवै दिसा तो सारिखा सबै दिसा मुख बैन।
सबै दिसा श्रवणहु सुनै सबै दिसा कर नैन।।

दादू दर्शन में ब्रह्म की जीव व्याप्ति—संत कवि दादू ने कबीर की ही तरह ब्रह्म को सर्वव्यापक और शरीर रहित माना है। शरीर न होने के कारण वह ब्रह्मांड के कण-कण में व्याप्त है। लेकिन जीव अन्य सभी भूतों से अलग तरह का है। दादू मानते हैं कि जीव चेतन है और अन्य भूत अचेतन है। दादू जी ने वह चैतन्य (ब्रह्म) इस जीव में तथा इन भूतों में किस तरह व्याप्त है इसका बहुत सुंदर वर्णन किया है—

ज्यों ये तिल तिलंनि में ज्यों ये गंध फुलानि।
ज्यों ये माखण खीर में ई ये रब्ब रुहंनि।।

इसमें तिल और तेलादि के माध्यम से ब्रह्म की व्यापकता का बहुत तात्विक वर्णन किया गया है। इसमें दादू के दार्शनिक पा का बहुत ही विवेचनापूर्ण और भाव पूर्ण तार्किक अभिव्यक्ति का चित्रण मिलता है। दादू का दार्शनिक पक्ष कितना अद्भुत और बेजोड़ है इसका उदाहरण एक नहीं कई है। प्रश्नोतर शैली में दादू तो बहुत ही विज्ञारपरक और तत्वपूर्ण है। दादू स्वयं प्रश्न करते हैं और उसका उत्तर भी वे स्वयं ही देते हैं। ये प्रश्न दादू के समय में ही नहीं बल्कि लाखों वर्ष पूर्व से किये जाते रहे हैं। बहुत ही सुंदर दृश्य दादू की इन साखियों में देखिए—

प्रश्न— अलख देव गुरु देहु बताई/कहां रहे त्रिभुवन पतिराइ।

धरती गगन बसहु कविलास/तिंहु लोक में कहां निवास।।

दादू इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

मुझही माँहैं मैं रहूं, मैं मेरा घरबार/मुझही माँहैं मैं बसूं/आप कहै करतार।।

तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि वह ईश्वर जो अंतर्यामी है इस शरीर के हृदय प्रदेश में जीव के पास रहता है। वही जीव के शुभाशुभ कर्मो का द्रष्टा तथा उसके विभाग द्वारा फलदाता है। वह स्फुरण यानी संकेत के जरिए हमें कर्मो को करने और न करने का संकेत करता रहता है लेकिन जीव माया में इतना लिप्त रहता है कि ईश्वरीय संकेत को समझ ही नहीं पाता है। भगवान कृष्ण गीता में इसी बात को बहुत दार्शनिक रूप से समझाया है। वह कहते हैं—**ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति/भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायवा।।** यानी वह परमब्रह्म हृदय में जीव के पास ही व्याप्त है। हे जीव यदि तुमको मोक्ष प्राप्त करना है तो उसकी शरण में जा। इस बात को दादू अपनी साखियों में इस प्रकार से करते हैं—

सब देखणहारा जगत का अनतर पूरै साखि/दादू स्यावत सो सही दूजा और न राखि।। कहने का भाव यह है कि उसके अलावा दूसरा इस जगत में तुम्हारे कर्मो को देखने वाला और उसके अनुसार फल देने वाला नहीं है। इसलिए हे जीव तुम अच्छे ही कर्म करो। इससे ही तुमको मोक्ष मिलेगा। तुम्हारे कर्मो का साक्षीभूत वही परमेश्वर ही है। इन साखियों में इसका बहुत ही मार्मिक वर्णन किया गया है—

करता है सो करेगा दादू साक्षीभूत।
कौतिगहारा ह्वै रह्या अण—कर्ता अवधूत।।

दादू की ब्रह्मनंद की अनिर्वचनीयता—भक्ति कालीन संत कवियों ने ईश्वर की अनिर्वचनीयता को लेकर बहुत ही मंत्र मुग्ध कर देने वाला वर्णन अपनी कविताओं में किया है। वह निराकार ब्रह्म कैसा है? उसका आनंद कैसा है? उसके आनंदरस की मिठास कैसी है? जैसे अनेक सवाल कवियों ने किया और उसका जवाब भी बहुत तार्किक ढंग से दिया है। संत दादू इस संबंध में क्या कहते हैं—

''गूंगें का गुड़ का कहूं, मन जानत है खाय/त्यों रामरसायन पीवतौ, सो सुख कह्या न जाय।।

उस ब्रह्म का केवल अनुभव ही किया जा सकता है। क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। दादू को इस बारे में कोई भ्रम नहीं है बल्कि उसकी अनिर्वचनीयता का वे तर्क करते हैं उसका लक्षण शब्दों के द्वारा इस प्रकार से प्रकट करते हैं—

रतन एक बहु पारिख, सब मिलि करै विचार।
गूंगे गहिले, बावरे, दादू वार न पार।।

संत दादू के काव्य में भी अध्यात्म के दार्शनिक तत्त्वों की भरमार है। ये तत्त्व हैं—ब्रह्म, आत्मा, जीव, मोक्ष, जगत् बंधन, माया और परलोक। ये सभी तत्त्व भक्तिकालीन अन्य संतों की कविताओं में भी विद्यमान है। लेकिन सभी के विचार इन तत्त्वों के संबंध में अलग-अलग प्रकार के है। ये सभी तत्व सीधे-सीधे मानव से जुड़े हुए है। दादू कहते हैं ब्रह्म निर्गुण है और जीव चैतन्य स्वरूप। जीव और ब्रह्म का अटूट संबंध दादू स्वीकार करते है। लेकिन माया के कारण जीव ब्रह्म से दूर हो जाता है। वे कहते हैं—'**कर्म के बस जीव है/कर्मरहित सो ब्रह्म।।** लेकिन आत्मा का स्वरूप अलग तरह का दादू मानते है। उनके अनुसार आत्मा निराकार, अनंत और निर्विकार है। वह न जन्म लेता और न तो मरता ही है। आत्मा ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म के साथ अटूट संबंध रखता है। यह जीवात्मा और परमात्मा का मिलन है। जब सांसारिक जीव सांसारिक दुखों से छूट जाता है तब वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।

दादू कहते हैं कि कर्म ही जीव को बार-बार शरीर धारण करवाते हैं। लेकिन एक स्थान पर दादूजी जीव और ब्रह्म को दो नहीं मानते है। परंतु साथ यह भी कहते हैं कि माया के मोह में जब जीव पड़ता है तो इससे निकलना मुश्किल हो जाता है। ऐसे में ब्रह्म और जीव दो अलग-अलग तत्त्व हो जाते हैं। लेकिन मूल रूप से दादू ब्रह्म और जीव की एकता में ही विश्वास करते है। संत दादू का मोक्ष के संबंध में विचार अन्य संतों से बहुत अलग नहीं है। मोक्ष शब्द का अर्थ मुक्ति भी माना जाता है। किससे मुक्ति? दादू कहते हैं—दुखों और आवागमन से मुक्ति। मुक्ति के बारे में भारतीय दार्शनिक परंपरा में अनेक तरह के विचार हैं। सांख्य दर्शन में वास्तविक मुक्ति है। संत दादू दयाल कहते हैं—मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग जाता है, उसे मुक्ति मिल गई, ऐसी बातें सही नहीं है। सांख्य दर्शन के मुक्ति का सिद्धांत ही दादू मानते हैं यानी दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्ति पा जाना ही मुक्ति है। साथ में वे यह भी कहते हैं कि मुक्ति तभी मिलती है जब गुरु की कृपा मिल जाए। यानी भवसागर से गुरु ही पार उतार सकता है। वे कहते हैं—**दादू सच्चा गुरु मिल्या, साचा दिया दिशाइ।/साचें सौ साचा मिल्या, साचा रहा समाइ।**

दादू के दर्शन के अन्य महत्वपूर्ण तत्त्व माया है। दादू के अनुसार माया ही जीव और ब्रह्म में भेद डालती है। जीव और ब्रह्म दोनों ही एक सत्ता है परंतु माया के आवरण से यह भिन्न हो जाते हैं। ब्रह्म असीम है परंतु जीव ससीम है। क्योंकि जीव माया की उपाधि से बंध गया है। जीव कर्मों के बंधन से बंधा हुआ है। दादूजी कहते हैं—''**कर्मों के बस में जीव है, कर्मरहित सो ब्रह्म।**'' माया ब्रह्म की शक्ति है। इस माया को दादूजी 'मृगजल' कहा है। झूठे जल से कभी किसी की प्यास नहीं बुझती है। माया भी मृगजल की तरह है। यह महाठगिनी है। मधुर बोल के द्वारा यह ठग लेती है। यह जादूगर के समान है। जिस प्रकार अपने जादू से वह सबको चकित कर देता है, उसी प्रकार माया भी तीन गुणों के साथ मिलकर मायात्मक, प्रपंच की सृष्टि करती हैं। दादू कहते हैं—**दादू मन ही माया उपजे, मन ही माया जादू/मन ही राता सौ मन ही रहना समादू।।**

परलोक दादू दर्शन के साहित्य का अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। भारतीय दर्शन में मृत्यु के बाद परलोक-गमन का अति महत्त्वपूर्ण चित्रण प्राप्त होता है। यह परलोक गमन वेद, उपनिषद् और अन्य धार्मिक ग्रंथों में बहुत ही सुंदर ढंग से वर्णित किया गया है। इस संबंध में संत कवि दादू कहते हैं—जो व्यक्ति प्रभु का ध्यान नहीं करते, उनका जीवन निष्फल हो जाता है। जो व्यक्ति प्रभु की भजन-स्मरण करता है वह कभी भी मृत्यु के चंगुल में नहीं फंस सकता है। वे कहते हैं—**परमब्रह्म परापरं, सो ममदेव निरंजनम्/निराकारं निर्मलं, तस्य दादू वंदनं।।**

आज के संदर्भ में जब हम दादू-वाणी व्यक्तित्व का आकलन करते हैं, तो सर्वप्रथम हमें उनके हृदय में जाग्रत रही लोक-संग्रह की भावना अथवा आम जन के प्रति मुखरित दर्द दिखाई देता है। लोक-करूणा की अतुलित भावना का स्रोत मधुर और पावन वाणी में किसी के मुख से सुनाई देता है, तो वह है दादूजी का। एक 'पीर' लोक को लेकर दादू या कबीर जैसे कवियों के हृदय में टीसती है, उसको हम शब्दों के जरिए जितना भी सुनते हैं, उससे हजार गुना दादूजी या कबीर के हृदय में हिलोर मारती रही। कबीर जागते हुए रोते हैं लेकिन दादू की पीर कहीं और अधिक उन्हें चुभोती हैं—'**जेहि लागि सो जागि हैं, बेध्या करै पुकार/दादू पंजर पीर है, सालै बारंबार।**

मानव का सांस्कृतिक पतन बहुत तेजी के साथ होता रहा है। समाज में फैली जांत-पांत, वर्ग-भेद, स्वार्थपरता, अन्याय, शोषण, कदाचार, दुराचार, व्याभिचार, भ्रष्टाचार और हिंसा जैसी अनगिनत समस्याओं को कैसे समाज से दूर किया जाए। दादू इन समस्याओं को एक संकल्प के साथ दूर करना चाहते हैं। इन समस्याओं को दूर करके ही वे एक नवीन मानवतावादी और समानतावादी समाज का सृजन किया जा सकता है। दादू कहते हैं—

बार पार न लहै कीमति लेशा नांहि।
दादू एकै नूर है, तेजपुंज सब मांहि।।

समाज में फैली ये समस्याए कहां से पैदा हो रही हैं। मनुष्य क्यों अपने चरित्र से गिरता जा रहा है। दादू इसका समाधान करनी और कथनी में अंतर मानते हैं।

दादू कहणी और कछु, करणी करै कुछ और/ तिनथैं मेरा मन डरै, जिनके ठिक न ठौर।।

महान संत दादू की वाणी जितनी आज से चार सौ वर्ष पूर्व प्रासंगिक थी उससे कम प्रासंगिक आज नहीं है। आज ऐसी कौन-सी समस्या है जो दादू के समय में नहीं थी। विशेषकर सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, धार्मिक और मूल्यगत समस्याएं। हां, इनका रूप-रंग, स्वरूप, सीमा और भाव में परिवर्तन हो गया है।

दादू की वाणियों में योगतत्त्वानुभूति कई स्तरों पर देखी जा सकती है। योग को वे 'जोग' 'जोगी' 'संजोग' 'वियोग' 'जोग-जुगति' जैसे अनेक शब्दों से वे संबंधित करते हैं। वे कहते हैं—**सोधी दाता पलक मैं, तिरै तिरावण जोग/ दादू ऐसा प्रेम गुरु, पाया किहि संयोग।।** योग को उन्होंने ईश्वर-साधना माना है। योग को वे ज्ञान का पर्याय भी मानते है। साधना के जिन दो पक्षों की विवेचना की गई है उनमें दादूजी चिंतनपरक पक्ष में-जिनमें ब्रह्म, ईश्वर, पुरुष, प्रकृति, चित्त, वैराग्य, भक्ति, ज्ञान, निर्वाण, मुक्ति, कर्म, लय और प्रेम की बातें करते हैं। प्रक्रियापरक पक्ष में दादूजी ने शारीरिक और मानसिक शुद्धि पर बल दिया है। स्पष्ट है, ये दोनों पक्ष मानव जीवन को सशक्त बनाने में अहम भूमिका निभाते है। दादू उसे योगी मानते हैं जो सच की राह का राहगीर हो। जिसके अंदर जीवमात्र के प्रति प्रेम और दया की भावना हो। ये पंक्तियां यही व्यक्त कर रही हैं—**जरणा जोगी जुगि जीवै, झरणा मरि मरि जाइ/दादू जोगी गुरमुखी, सहजै रहै समाइ।।** योगी में यदि तप, सत्य और परोपकार नहीं है तो कपड़ा बदल लेने या मूंड मुंडाने से वह योगी नहीं बन जाएगा। दादू कहते हैं—**दादू सोई जोगी सोई जंगमा, सोई संन्यासी सोई सेष/सोई सोफी संबडे, जिहिकैं एक अलेश।।** और योगी का जीवन तो बहुत पावन और पवित्र होना चाहिए—**दादू माया कारनि मूंड मुंडाया यहु तौ जोग न होई।**

दादू का आदर्श—मध्ययुग के कवियों की जो विशेषतायें रही हैं उसमें जीवन और मान्यताओं तथा विचारों का आदर्श विशेष थे। जिन आदर्शों को वे कविताओं के माध्यम से समाज को देना चाहते थे उन आदर्शों को वे स्वयं के लिए जरूरी मानते थे। इसलिए उनकी कही गई वाणी का प्रभाव समाज के हर व्यक्ति के अंत:करण तक पहुंचती थी। वे आदर्श थे, उनके जीवन के मूल्य, चरित्र की शुचिता, परोपकार की भावना, सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय का लक्ष्य, अंधभक्ति से परहेज, पाखंडों से निवृति और मानवीय सरोकारों का जीवन में उतारना।

दादू मनुष्य को बदलने वाली आदर्शवादी सांस्कृतिक योजना अपनी रचनाओं में प्रस्तुत की है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों में हित निहित है। दादू ने परोपकारी व्यक्ति को सबसे अच्छा माना है—

परमारथ को सब किया, आप सवारथ नांहि।
परमेसुर परमारथी, कै साधू कलिमांहि।।

दादू ने समाज के व्यवहार के स्थान पर व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यवहार की समीक्षा अधिक की है। वे कहते हैं, यदि व्यक्ति का सुधार हो जाय तो समाज खुद-ब-खुद सुधर जाएगा। वे ऐसे व्यक्तियों को उपदेश देते हैं जो अज्ञानी और अपढ़ है। जिनको प्रभु की भक्ति के बारे में नहीं मालूम हैं। वे संतों को अधिक सहज रहने की बात कहते हैं। क्योंकि संत की वाणी से समाज में मधुरता, प्रेम, सत्य और न्याय की धारा प्रवाहित होती है। संतों को संबोधित करते हुए कहते हैं—

संतों और कहौ क्या कहिये।
हम तुम सीश इहै सतगुरु की, निकटि राम के रहिये।

एक उत्तम जीवन के आदर्श क्या हो सकते हैं, संत दादू ने इसपर बहुत जोर दिया है। जीवन, समाज, व्यक्ति, संस्कृति, धर्म, देश और अध्यात्म के मूल्यों को वे जीवन में अपनाने पर जोर देते हैं। उनके आदर्श गृहस्थ के लिए तो हैं ही साधु के लिए भी हैं।

जिन आदर्श को उपदेश के रूप में संत दादू ने व्यक्ति को दिया, उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा भी। उन आदर्शों के कारण ही वे समाज के एक युगधर्मी संत, समाज सुधारक, कवि और योगी के रूप में पूज्य बने। निश्चित ही संत दादू का समग्र जीवन संपूर्ण मानवता के लिए कल्याणकारी रहा है और आगे भी बना रहेगा। ऐसे महान संत के उपदेश आज कहीं अधिक उपयोगी और प्रासंगिक हैं। जरूरत है, उसे जीवन में उतराने की।

✦✦✦

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि: महाकवि सूरदास

—सुशील सरित

पुष्टिमार्ग श्रीकृष्ण भक्ति की एक विशिष्ट शाखा मानी जाती है। बल्लभाचार्य इस शाखा के प्रवर्तक हैं। महाप्रभु के विश्लेषण से सुशोभित बल्लभाचार्य ने दर्शन के विशद् क्षेत्र में 'शुद्धाद्वैत' के सिद्धांत को स्थापित किया और साधना के क्षेत्र में पुष्टिमार्ग को।

महाप्रभु बल्लभाचार्य ने ब्रज के गोबर्धन ग्राम के गिरिराज पर्वत पर प्रकटे श्रीनाथजी के स्वरूप को अपने संप्रदाय का सर्वोपरि सेव्य स्वरूप स्वीकार किया और सेवा के प्रारंभ से ही 'कीर्तन' गान की व्यवस्था अपने प्रिय शिष्यों में प्रमुख सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास एवं कृष्णदास इन चार भक्त कीर्तनकारों को सौंपी।

इन चार भक्त कीर्तनकारों में सूरदास को पुष्टिमार्ग के जहाज की संज्ञा दी गई है। सूर के जीवन वृत्त के विषय में प्राप्त सूत्रों के अनुसार दिल्ली के निकट सीही गाँव में सूर का जन्म हुआ था। पिता रामदास एवं छ: भाइयों का मुसलमानों के साथ युद्ध में देहावसान हो गया। उस समय इनकी अवस्था मात्र आठ वर्ष ही थी। तभी से यह श्रीकृष्ण भक्ति में लीन हो गये।

महाप्रभु बल्लभाचार्य से सूर का प्रथम साक्षात्कार गऊघाट पर संवत् 1560 में हुआ। आचार्य शुक्ल मानते हैं कि सम्वत् 1580 में सूर बल्लभाचार्य के शिष्य बने।

महाप्रभु से भेंट होने पर जब महाप्रभु ने इन्हें कुछ गाकर सुनाने को कहा तो इन्होंने दो पद सुनाये प्रथम ''हरि हौं सब पतितन को नायक'' एवं द्वितीय ''प्रभु हौ सब पतितन को टीको'' इस पर आचार्य जी ने कहा कि ''सूर होकर क्यों ऐसी दीनता दिखाते हो क्यों घिघियाते हो'' ''सूर हवै के काहे घिघियात कछु हरिलीला गा'' सूर ने इस पर उत्तर दिया कि उन्हें भगवत लीलाओं का ज्ञान नहीं है। सूर से यह यथार्थ सुनकर महाप्रभु ने उन्हें ''श्रीकृष्ण: शरणं मम:'' नामक अष्टाक्षर मंत्र को तीन बार सुनाया और ब्रह्म संबंध कराते हुए उन्हें समर्पण करा कर श्रीमद्‌भगवतगीता के दशम स्कंध का पूर्ण ज्ञान कराया। इस प्रकार सूर बल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए।

सम्पर्क: 36, अयोध्या कुंज, आगरा-282001,
ई-मेल: seeshilsaxenasarit@gmail.com

बल्लभाचार्य द्वारा उस समय कृष्ण का जो गोचारक रूप रखा गया वह उस युग की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण था। गोपालन और मूर्ति पूजा की रक्षा की अभीष्ट इससे पूर्ण हुआ। उन्होंने कृष्ण की समस्त दिनचर्या को अष्टयामों (आठ भागों) में विभाजित कर कृष्ण को उसी दिनचर्या पर मर्यादापूर्वक चलाया है। उन्होंने गाय को केंद्र मानकर, कृष्ण द्वारा गौचारण कराकर गौरक्षा का मूल कार्य संपादित किया साथ ही गोकशी करने वाले मुस्लिम शासकों से ब्रज की विशाल भूमि गोचारण के लिये प्राप्त की। उस युग में बल्लभाचार्य की यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

महाप्रभु सूर को संप्रदाय में दीक्षित कर अपने साथ गोकुल ले आये। श्री गोकुल जी के दर्शन कर सूर ने बाललीला से संबंधित एक पद 'सोभित कर नवनीत' लिये गा कर सुनाया। इस पर प्रसन्न होकर महाप्रभु उन्हें गोवर्धन ले आये और वहाँ श्रीनाथ जी के दर्शन कराये। वहाँ उन्होंने "अब हौ नाच्यौ बहुत गोपाल" पद सुनाया। आचार्य जी ने उन्हें ईश्वर के माहत्म्य ज्ञान पूर्ण स्नेह का वर्णन करने वाले पद गाने का आग्रह किया सर के लिये गुरू का आदेश सर्वोपरि था। वे इसी भाव के पद गाकर श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा में रत हो गये और जीवन पर्यंत इसी में रत रहे।

सूर जन्मांध थे या कुछ समय बाद वे ज्योतिविहीन हो गये इस विषय में विद्वानों में मतभेद था। उदयपुर के डा. श्याम मनोहर व्यास उन्हें जन्मांध नहीं मानते। डा. व्यास के अनुसार पिता एवं भाइयों के देहावसान के बाद जब वे एक बार भटकते हुए जा रहे थे तो एक कुएँ में गिर पड़े और छः दिन तक पड़े रहे। भगवान कृष्ण ने प्रकट होकर स्वयं इन्हें निकाला और वरदान माँगने को कहा तो इन्होंने कहा कि भगवान जिन नेत्रों से आपके दर्शन हुए उनसे जगत को न देखना पड़े। अतः आप मुझे अंधत्व प्रदान कीजिये। डॉ. श्यामसुंदर दास, डॉ. वेणी प्रसाद, नलिनी मोहन, नन्द दुलारे भी इसी मत के है। डॉ. केशव कृष्ण 'पाठक' सूर को जन्मांध ही मानते हैं। इस संदर्भ में सूर के ही एक पद की दो पंक्तियों, "कोटि-कोटि पतित उघारे, कह हूँ कवन कहाँ को रहयो जात एक पतित जनम को, आन्धरौ सूर सदा को" का उदाहरण देते हुए वे एक लोक श्रुति का भी वर्णन करते हैं। लोक श्रुति के अनुसार एक बार कवि बालक सूर ब्रजभूमि को चले। अपने अंधत्व के कारण वे एक गड्ढे में गिर पड़े। रात्रि भर वहीं वे कृष्ण-कृष्ण पुकारते रहे। इस पर दया कर श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर उनका हाथ पकड़ कर डगर कर छोड़ना चाहा इस पर सूर ने जल पीने की इच्छा व्यक्त की। श्रीकृष्ण के हाथ से जल का पहला घूँट गले में उतरते ही सूर को आभास हो गया कि जल पिलाने वाला बालक कहीं प्रभु कृष्ण तो नहीं उन्होंने चतुराई से उन्हें पकड़ने का यत्न किया तो श्रीकृष्ण छिटक कर दूर हो गये। इस पर सूर के मुख से निम्न पद व्यक्त हुआ—

"बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि के मोहि
अन्तर तैं जब जाहिगौ, सबल जानूंगो तोहि"

अनेक विद्वान यह मानते हैं कि सूर का वास्तविक नाम सूरजदास था। भजनों में 'सूरदास' नाम का प्रयोग महाप्रभु बल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद, सूर ने किया। उनके भजनों में सूर, सूरदास, सूरजदास एवं सूरश्याम चारों नाम मिलते हैं।

सूर के पदों का संग्रह 'सूरसागर' नाम से प्रतिष्ठित है। इस नाम के पीछे भी एक रहस्य है। श्री बल्लभाचार्य इन्हें सागर नाम से संबोधित करते थे, इसी कारण इन्होंने अपने संग्रह का नाम 'सूरसागर' रखा।

सूर का काल अकबर का काल था। अकबर गुणीजनों का सम्मान करते थे। जब सूर की ख्याति उन तक पहुँची तो उन्होंने सूर का बुला भेजा और गाने का आग्रह किया। सूर उस समय तक वृद्ध हो चले थे तथापि सम्राट के आग्रह का मान रखते हुए उन्होंने "माधो सों कीर प्रीत" भजन तुरंत रचकर प्रस्तुत किया। सम्राट को इससे आनंद मिला तो कुछ गुणानुवाद गाइये। इस सूर ने यह पद गाया—

नहिन रह्यो मन में ठौर
नंद-नंदन अक्षत कैसे आनिये उन और
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत राति
हृदय ते वह मदन मूरति छिनु न इत-उत जाति
कहत कथा अनेक ऊधो लोग लोभ दिखाई
कहा करो चित प्रेम पूरन घट न सिंधु समाइ
श्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास
सूर ऐसे दरख कारन मरत लोचन खास

सूर के विषय में अनेक दंतकथायें प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार अंधे होने के बाद वे किसी लेखक से अपने पदों को

लिखवाते थे। उनके लेखक की अनुपस्थिति में कृष्ण स्वयं आते थे और उन शब्दों को लिख जाते थे जो संदेह न करने वाले कवि के मुख से प्रस्रोत के समान स्वयं फूट पड़ते थे। अंत में सूरदास ने अनुभव किया कि लिखने वाला उनकी वाणी का अतिक्रमण कर जाता है और उनके विचारों को उनके उच्चारित करने से पहले ही लिख लेता है। इससे अपने अंतर्यामी प्रभु को पहचान कर सूर ने उनका हाथ पकड़ लिया। लेकिन कृष्ण उन्हें पीछे ढकेल कर अंतर्धान हो गये।

इसी प्रकार एक अन्य दंतकथा के अनुसार (यह प्राचीन वार्ता रहस्य-2 में वर्णित है) एक बार सूरदासजी ने मन विचारा कि मैंने अपने मन में सवा लाख पद लिखने का संकल्प लिया है इनमें से एक पूर्ण हो चुके हैं तो 25000 और पूरे कर लूँ तो यह देह छोड़ दूँ, इस पर गोवर्धननाथ स्वयं प्रकट हुए और कहा कि तुम्हारे सवा लाख का संकल्प तो मैंने 25000 लिख कर पूरा कर दिया है चाहो तो अपने कीर्तन वाली कॉपी देख लो। इस पर सूर ने एक वैष्णव से जाँच करने को कहा। वैष्णव ने जा कर जाँच की तो सूरदास उचित कीर्तन के बीच-बीच में ऐसे कीर्तन मिले जिनमें 'सूर स्याम' अंकित था और उनकी संख्या 25000 थी। वैष्णव ने जाकर सूर को बताया तो सूर ने दंडवत कर कहा कि मेरा मनोरथ तो आपकी कृपा से पूर्ण हुआ अब जैसी आज्ञा हो तब गोवर्धनाथ ने कहा अब तुम मेरी लीला में आयके लीलारस को अनुभव करें।

इसी प्रकार एक बार अकबर ने घोषणा की कि जो कोई सूर का एक पद लायेगा उसे एक मोहर पुरस्कार मिलेगा। लालच में लोग सूर के नाम से नई-नई रचनायें लाने लगे। दो लाख पद एकत्र हो गये। अकबर ने एक तराजू में असली पर रखा दूसरी में लाये हुए पद। असली बराबर बैठता था नकली ऊंचा-नीचा। कुछ कहते हैं कि अकबर ने सब पद अग्नि में डलवा दिये असली बच गये नकली स्वाहा हो गये।

सूर के पदों का संकलन करवा कर अकबर ने उन्हें फारसी में लिपिबद्ध कर लिखवाया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार लीला गायन के आदेश प्राप्त होने के बाद सूर ने जो प्रथम पद रचा वह श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर जन्म बधाई का यह पद था।

''ब्रज भयौ महर के पूत, जब यह बात सुनी।'' बल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने पर भी सूर की दृष्टि न तो संकीर्ण थी और न ही किसी सांप्रदायिक कर्मकांड के साथ प्रतिबद्ध थी। ऐतिहासिक संदर्भों की बात करें तो विष्णु स्वामी की रूद्र परंपरा में श्रीमदबल्लाभाचार्य ने सन् 1462 में ब्रज को अपना केंद्र मानकर बल्लभ संप्रदाय की स्थापना की थी बल्लभाचार्य के पश्चात उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी ने इस आध्यात्मिक रथ की बागडोर सम्हाली किंतु उनका अल्पायु में ही देहावसान हो गया। उनके उपरांत बल्लभाचार्य के कनिष्ठ पुत्र विट्ठलनाथ जी ने इस संप्रदाय के वैभव में असीमित श्री वृद्धि की कवि, संगीतकार, वाद्य विशारद, पाक शास्त्री आदि अनेक विद्याओं के पारंगत कलाकारों को जोड़कर उन्होंने इसकी श्री वृद्धि में लगा दिया।

हिंदी भक्ति साहित्य के विख्यात अष्टछाप कवियों में इनके भी चार शिष्य छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नंददास शामिल हैं। इन अष्टछाप कवियों ने धर्म, दर्शन, भक्ति-प्रेम काव्य और संगीत की ऐसी निर्मल एवं मधुर स्रोतस्विनी प्रवाहित की कि तत्कालीन मध्ययुगीन समाज कृष्ण भक्ति में सराबोर हो गया और सूरदास जी इस संपूर्ण भक्ति अभियान के नायक माने जाते हैं। पुष्टिमार्ग में लीला के रूप में भगवान के प्रति वात्सल्य रूप में ही आस्था प्रकट की गयी है परंतु सूर ने कंस संघारक, द्रोपदी लाज रक्षक, पार्थसारथी, पूतना विनाशक, कालिया नाग नाथक, दावानल पीने वाले, एवं गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की सभी लीलाओं का वर्णन अपने पदों में किया है। फूल मंडली का अनूठा वर्णन इस पद में उल्लेखनीय है—

फूलन कौ महल, फूलवन की सिज्या, फूले कुंज बिहारी, फूली राधा प्यारी।

फूले वे दंपति, नवल मगन फूले, करैं केलि न्यारी न्यारी।।

फूली लता-बंलि विविध सुमन गन फूले आनन दोऊ हैं सुखकारी।

सूरदा प्रभु प्यारी पै वारत फूले फूल चम्पक बेल निवारी।।

सूरदास का भगवान श्रीनाथ जी ने तादात्मय स्थापित हो गया था। एक बार गोस्वामी विट्ठलदास जी के सुपुत्र श्री गिरिधर जी ने

श्री गोकुलनाथ जी के कहने से सूरदास जी की परीक्षा लेने का निश्चय किया। उन्होंने नवनीत प्रिय का सुंदर श्रृंगार किया किंतु वस्त्रों के स्थान पर मोतियों की माला पहना दी तथा सूरदास जी को श्रृंगार का वर्णन करने को कहा इस पर सूरदास जी ने निम्न पद सुनाया–

''देखे री प्रभुत नंगम नंगा
जल सुत भूषण अंग विराजत, वसनहीन छवि उठत तरंगा।।
अंग अंग प्रति अमित माधुरी, निरखि लाजत रति कोट अनंगा।
किलकत दधि सुत मुख ले मन भरि, सूर हँसत ब्रज जुवतिन संगा।''

शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद बल्लभ संप्रदाय के नाम से प्रतिष्ठित पुष्टिमार्ग में कहा गया है कि जीव की प्रवृति तभी बढ़ती है। जब भगवान का अनुग्रह होता है इसे ही पुष्टि कहते हैं। इसी मार्ग का नाम पुष्टिमार्ग है। सूरदास के शीर्ष नेतृत्व में अष्टछाप साहित्य अष्टधातु के रूप में अमिटछाप छोड़ने वाला ब्रजभाषा का कृष्ण भक्ति साहित्य बना।

सूर रचित ग्रंथों के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। नागरी प्रचारिणी 25 ग्रंथों की चर्चा करती है। डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम' केवल 15 ग्रंथों को सूर रचित मानते हैं जिनमें सूर सारावली, साहित्य लहरी, सूर सागर, गोवर्धनलीला, दशम स्कंध टीका, नागलीला, पद संग्रह, प्राणप्यारी, ब्याहलो, भागवत भाषा, सूर–पचीसी, सूर सागर सार, एकादशी महात्म्य राम जन्म और सेवाफल प्रामाणिक है। इनमें भी सूर–सारावली, साहित्य लहरी एवं सूर सागर सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

सूर का साहित्य कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। महाप्रभु बल्लभ ने अपनी साधना में स्त्री, शूद्र आदि को समान भाव से गृहित किया। उनके प्रमुख शिष्य के रूप में सूर भी कहीं भी जाति प्रथा का समर्थन नहीं करते। उनका काव्य सही अर्थों में मानव मूल्यों का बोध कराता है, वे वर्तमान ही नहीं भविष्य के लिये भी कालजयी और प्रासंगिक है। प्रसिद्ध समालोचक डॉ. नामवर सिंह की मान्यता है कि सूर का काव्य सामंती समाज के विरोध में खड़ा है। उनकी स्वच्छंद समाज की परिकल्पना, उनका समाज दर्शन जिसमें प्रेम जीवनोत्सव का रूप लेकर उपस्थित होता है, तत्कालीन समाज के समानांतर प्रस्तुत किया गया एक सर्वथा मुक्त एवं नया समाज है।

सूर के साहित्य में वर्णन समाज पारस्परिक समता के आधार पर स्थापित समाज है जिसकी नींव कृषि संस्कृति पर खड़ी हुई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि भारत के किसी कवि ने राधा का वर्णन इस पूर्णता के साथ नहीं किया है। विश्व साहित्य में ऐसी प्रेमिका कहीं नहीं है।

पं. रामचंद्र शुक्ल की मान्यता है कि जिस परिमित पुण्य भूमि में उनकी वाणी से संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक किसी और कवि की नहीं।

सूर साहित्य की प्रासंगिकता या सार्थकता इस तथ्य में है कि वह हमारी चेतनागत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है। सूर मुख्यता भाव पक्ष के कवि हैं किंतु साहित्य लहरी में उनकी दृष्टि कलापक्ष को समृद्ध करती है। साहित्य लहरी में निकुंज लीला रस की प्रधानता है और इनका क्रम भी वही है जो साहित्य शास्त्रों में वर्णित है। संस्कृत शब्दावली में रचित साहित्य लहरी के दृष्टिकूट पद साहित्य रसिकों के लिय अमूल्य है।

आम धारणा के विरूद्ध एक विशेष तथ्य यह भी है कि सूर ने भी श्रीराम के प्रति भी अपनी निष्ठा पूरी निष्ठा से व्यक्त की। सूरसागर के नवें स्कंध के 158 पदों में भी श्री रामकथा का वर्णन कर सूर ने न केवल श्रीराम की मर्यादित लीला का वर्णन किया वरन् उन्हें ब्रह्म भी माना। सूर ने बालकांड से लेकर लंकाकांड तक श्रीराम कथा को समेटा है।

श्रीराम के जन्म विषयक पद उतने ही रस–सिद्ध है जितने श्रीकृष्ण जन्म विषयक पद उदाहरण के लिये निम्न पद यथेष्ठ हैं–

आजु दशरथ के आँगन भीर
ये भू–भ्रामर उतारन कारन प्रकटे स्याम सरीर।
फूले फिरत अयोध्यावासी, गनत न त्यागत चीर।
परिरंभन हँसिदेत परस्पर, आनंद नैननि नीर।
त्रिदस नृपति, रिषि ब्योम–विमाननि देखत रहयो न धीर।
त्रिभुवन नाथ दयालु दरस दै, हरै सबनि की पीर।
देत दान राख्यो न भय कछु, महा बड़े नग हीर।
भए निहाल सूर सब जाचक, जै गाँवे रघुवीर।

सूर की कथावस्तु तथा उनके लीला वर्णन में सहज मानव गुण की प्रधानता है साथ ही उसमें धार्मिक चेतना की सर्वत्र विद्यमान है। इसी कारण से उनका लीला वर्णन अधिक मनोहारी सरस और मनोवैज्ञानिक बन सका है। सत्य तो यह है कि सूर की सहज प्रतिभा ने राग-रागिनी के शास्त्रीय विधान, काव्य शास्त्रीय छंद रस अलंकार योजना और लोक-धुनों की भाव प्रवणता के अनायास योग से एक नवीन शैली को जन्म दिया है।

अपनी कोमल कांत पदावली, चित्रात्मकता, सजीवता, धाराप्रवाहिकता, संगीतात्मकता तथा माधुर्यमयी सरलता के कारण सूर को ब्रज-भाषा का बाल्मीकि कहा जाता है। ये सूर ही हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में संगीत प्रधान काव्य परंपरा प्रारंभ की और इनके रचे भ्रमरगीत एक विशेष काव्यधारा ही बन गये। इस धारा में अन्य अष्टछाप कवियों के अतिरिक्त तुलसीदास ने भी अवगाहन किया।

सूर ने नारी की प्रत्येक छवि का वर्णन बड़ी कुशलता से किया है। प्रिया, कामिनी, पत्नी, ग्वालिन, स्वकीया-परकीया के अतिरिक्त स्त्री के मातृरूप की जैसी व्यंजना सूर ने की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तो 'सूरसागर' को स्त्री-चरित्र का काव्य ही मानते हैं।

सूर का काव्य वैविध्य अद्‌भुत है किंतु बाल लीला वर्णन में जिस सूक्ष्म दृष्टि का परिचय सूर ने दिया है उसने ही उन्हें सूर सिद्ध किया—

''सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये।।
चारु कपोल लोल लोचन छवि गोरांचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप गन मादक मधुहिं पिये।
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कलप जिये।''

सूर के काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टांत, लोकोक्ति, अतिश्योक्ति, रूपक आदि अलंकारों एवं रूपमाला, गीतिका, विष्णुपद, सरसी, सार, वीर, लावनी, चंद्र हरिप्रिया, हँसाल, मत्त एवैया, सुखदा कुंडल आदि छंदों का प्रयोग किया है। महाप्रभु ने भगवान की सेवा हेतु 36 रागों का विधान किया था। सूरसागर में प्रयुक्त 87 राग इन्हीं 36 निर्दिष्ट रागों के अंग है।

सुर और तुलसी

सूर और तुलसी एक ही काल के दो ऐसे दैदीप्यमान नक्षत्र है जो भारतीय साहित्य की प्राणरेखा है। वार्ता से ज्ञात होता है कि एक बार तुलसीदास अपने भाई नंददास से मिलने ब्रज में आये थे। वे उनसे पारासोली में मिले। नंददास तुलसी को गोकुल भी ले गये। वहाँ गो-विट्‌ठनाथ के पंचम पुत्र श्री रघुनाथ जी का विवाह हो रहा था। यह घटना सं. 1626 की हैं। वहीं सूर से उनकी भेंट हुई। ब्रज के वातावरण से प्रभावित होकर तुलसी ने कुछ पदों की रचना की वे पद पुष्टिमार्गीय मंदिरों में गाने की आज भी परंपरा है। (सूर निर्णय-प्रभुदयाल मीतल)

उनके देहावसान के विषय में कहा जाता है कि एक दिन सूरदास जी को आभास हुआ कि मुझे अब यह शरीर छोड़ना है। उस काल में सूरदास जी का स्थायी निवास गोवर्धन के निकट पारासोली ग्राम में था। वहाँ चंद्रसरोवर के निवट वे कुटी बनाकर रहते थे तथा नित्य श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन सेवा करने जाते थे। देह त्याग के समय का आभास होते ही वे रासलीला के स्थान पारासौली चले आये और श्रीनाथ जी के मंदिर की ध्वजा को प्रणाम कर आचार्यजी का स्मरण करते हुए भूमि पर लेट गये। गोवर्धन के श्रीनाथ मंदिर में सूरदास जी को न पाकर आचार्यजी समझ गये कि क्या होने वाला है। वे भक्तों के साथ पारासौली पहुँचे। जब उन्होंने सूर से उनकी कुशलता पूछी तो उन्होंने 'देखो-देखो हरिजू का एक सुभाय' पद सुनाया। जब चतुर्भुजदास जी ने उनसे महाप्रभु का यश वर्णन करने को कहा तो सूर ने 'भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरो' पद सुनाया। फिर वे मूर्छित हो गये। जब गोस्वामीजी ने पूछा कि सूरदास जी इस समय तुम्हारे नेत्रों की वृत्ति कहाँ है तब उत्तर में सूर ने निम्न पद सुनाते हुए विक्रम संवत 1640 में अपने नश्वर शरीर को त्याग दिया।

'खंजन नयन रूप रस माते
अतिसै चारू चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि-चलिजात निकट स्त्रवनन के उलटि पलटि-ताटंक
फंदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतरू अबहिं उड़ जाते।'

उनकी आयु देहत्याग के समय 105 वर्ष की थी।

विश्व कवि तुलसीदास

—डॉ. चंद्रकांता किनरा

वैश्विक मान्यता और सार्वदेशिक ख्याति में महामना तुलसीदास की समता करने वाला दूसरा महाकवि हिंदी में नहीं है। यूनानी भाषा में होमर, फारसी में फिरदौसी, इटैलियन में दाँते, अंग्रेजी, में शेक्सपियर की तरह तुलसीदास हिन्दी के गौरव प्रतीक हैं। सर जॉर्ज ग्रियर्सन और आचार्य विनोबा भावे के अनुसार बुद्ध के पश्चात तुलसी उत्तर भारत के महानतम लोकनायक हैं।

तुलसीदास विश्वकवि हैं, इसका प्रमाण है, अब तब अनेक विदेशी विद्वानों द्वारा तुलसीदास पर किया गया उल्लेखनीय कार्य। गार्सा द तासी ने फ्रेंच तथा ग्राउज़ और एटकिन्ज़ ने अंग्रेज़ी में और रूस के विश्वविख्यात भाषाविद् वारान्निकोव ने रामचरित मानस के गद्य और पद्य में अनुवाद किए हैं। कार्पेटर, टेसिटरी, रॉवलिंसन, ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य पण्डितों ने तुलसी पर उत्कृष्ट समीक्षात्मक रचनाएँ की हैं। उनकी 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया गया है।

तुलसी के महान कृतित्व ने हिंदी और अहिन्दी भाषी रचनाकारों को समान रूप से आकृष्ट किया है। हिन्दी में नाभादास, भिखारीदास, वेणीमाधवदास, रघुवरदास, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, निराला तथा मराठी के मयूरकवि, गुजराती के श्री मुंशी ने तुलसी से प्रेरित होकर काव्य रचना की। नेपाली, मैथिली, मलयालम, फारसी आदि भाषाओं में भी राम चरित मानस के अनुवाद मिलते हैं। रामचरित मानस और मानसेतर ग्रन्थों पर रची गयी गवेषणात्मक टीकाएँ, विशेष रूप से अंजनी नंदन शरण द्वारा आठ खण्डों में रचित 'मानस पीयूष' संभवत: दुनिया की सबसे बड़ी टीका है— जिसमें एक-एक चौपाई के दस अर्थ तक दिए गए हैं, दूसरे शब्दों में कहा जाए तो तुलसी हिन्दी के बहुपठित और बहुचर्चित कवि हैं।

चार पाँच शताब्दी पूर्व जब तुलसी का आविर्भाव हुआ, मध्ययुगीन समाज आदर्शहीन, विश्रृंखल और विलासिता में डूबा हुआ था, जिसमें भाँति-भाँति की विरोधी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, आचार विचार और पद्धतियाँ प्रचलित थीं। समाज के विकृतस्वरूप पर दृष्टि डालकर तुलसी की सर्वग्राही प्रतिभा ने

सम्पर्क: आवास : सीसी-29, राना प्रताप बाग, दिल्ली-110007
ई-मेल: chinra051@gmail.com

राम को जनकल्याणकारी नायक के रूप में प्रतिष्ठित किया; संत्रस्त समाज के लिए तुलसी ने रामराज्य की कल्पना की। आधुनिक युगपुरूष गांधी और तत्पश्चात राममनोहर लोहिया ने भी ऐसा ही सपना देखा।

तुलसीदास का सरोकार था एक बेहतर सामाजिक व्यवस्था देना। इसलिए तत्कालीन सामंतवादी व्यवस्था और वर्णाश्रम को स्वीकार करते हुए भी उस व्यवस्था के दोषों पर उन्होंने प्रहार किया। वर्ग वैषम्य, जाति पांति को दूर करने के लिए उन्होंने ब्राह्मणकुलोत्पन्न गुरु वशिष्ठ की निषादराज से भेंट करवायी, क्षत्रिय कुलोत्पन्न राम को वानर भालू, रीछ आदि निम्नतर जातियों से प्रेमालिंगन करते हुए दिखाकर उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया। राष्ट्र के समस्त साधनों पर सभी नागरिकों का समान अधिकार हो, सब को विकास के समान अवसर मिलें, इसी लिए तुलसी ने कहा–

रामराज राजत सकल नर नारि,
राग न द्वेष न दुःख, सुलभ पदारथ चारि।

जिस राज्य में धोबी की बात पर भी विचार हो, उसकी जनतांत्रिकता में संदेह नहीं है।

निराशा से पूर्ण मध्ययुग में भक्तिपथ पर प्रवाहित हिन्दी कविता को तुलसी ने रामभाक्ति का संबल दिया। 'अनुनहि सुगुनहि नहि कछु भेदा' मानने वाले तुलसी की वैष्णव भक्ति में सभी भेद भाव बह गये। बौद्ध धर्म, नाथपंथ, निर्गुणमार्गी सन्तों और सूफियों से परिचित तुलसी की सारग्राहिणी प्रतिभा ने रामचरित को लोकरंजक, लोकहितकारी रूप में प्रस्तुत किया। तुलसी से पूर्व राम ब्रह्म के अवतार थे लेकिन रामचरितमानस के राम चरम उपेक्षित की पीड़ा करने वाले प्रेम के आगे विवश हो जाने वाले, प्रभु बन गए। इस प्रकार भक्ति साधना को धार्मिकता की छाया से निकालकर तुलसी ने उसे एक सामाजिक आंदोलन बना दिया। आज विश्व में व्याप्त धर्मान्ध्ता, भ्रष्टाचार, भौतिक उन्नति की होड़ और गलाकाट प्रतियोगिता से आक्रान्त और तनावग्रस्त मनुष्य राम चरित मानस में सकारात्मकता की खोज करता हैं इसी लिए कुछ विद्वानों ने मानस को उत्तरी भारत की बाइबिल कहा है केवल भारतीय ही क्यों विदेश रामभक्त भी बनारस, हरिद्वार, ऋषिकेश आदि में गंगा तट पर रामनामी चादर ओढ़ राम चरित में अपनी आस्था की घोषणा करते हैं।

भारतीय संस्कृति में ऋषि नीतिवेत्ता और कवि अपनी साधना में जिस जीवन को लक्ष्य करके चलते रहे हैं, वह है गृहस्थ जीवन। अन्य देशों की संस्कृतियों में गार्हस्थ्य जीवन का वैसा संघटन नहीं, जैसा भारत में है। बीसवीं सदी में ज्ञान विज्ञान, औद्योगिकी, राजनीति आदि क्षेत्रों में उन्नति के शिखर छू लेने के उपरान्त भी भारतीय की मनुष्य संबंधी परिकल्पना राम चरितमानस के पात्रों पर ही आधारित है। शीलवान व्यक्ति की कल्पना राम, त्यागी बंधु की कल्पना भरत, पत्नी वशवर्ती मनुष्य की कल्पना दशरथ, सेवक की कल्पना हनुमान, क्रोधी की कल्पना परशुराम, परपीड़क की कल्पना रावण और ममतामयी माँ की कल्पना कौशल्या के सहारे भारतवासी करते हैं; यह राम चरितमानस जैसे क्लासिक की शाश्वत उपयोगिता का प्रमाण है।

तुलसीदास की लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण उनकी भाषा हैं। अपनी रचनाशीलता के लिए उन्होंने संस्कृत को नहीं, जनभाषा अथवा लोकभाषा अवधी को चुना जिसमें भोजपुरी के बहुत से शब्द हैं। पंडित होकर जनभाषा को अपनाने के कारण उन्हें ब्राह्मण समुदाय का विरोध झेलना पड़ा परंतु तुलसी ने 'मांग के खइबो, मसीत में रहिबो' के निश्चय पर अटल रहते हुए लोक भाषा में 'रामचरित' की रचना कर के उत्तर भारत के घर–घर में उसे पहुँचा दिया। तुलसी की उक्तियाँ सूक्तियाँ बनकर हर भारतीय के मुख से निकलती हैं, यथा, 'सकल पदारथ हैं जग मांहि, करम हीन नर पावत नांहि', अथवा

'पराधीन सपनेहु सुख नाहिं।

संकट की घड़ी में श्री 'रामचंद्र' कृपालु भजमन हरण भव भय दारुणं', को गाकर उसे सुकून मिलता है। राम को जन–जन के निकट लाने का श्रेय तुलसी की लोकप्रिय शैली में रची गयी कृतियों–जानकी मंगल, पार्वती मंगल और रामलला नहछू को है।

रामचरितमानस को जनजन तक पहुँचाने के लिए तुलसी ने जिस प्रचार तंत्र का सहारा लिया, वह था रामलीला। मुगलों के राज्यकाल में सामाजिक नाटक उनके कट्टर धार्मिक नियमों के कारण नहीं हो सकते थे। धर्म की ओट में तुलसी ने रामचरित को रामलीला रूपी महानाटक में ढाला जिसमें मनोरंजन के साथ जनकल्याण भी अभिप्रेत था। अपने मित्र मेघा भगत के साथ मिलकर उन्होंने काशी में रामलीला का

आयोजन किया जो धीरे-धीरे देश के हर गाँव कस्बे, और शहर में फैल गयी। भारतवासी देश की सीमाओं से बाहर जाकर बसे, तो वहाँ भी इसे अपने साथ ले गए। मॉरीशस फिजी, गुयाना, सुरीनाम, नेपाल में रामचरितमानस का पठन पाठन और मंचन इसका प्रमाण है। चार शब्ताब्दियों के बाद महानगरों की उच्च सांस्कृतिक कला मण्डलियों से लेकर गाँवों की चौपाल तक आज भी हर वर्ष उत्साह और नई-नई तकनीकों के सहारे रामलीला का आयोजन भारतीय मन में गहराई तक पैठी हुई आस्था का संकेत है।

बींसवी सदी में इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के प्रसार ने रामलीला को एक नयी दिशा प्रदान की टेलिविजन पर रामानंद सागर द्वारा निर्मित धारावाहिक 'रामायण' की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि रविवार समय सुबह उसके प्रसारण के समय सड़कों पर सन्नाटा पसरा रहता था और बहुत से लोग यह धारावाहिक देखकर ही सुबह का जलपान किया करते थे।

तुलसीदास की महानता रामकथा की रचना में नहीं बल्कि उसके द्वारा किए गए भारत के सांस्कृतिक संघटन में है रामलीला के अतिरिक्त तुलसी ने मानस की कथा के श्रवण मनन को भी प्रचारित किया। कुछ विद्वानों का मानना है कि तुलसी मानस की कथा के प्रथम व्यास थे। आज भी दिल्ली जैसे महानगर में श्री मोरारी बापू और रामकिंकर उपाध्याय द्वारा रामकथा वाचन को सुनने के लिए लोग हजारों की संख्या में उमड़ते हैं, घर में किसी भी शुभकार्य से पहले रामचरित मानस या सुन्दरकाण्ड पाठ का आयोजन किया जाता है। व्यक्ति के नामकरण के समय 'उपसर्ग' या प्रत्यय के रूप में राम आ जाएँ तो भारतीय मन आश्वस्त हो जाता है। यथा, 'रामजनम, रामदरश, रामभज, रामदहिन, हरीराम, साधुराम।

आधुनिक समाज और तदनुरूप साहित्य भी व्यक्ति केन्द्रित है। साहित्य में जनसाधारण की प्रतिष्ठा को देखने का अभ्यस्त पाठक तुलसी की कुछ स्थापनाओं पर प्रश्नचिह्न लगाता है जैसे 'कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना' अथवा 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।' लेकिन 'सुरसरि सम सब कहं हित चाहने वाला कवि जन सामान्य प्राकृतजन का विरोधी नहीं हो सकता, उसे तत्कालीन लोक मान्यताओं और परिवेश का प्रभाव कहा जा सकता है। तत्कालीन लोकविश्वासों और लोक मान्यताओं की सार्थकता और आज के समाज में रखने का आग्रह छोड़कर मानवीय संवेदना की उपस्थिति की दृष्टि से देखें तो रामचरित मानस संसार के अमूल्य ग्रन्थों की भाँति मनुष्य मात्र के लिए प्रासंगिक है।

रामचरित मानस समाज का एक समग्र चित्र प्रस्तुत करता है, मनुष्य अपने अच्छे-बुरे त्याज्य, ग्राह्य, आदर्श यथार्थ सब रूपों में यहाँ उपस्थित है। भाँति-भाँति के संबंध, अनेक प्रकार के मनोभाव, जैसे प्रेम, करुणा, शोक सब एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं। इसके विराट फलक पर राजमहल, जंगल, गाँव, दूसरी तरफ कहानी, नाटक, संगीत चित्रकला सभी विधाओं का समाहार है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसीदास की इस सफलता का श्रेय उनकी समन्वय बुद्धि को दिया है तुलसी ने लोक और शास्त्र, वैराग्य और गृहस्थ्य, निर्गुण और सगुण, भावावेग और अनासक्ति सभी का समन्वय करके रामचरितमानस को युग निरपेक्ष बना दिया।

आज रामचरित मानस के पाठकों में देश और विदेशों में सर्वाधिक संख्या उनकी है जो उसे सकल सुमंगल रघुनायक के गुणमान के रूप में मानते हैं, अन्य पाठक उसे ज्ञान विज्ञान का कोश और भारतीय संस्कृति का एकमात्र मानक ग्रन्थ मानते हैं, कुछ विद्वान इसे समाजशास्त्रीय और नीतिशास्त्रीय संहिता के रूप में स्वीकार करते हैं। विश्वविद्यालयों में अकादमिक स्तर पर इसका पठन पाठन विवेचन होता है और एक आम भारतीय के घर में श्रद्धा से इसका पारायण। सार्वकालिक सांस्कृतिक मूल्यों को प्रस्तुत करने वाले रामचरित मानस ने तुलसीदास को वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, शेक्सपियर, होमर आदि के समकक्ष स्थापित किया है, साथ ही देशकाल की सीमा पार कर करोड़ों नर नारियों की जीवनधारा को राममय बनाया है। कथाकार पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने एक बार कहा था 'मैने विश्व का ढेर सारा श्रेष्ठ साहित्य नहीं पढ़ा लेकिन मुझे उसका अफसोस नहीं है क्योंकि मैंने रामचरितमानस पढ़ा है' आधुनिक कवि अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शब्द उधार लेकर कहा जा सकता है-

वन राम रसायन की रसिका रसना रसिको की हुई सफला

अवगाहन मानस में करके जनमानस का मल सारा ढला

बनि पावन भाव की भूमि भली हुआ भावुक भावुकता का भला

'कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पा तुलसी की कला'

✦✦✦

सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक संत रविदास

—डॉ. सुरेंद्र गुप्त

संत काव्य परम्परा जिसका प्रवर्तन एवं प्रचलन वस्तुत: हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में हुआ था, उसका हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इस काल में अपभ्रंश के संत साहित्य, नाथ पंथी तथा महाराष्ट्रीय संतकाव्य की गणना की जाती है। सही मायनों में तो नामदेव के बाद ही इस परम्परा का वास्तविक विकास दिखाई देता है। नामदेव जी के पश्चात कबीर के सशक्त व्यक्तित्व ने इस परम्परा को नया मोड़ दिया। महात्मा कबीर क्या साहित्य में, क्या समाज में एक क्रान्तिकारी रूप लेकर अवतरित हुए। भक्ति लहर के इस युग में कबीर जी ने जनमानस के ह्रदय को अपनी वाणी से पूरी तरह से आंदोलित किया था। संत रविदास जी को कबीर का समकालीन माना जाता है। कबीर जी मूलत: भक्त, विचारक एवं सुधारक थे। उन्होंने जो कुछ भी अनुभव या चिंतन किया उसे काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया। संत गुरु रविदास जी भी भक्त, विचारक एवं सुधारक थे। उन्होंने अपने चिंतन व जीवनदर्शन की ज्योति से जन-जन के ह्रदय के बीच क्रांति की मशाल को प्रज्वलित किया।

श्री रविदास जी के कुछ पद गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित हैं। उनकी वाणियों का एक संग्रह वेलवेडिर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार उनका कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, केवल फुटकर पद ही मिलते हैं। परंतु इनके पदों में संत काव्य की प्रवृत्तियों का विकास समुचित रूप से मिलता है। अनुभूति को जिस सादगी से उन्होंने अभिव्यक्ति दी है उसका अपना महत्व है। डॉ॰ हजारी प्रसाद कहते हैं कि अनाम्बडर सहज शैली और निरीह आत्मसमर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ बहुत ही कम संतों की तुलना की जा सकती है। यदि भावों की प्रेषणीयता, काव्य का उत्तम गुण हो तो रैदास जी के भजन इस गुण से समृद्ध पाये जाते हैं। सीधे सादे पदों में संत कवि के ह्रदय भाव बड़ी सफाई से प्रकट हुए हैं और वे अनायास ही ह्रदय को प्रभावित करते हैं । अत: संत काव्य-परम्परा में उनका अपना अलग से स्थान है।

यहाँ उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही उनकी चिंतनधारा से

सम्पर्क: आर एन-7, महेश नगर, अम्बाला छावनी-133009

कतिपय निष्कर्ष निकालते हुए उनके सिद्धातों को रेखांकित करने की कोशिश की गई है। संत गुरु रविदास जी ने एक स्वस्थ समाज के संगठन के लिए जन-जन में चेतना के नये आयामों को उड़ेला, और उन्होंने सामाजिक जीवन में कुछ ऐसे सिद्धांत रखे जिससे समाज को नया बल मिला। यही नहीं, उन्होंने धार्मिक विश्वासों में नई रोशनी प्रज्जवलित की।

उस समय जब कि देश अनाचार, अमानवता एवं असमानता के दौर से गुजर रहा था, धर्म के नाम पर जातिवाद के सवाल को उठाकर निम्न वर्गों का शोषण किया जा रहा था, संत रविदास जी एक सशक्त व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुए। उन्होंने सामाजिक वैशम्य, रूढ़ियों और अंधविश्वासों को देखकर निर्भीकता से कुठाराघात किया था। उनकी निर्भीकता इसी तथ्य से उजागर होती है कि वे नीच जाति चमार कुल में अपने जन्म की बात डंके की चोट पर कहते हैं। उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा किये जा रहे शोषण को चमत्कारिक ढंग से समाप्त किया था। एक बार चितौड़ के राणा ने समस्त राज्यों के बड़े-छोटे लोगों को भोज पर आमंत्रित किया। जब भोज तैयार हो गया तो सभी छोटे-बड़े पंक्तियां बना कर बैठने लगे। उस समय ब्राह्मणों ने आपत्ति की तथा बीच में बैठने से इंकार कर दिया। उन्होंने अपने लिये सूखे भोजन की मांग की थी। जब वह खाना बनाकर पंक्तियों में बैठकर खाने लगे तब प्रत्येक दो ब्राह्मणों के पश्चात् बैठा हुआ हर तीसरा व्यक्ति रविदास था। अतः रविदास के आगे उन ब्राह्मणों को झुकना पड़ा।

रविदास जी ने वर्ग-व्यवस्था और छुआछूत की तीव्र भर्त्सना करते हुए कहा-

रविदास जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच
नर को नीच करि डारि है, ओछे करम की कीच
रविदास जाति मति पूछई, का जात का पात
ब्राह्मण, खत्री, वैस, सूद सभन की इक जात।

अस्तु, उनकी चिंतन-प्रक्रिया समाज में ऊँच-नीच के प्रति आवाज उठाने में पूरी तरह से फलीभूत हुई है। रविदास जी ने जहाँ समाज में ऊँच-नीच के विरुद्ध आवाज उठाई वहीं हिंदू-मुस्लिम एक्य पर बल देते हुए कहा-

मंदिर मस्जिद दोउ एक है, इन महं अंतर नाहि
रविदास, राम, रहमान का झगड़उ कोई नाहि
रविदास हमारा राम जोई, सोई है रहमान
काबा कांसी जानी यहि दोउ एक समान।

अर्थात् मंदिर, मस्जिद दोनों में कोई भेद नहीं और न ही राम-रहीम में कोई झगड़ा है। काबा एवं काशी भी एक समान हैं। इस प्रकार वे हिंदू-मुस्लिम एकता के सशक्त पक्षधर थे।

यही नहीं, उन्होंने जहाँ 'आदम सभी समान' कह कर मानवीय एकता पर बल दिया था, उन्होंने जहां समाज में पनप रही बुराइयों की ओर देखकर आवाज उठाई, वहीं समाज में नैतिकता पर भी बल दिया। रविदास जी ने श्रम साधना की महत्ता का उल्लेख करते हुए श्रम का सीधा संबंध ईश्वर से बताया। उन्होंने श्रम को ईश्वर बताकर उसकी पूजा करने का आग्रह किया। उनकी दृष्टि में सुख और शांति प्राप्त करने का यही एक मात्र रास्ता है। गुरु रविदास जी ने श्रम को पाप-पुण्य के साथ जोड़ते हुए नेक कमाई बता कर उस पर आग्रहपूर्वक चलने के लिए कहा था। उनका वह मात्र संदेश ही नहीं था बल्कि स्वयं उन्होंने जूते गाँठ कर अपना निर्वाह करते हुए सामाजिक प्रगति के लिए आर्थिक पहलू पर भी विचार किया था। उन्होंने कभी भी अपना कार्य करने में किसी भी प्रकार की शर्म या हिचकिचाहट महसूस नहीं की।

कहा जाता है एक बार किसी साधु ने उन्हें एक पारस मणि लाकर दी और उनसे कहा कि वह जो भी उस से स्पर्श करेंगे वह वस्तु स्पर्श मात्र से सोना बन जायेगी। परंतु उन्होंने उसे पूछा तक नहीं। कुछ दिनों बाद जब वह साधु महात्मा फिर आये तो रविदास जी उसी प्रकार जूतियाँ गाँठ रहे थे। पारस मणि जहाँ पर रखी गई थी उसी तरह वहीं पर पड़ी मिली। रविदास जी की दृष्टि में ईमानदारी व मेहनत का सर्वोपरि स्थान था। उनके विचार से संतोष वृत्ति में ही परम सुख का मंत्र निहित है। इसीलिये वह कहते हैं:-

जो कोउ लौटे पर सुख, तऊ राखे मन संतोष
रविदास जहाँ संतोष है तहाँ न लागे दोष।

अतिरिक्त धन-संचय के विरुद्ध भी उनमें तीव्र प्रतिक्रिया देखने को मिली। धन-संचय के प्रति किसी प्रकार की लालसा का उनके हृदय में न होना ही उन्हें आम आदमी से ऊपर उठा कर संतों की पंक्ति में बिठा देता है। उन्होंने जन-मानस को मोह-माया के बंधन से मुक्त कराने के उद्देश्य से धन-संचय की दु:खों से तुलना की थी।

जहाँ तक उनके धार्मिक विश्वासों अथवा ईश्वर संबंधी विचारों का सवाल है, उनकी चिंतन प्रक्रिया साफ सुलझी हुई थी। रविदास जी गुरु रामानंदजी थे, जिन्होंने 'राम' शब्द का मंत्र रविदास जी को दिया था। गुरु रविदास जी के अनुसार 'राम' सर्वव्यापी हैं, वह हमारे रोम-रोम में बसे हुए हैं। उन्होंने एक जगह अपने पूरी तरह से समर्पण की बात भी कही है-जो राम घट-घट में रहता है, उसकी शरण में गुलाम की तरह पड़े रहने से ही उद्धार संभव है। यह वस्तुत: आत्मा की परमात्मा से मिलन की अंतिम दशा होती है। आत्मा को हर तरफ अपना प्रियतम, अपना भगवान दिखाई देता है। परमात्मा, जो कि उनके प्रियतम का रूप धारण कर गया है, चारों ओर वही नजर आता है।

संक्षेपत: गुरु रविदास जी की दृष्टि-बिंदु समाज के निम्न वर्गों से किये जा रहे शोषण को समाप्त करने में केंद्रित हुई है। उन्होंने तदयुगीन समाज में पनप रहे शोषण के आयामों तथा उससे जुड़े हुए प्रश्नों को हल करने के लिए धर्म एवं नैतिकता को आधार बनाया। उन्होंने जन सामान्य के जीवन से संबंधित जिन संदर्भों को उठाया उन्हें मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त थे। जीवन की समस्याओं को नई दृष्टि से देखते हुए उसके मूल कारणों को खोज कर उन्हें समाप्त करने के लिए नए प्रतिमानों को स्थापित किया था। तद्‌युगीन उलझे हुए विषादपूर्ण जीवन एवं खंडित मन:स्थितियों को सही तौर पर नई राह दिखाई थी। संत रविदास की प्रखर चेतना सामाजिक एवं धार्मिक चेतना के रूप में फलीभूत हुई थी। वस्तुत: उनकी वैचारिक गरिमा तथा सूक्ष्मदर्शिता, पूरी तरह से तात्कालिक पारस्परिक सामाजिक विरोधों तथा द्वन्द्वों को समाप्त करने में क्रियान्वित हुई। उन्होंने अपनी सशक्त वाणी के माध्यम से साम्प्रदायिकता के विषैले तत्त्वों का विरोध करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। सत्य, संतोष एवं सदाचार का अचूक मंत्र जनता को देकर संत रविदास जी ने एक नये विश्वास को उभारा। समाज आज भी उनका ऋणी है और सदैव रहेगा।

✧✧✧

रचनाकारों से विशेष अनुरोध

- कृपया अपनी मौलिक और अप्रकाशित रचना ही भेजें।
- कृपया अपनी रचना ए-4 आकार के पेज पर ही टाइप कराकर भेजें। ई-मेल द्वारा प्रेषित रचना यूनिकोड में टंकित करें या रचना के साथ टंकित फॉन्ट अवश्य भेजें।
- कृपया लेख, कहानी आदि एक से अधिक और कविता आदि दो से अधिक न भेजें अन्यथा निर्णय नहीं लिया जा सकेगा।
- रचना अनावश्यक रूप से लंबी न हो। शब्द-सीमा 3000 शब्दों तक है।
- रचना के साथ लेखक अपना संक्षिप्त जीवन-परिचय भी प्रेषित करें।
- रचना के साथ विषय से संबंधित चित्र अथवा कहानी के साथ विषय से संबंधित कलाकृतियाँ (हाई रेज्योलेशन) भी भेज सकते हैं।
- यदि संस्कृत के श्लोक अथवा उर्दू के शेर आदि उद्धृत किए गए हैं, वर्तनी को कृपया भली-भांति जांच लें।
- यदि फोटो कॉपी भेज रहे हों सुनिश्चित कर लें कि वह सुस्पष्ट एवं पठनीय हो।
- रचनाएं किसी भी दशा में लौटाई नहीं जाएंगी अत: प्रतिलिपि (फोटो कॉपी) अपने पास अवश्य सुरक्षित रखें।
- स्वीकृत रचनाएं यथासमय प्रकाशित की जाएंगी।
- रचना के अंत में अपना पूरा पता, फोन नंबर और ई-मेल पता स्पष्ट शब्दों में अवश्य लिखें।
- आप अपने सुझाव व प्रतिक्रिया कृपया pohindi.iccr@nic.in पर प्रेषित कर सकते हैं।

विवेकानंद का ऐतिहासिक शिकागो जयघोष

—सुभाष सेतिया

स्वामी विवेकानंद आधुनिक भारत के एक अनूठे महापुरुष हैं। उनके नाम के दोनों शब्द 'स्वामी' और 'विवेकानंद' उनके धर्मगुरू होने का आभास देते हैं किंतु वे परंपरागत दृष्टि से मंदिरों व मठों में रहने वाले धर्मगुरू नहीं बल्कि आध्यात्मिक एवं कर्मशील व्यक्ति थे, जिन्होंने दो-दो बार समूचे देश तथा विदेश का भ्रमण करके वेदांत, योग व भारत की आध्यात्मिक शक्ति का प्रचार-प्रसार करके हिंदू धर्म तथा भारत के प्रति दुनिया की दृष्टि बदल दी। विवेकानंद ने देश की स्वतंत्रता के लिए ब्रिटिश सेना के खिलाफ किसी संघर्ष या आंदोलन में भाग नहीं लिया, किंतु उनके चिंतन, कथन एवं कर्म में देशभक्ति की प्रबल भावना स्पष्ट झलकती है। उन्होंने अपने समय में प्रचलित सामाजिक दर्शनों में कोई रुचि नहीं दिखाई किंतु वे एक आदर्श समाजसेवी तथा समाजचिंतक थे। वे भारत की परंपराओं का पालन करते हुए भी उनके नकारात्मक पहलुओं का डट कर व खुल कर विरोध करते थे। स्वामी जी का अनूठापन यहीं तक सीमित नहीं है। उन्होंने ब्रिटेन में जाकर वहां के विद्वानों, पत्रकारों, राजनेताओं तथा बुद्धिजीवियों से मुलाकात की और उन्हें भारत की जनता के साथ उनकी सरकार द्वारा किए जा रहे अन्याय के प्रति सचेत किया। उस समय के सबसे आधुनिक व शक्तिशाली देश अमरीका में भगवा चोले में शहर-दर-शहर घूम कर वेदांत तथा भारतीय मूल्यों का डंका बजाया।

उस समय जब मार्क्सवाद तथा समाजवाद का भारत में किसी ने नाम ही सुना था, विवेकानंद ने महिलाओं की समानता तथा दलितों व आदिवासियों की समानता व उत्थान की बात की। संन्यासी होते हुए उन्होंने विज्ञान, उद्योग, आधुनिक शिक्षा, कृषि तथा आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता पर बल दिया। यही नहीं, उन्होंने संन्यासियों को मठों की चारदीवारी से बाहर निकल कर समाज सेवा की ओर उन्मुक्त होने की राह दिखाई। रामकृष्ण मिशन के माध्यम से उन्होंने धर्म को समाज कार्य से जोड़ दिया। ऐसे मौलिक अन्वेषी और विविध आयामों से ओतप्रोत देशभक्त संत की समानता यदि किसी अन्य आधुनिक व्यक्ति से करनी हो तो वे महात्मा गांधी ही हो सकते हैं। एक स्वामी और दूसरा महात्मा। उनके अनूठेपन का बड़ा प्रमाण यह

सम्पर्क: सी-302, हिंद अपार्टमेंटस, प्लाट नं.12, सेक्टर-5, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मो. 9910907662, ई-मेल: setia_subhash@yahoo.co.in

तथ्य भी है कि केवल 39-40 वर्ष की अल्पायु में गुलाम देश का एक भगवाधारी संत देश, विदेश के प्रसिद्धतम व्यक्तियों की सूची में शामिल हो गया। स्वामी विवेकानंद ने स्वयं केवल एक पुस्तक लिखी किंतु उनके व्यक्तित्व, कृतित्व एवं विचारों की व्याख्या करने वाली पुस्तकों की संख्या सैकड़ों में है और यह साहित्य विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में उपलब्ध है।

1893 में शिकागो की विश्व धर्म संसद में 11 सितंबर को दिया गया व्याख्यान उनके अनूठेपन को चरम सीमा तक ले जाता है। व्याख्यान से पहले प्रारंभिक संबोधन ने ही वहां उपस्थित विश्वभर के प्रतिनिधियों और अमरीकी श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। इस अद्वितीय अभिनंदन ने विवेकानंद के शिकागो व्याख्यान को ऐतिहासिक बना दिया। सामान्यत: यह माना जाता है कि स्वामी विवेकानंद विश्व धर्म संसद में हिंदू धर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिए गए। किंतु, वास्तव में यह उनकी देशभक्ति थी जो उन्हें विदेश में भारत की असली छवि प्रस्तुत करने को प्रेरित कर रही थी। वे जानते थे कि उस समय पश्चिम ही सारी दुनिया का सिरमौर है। वे चाहते थे कि पश्चिम के लोगों को भारत की वास्तविक सामर्थ्य से परिचित कराएं। उन्होंने सर्वप्रथम अपना यह विचार दक्षिण की यात्रा के दौरान मद्रास (चेन्नई) में अपने युवा शिष्यों के सामने बातों ही बातों में प्रकट किया। 1893 में हैदराबाद के महबूब कॉलेज में स्वामी जी ने बहुत ओजपूर्ण भाषण दिया जिसके बाद उनके शिष्यों को विश्वास हो गया कि स्वामी जी विदेश में भी प्रभावपूर्ण ढंग से व्याख्यान दे सकते हैं। इसी सभा में उन्होंने विदेश जाने की अपनी इच्छा की स्पष्ट चर्चा की।

उन्हीं दिनों खेतड़ी के महाराजा अजीत सिंह ने, जो स्वामी जी के परम भक्त थे और उत्तर भारत की उनकी यात्रा के दौरान उन्हें अपने महल में कई दिनों तक ठहरा चुके थे, स्वामी जी को किसी पारिवारिक समारोह के लिए अपने यहां आमंत्रित किया। खेतड़ी में ही उन्हें विवेकानंद नाम दिया गया और महाराजा ने उन्हें गेरुआ काषाय और पगड़ी पहनाई जो शिकागो यात्रा में उनका वेश बना। उन्होंने स्वामी जी की विदेश यात्रा खर्च के लिए पर्याप्त धन भी दिया। उनके प्रधानमंत्री स्वामी जी को विदा करने बंबई गए। मद्रास और हैदराबाद के उनके शिष्य भी धन लेकर बंबई पहुंच गए। 31 मई, 1893 को स्वामी विवेकानंद ने एस.एस.पेनुंसलर नामक जहाज से पश्चिम के लिए प्रस्थान किया।

आज भले ही हम शिकागो सम्मेलन में स्वामी विवेकानंद की भागीदारी को ऐतिहासिक और युगांतकारी घटना मान कर गौरवान्वित होते हैं किंतु यह जान लेना भी जरूरी है कि सम्मेलन में भाग लेने के लिए उन्हें किस-किस तरह के कष्टों व मानसिक क्लेश से गुजरना पड़ा। जैसे ही उनका जहाज एशिया को लांघकर पश्चिम के तटों पर पहुंचा तो ठंड बढ़ने लगी लेकिन उनके पास ऊनी कपड़े नहीं थे। जुलाई में स्वामी जी शिकागो पहुंचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि धर्म सम्मेलन सितंबर के दूसरे सप्ताह में होना है। अनजान और महंगे शहर में दो महीने तक रहने से उनका सारा पैसा खत्म हो जाने का डर था। सम्मेलन के कार्यालय से उन्हें यह भी पता चला कि सम्मेलन में भाग लेने के लिए उन्हें किसी विशिष्ट व्यक्ति का परिचय-पत्र लाना होगा, क्योंकि विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधियों का पंजीकरण पहले ही पूरा हो चुका है। वे अपेक्षाकृत कम महंगे शहर बोस्टन में रहने के लिए चले गए।

संयोगवश जिस रेलगाड़ी से वे बोस्टन गए उसमें उनके साथ की सीट पर एक वृद्ध महिला केट सनबोर्न उनसे बातें करके इतनी प्रभवित हुई कि वह उन्हें अपने घर पर ले गई। केट सनबोर्न ने वहां अपने कई मित्रों का स्वामी जी से परिचय कराया। अपनी विद्वता, ज्ञान और विनयशील स्वभाव से विवेकानंद सभी को मंत्रमुग्ध कर देते थे। वहीं स्वामी जी की भेंट हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जान हेनरी राइट से भी हुई जिन्होंने सम्मेलन की प्रबंध समिति के प्रमुख को, जो उनके परिचित थे, पत्र लिख कर विवेकानंद को प्रतिनिधि का दर्जा देने का अनुरोध किया। प्रोफेसर राइट ने उन्हें परिचय पत्र भी दिया और समिति के अध्यक्ष डॉ. जॉन हेनरी बैरोज़ का पता तथा उनके नाम अपना पत्र दिया। इससे स्वामी जी धर्म सम्मेलन में भाग लेने को लेकर निश्चिंत हो गए। वापस शिकागो पहुंच कर जब विवेकानंद ने प्रोफेसर बैरोज़ के पते का कागज़ निकालने के लिए जेब में हाथ डाला तो वो नदारद था। कागज़ कहीं गिर गया था। स्टेशन से उतर कर वे जिस इलाके से गुजर रहे थे वहां अधिकतर आबादी जर्मन लोगों की थी इसलिए कोई भी उनकी बात नहीं समझ सका और वे दिन भर भूखे-प्यासे इधर-उधर भटकते रहे। उनकी वेशभूषा देख कर आसपास से गुजरने वाले उन पर हंसते भी रहे। बैरोज़ का पता ढूंढते हुए रात हो गई और वे निराशा और चिंता के कारण किसी होटल का भी पता नहीं लगा पाए। अनजान राहों पर भटकते हुए आधी रात के समय वे स्टेशन के यार्ड में पहुंच गए। ऊपर से कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही

थी। स्वामी जी ने देखा कि यार्ड में लकड़ी का एक बड़ा बक्सा पड़ा है। मरता क्या न करता, वे उसी बक्से में घुस गए और वहीं उन्होंने सर्दी से ठिठुरते हुए रात बिताई। किसे पता था लकड़ी के बक्से में भूखा-प्यासा रात बिताने वाला यह भारतीय साधु दो दिन बाद धर्म सम्मेलन में धूम मचा देगा।

सुबह उठ कर वे हिम्मत करके फिर यात्रा पर निकले और एक संभ्रांत बस्ती में पहुंच गए। उन्होंने भारत में साधुओं की परंपरा के अनुसार भीख मांग कर पेट भरने का रास्ता चुना। लेकिन कुछ लोग उनका मजाक उड़ाते तो कुछ दुत्कार कर घर का दरवाजा बंद कर देते। अंत में हार कर वे गली के किनारे पर बैठ गए। अचानक सामने वाले मकान से एक महिला उनके पास आई और उनसे पूछा कि आप धर्म सम्मेलन में भाग लेने आए हैं? स्वामी जी ने हां में उत्तर दिया तो श्रीमती जार्ज-डब्ल्यू हेल नाम की वह महिला उन्हें आदर के साथ अपने घर में ले गई। स्वामी जी ने वहां स्नान किया, खाना खाया और आराम किया। जब श्रीमती हेल को स्वामी जी ने अपनी विषम स्थिति की जानकारी दी तो वह भद्र महिला स्वयं उन्हें धर्म सम्मेलन के कार्यालय में ले गई और आयोजकों ने प्रोफेसर राइट का परिचय-पत्र पाकर स्वामी जी को प्रतिनिधि के रूप में सम्मेलन स्थल में भाग लेने की अनुमति दे दी। उन्हें सम्मेलन स्थल पर रहने के लिए कमरा भी मिल गया। उस दिन 10 सितंबर, रविवार था और अगले दिन 11 सितंबर सोमवार को धर्म सम्मेलन का उद्घाटन होना था।

शिकागो के 'आर्ट इंस्टीट्यूट' में आयोजित धर्म सम्मेलन में सभी धर्मों के बड़े-बड़े नेता मौजूद थे। भारत से भी 4-5 पंजीकृत प्रतिनिधि सम्मेलन में भाग ले रहे थे। विवेकानंद किसी भी संगठन की ओर से मनोनीत नहीं थे। उद्घाटन सत्र के पश्चात् प्रतिनिधियों के व्याख्यान होने लगे। सम्मेलन के सभापति ने कई बार विवेकानंद का नाम पुकारा किंतु वे मना करते रहे। उन्हें हिम्मत नहीं हो रही थी क्योंकि सभी लोग अपने व्याख्यान तैयार करके आए थे और लिखित भाषण पढ़ रहे थे। सभापति के बार-बार आग्रह पर अंतत: शाम को स्वामी जी भाषण देने के लिए उठे।

सभा में बैठे असंख्य श्रोताओं पर नज़र दौड़ाने और कुछ पल मन ही मन गुरु और मां काली का स्मरण करने के बाद विवेकानंद ने अपने भाषण का प्रारंभ करते हुए अपनी ओजपूर्ण वाणी में कहा, ''सिस्टर्स एंड ब्रदर्स आफ अमेरिका!'' इससे पहले कि वे अगला वाक्य बोलते आत्मीयता और स्नेह से सिक्त इन पांच शब्दों ने सम्मेलन में उपस्थित सभी लोगों को रोमांचित कर दिया और समूचा सभाकक्ष तालियों की गड़गड़ाहट से गूंजने लगा। ऐसा आत्मीयतापूर्ण पारिवारिक संबोधन अमरीकावासियों के लिए एकदम नया अनुभव था। सभी श्रोता और वक्ता अपनी सीटों पर खड़े होकर 30 साल के इस युवा भारतीय संन्यासी का कई मिनट तक अभिनंदन करते रहे। स्वामी जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में भारत और हिंदू धर्म की महानता का बखान किया और कई उदाहरण और दृष्टांतों से अपना भाषण रोचकता के साथ प्रस्तुत किया। इसके बाद तो वे धर्म सम्मेलन के हीरो और सबसे लोकप्रिय वक्ता बन गए। जब भी आयोजकों को लगता कि श्रोता बोर हो रहे हैं और हाल से जाने लगे हैं तो वे स्वामी जी को बोलने के लिए बुला लेते और श्रोता अपनी सीटों पर लौट आते। 17 दिन के इस सम्मेलन में विवेकानंद ने कई बार व्याख्यान दिया किंतु उनका मुख्य भाषण 19 सितंबर को हुआ जिसका विषय था, 'हिंदू धर्म'। यह भाषण वे लिख कर लाए थे। इस विस्तृत भाषण में उन्होंने हिंदू धर्म की व्युत्पत्ति, विकास और बुनियादी सिद्धांतों की व्याख्या की। वेदांत दर्शन का विवेचन करके हुए उन्होंने निष्कर्ष दिया कि हिंदू धर्म सभी धर्मों में समन्वय की बात करता है।

शिकागो में किए गए जयघोष ने विवेकानंद को अमरीका का चहेता बना दिया। धर्म सम्मेलन के दौरान स्वामी विवेकानंद के बड़े-बड़े चित्र और बैनर सड़कों पर दिखाई देने लगे। सम्मेलन समाप्त होने पर जगह-जगह उनके व्याख्यान होने लगे। वेदांत और भारतीय चिंतन के लिए इस वातावरण को अनुकूल पाकर विवेकानंद ने वहां योग और वेदांत की शिक्षा प्रारंभ कर दी और अनेक शिष्यों को संन्यासी भी बनाया। कई विद्वान, प्रोफेसर और बड़े-बड़े कलाकार उनके भक्त बन गए। स्वामी जी की देशभक्ति, साहस और निष्पक्षता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि ईसाइयों के गढ़ अमरीका में विचरते हुए भी उन्होंने भारत में ईसाई मिशनरियों के कारनामों की खुल कर निंदा की। उन्होंने स्पष्ट कहा कि भारत को धर्म की नहीं, विज्ञान, राजनीति, प्रशासन और उद्योग की शिक्षा की आवश्यकता है। स्वामी जी की लोकप्रियता और सम्मान से केवल अमरीकी धर्माचार्यों को ही नहीं भारत के कुछ धर्म ध्वजों को भी ईर्ष्या हुई और उनके चरित्र हनन का अभियान चलाया गया। किंतु विवेकानंद के चरित्र, स्वभाव, व्यक्तित्व और चिंतन की श्रेष्ठता के सामने ये सभी ओछे प्रयास विफल हो गए। स्वामी जी चार वर्षों तक अमरीका और ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी देशों में घूमते

रहे और उन्होंने वहां अनेक आश्रम तथा योग केंद्र स्थापित किए। उनके बहुत से पश्चिमी शिष्यों ने भारत को अपनी कर्मभूमि बनाया और अपना जीवन वेदांत प्रचार तथा भारत सेवा को समर्पित कर दिया। मार्ग्रेट नोबल यानी भगिनी निवेदिता जैसी भारत भक्त महिला ब्रिटेन से यहां आई। वह विवेकानंद की मानसपुत्री कहलाई। उन्होंने पूर्णतया भारतीय नारी का जीवन जीया तथा स्त्री शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ देश के स्वतंत्रता संग्राम में भी भाग लिया।

शिकागो जयघोष स्वामी जी के जीवन का प्रस्थान बिंदु बन गया, जहां से उनकी भारत निर्माण की अजेय यात्रा प्रारंभ हुई। पश्चिम में मिली प्रसिद्धि से भारत में उनके सम्मान तथा स्वीकार्यता में एकाएक वृद्धि हो गई। पहले जो लोग उनका मज़ाक उड़ाते थे, वे उन्हें गंभीरता से लेने लगे। इस नई मान्यता से उनका आत्म-विश्वास दृढ़ हुआ और अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस का सपना पूरा करने के लिए उन्होंने रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और समाजसेवी संन्यासियों की समर्पित मंडली तैयार की। स्वामी विवेकानंद सचमुच अनूठे देशभक्त संत थे, जिन्होंने परंपरा और आधुनिकता, पूर्व और पश्चिम, धर्म और कर्म, संन्यास एवं समाज सेवा, अध्यात्म व विज्ञान को एक साथ साधते हुए देश-विदेश में नई चेतना का संचार किया जो शिक्षित-अशिक्षित, अमीर-गरीब, युवा-वृद्ध, पुरुष -नारी सबको एक साथ रास आई।

✦✦✦

जैसा मैंने देखा और समझा: अमेरिका में भारतीय संस्कृति

—आस्था नवल

विदेश में रहते ग्यारह वर्ष हुए हैं। कई इमारतें मेरे सामने बनी हैं। कई सड़कों के नाम मेरे सामने बदले गए हैं। कई प्रसिद्ध दुकानें मेरे सामने ही खुली हैं और कुछ बंद भी हुई हैं। कई छात्रों को हिन्दी पढ़ाई है। कई प्रवासी भारतीय, यूरोपीय परिवारों से मिली हूँ और कई नए मित्र बनाये हैं। मेरे दोनों बच्चों का देश, यह विदेश ही है। कुल मिलाकर यह कि इतना समय हो गया है कि अब इस देश यानि अमेरिका में नई नहीं रही। अब तो कई रास्ते भी याद हो गए हैं। पहले भारत ही अपना घर लगता था पर अब यहाँ भी घर लगने लगा है।

जब शादी के बाद भारत से विदा होकर अमेरिका आई थी, अपने हिस्से का भारत भी अपनी यादों में समेट कर लाई थी। फिर जब जब भारत जाती तब तब उसकी खुशबू अपने साथ लाती; कभी परिधान के रूप में तो कभी मिठाइयों के रूप में अमेरीका में बिखेरती रहती। मेरे हिस्से का भारत वो भारत था जो मैंने देखा और समझा। जीवन के पहले पच्चीस साल भारत में बिताए और जो भी सहेजा वो मेरी भारतीय संस्कृति थी। अमेरिका आकर उसी भारत को यहाँ बसाने की कोशिश में लग गई। यहाँ के अन्य प्रवासी भारतीयों से मिली तो पाया कि ठीक मेरी ही तरह वे भी अपने अपने हिस्से का भारत अमेरिका में बसाने की कोशिश में जुटे हैं। कुछ बड़े तो कुछ छोटे शहर वाले, कुछ गाँव और कस्बों वाले, कुछ भारत की आजादी के ठीक बाद से बसे हुए तो कुछ दस बीस-पचास साल से यहाँ रहते हुए। जो जब जहाँ भारत को छोड़कर आए थे, उसी भारत की याद को यहाँ जीवित किए हुए थे। वही याद वह अपनी आने वाली पीढ़ियों से भी बांटते गए और अमेरिका में भी बिखेरते रहे।

ऐसे सब अलग अलग उम्र, प्रांत, स्थान और समय के भारतीयों ने मिलकर जो भारत की छवि बनाई, उससे उत्पन्न हुई एक निराली अमरीकी भारतीय संस्कृति जिसे करीब से देखना का और उसका हिस्सा बनने का अवसर मुझे मिला। मोटे तौर पर तो भारतीय संस्कृति का डंका पूरे विश्व में बजता सब देख ही रहे हैं। भारतीय परिधान, भोजन, योग, संयुक्त परिवार, अध्ययन कि चर्चा तो हर जगह है ही। इसका विस्तारित रूप जो मैंने पिछले एक दशक में जाना उसी को आपके साथ सांझा करना चाहती हूँ।

सम्पर्क: 23042 Weybridge Sq, Ashburn, VA 20148, USA

शब्दकोष में संस्कृति शब्द का मेरा प्रिय अर्थ है, ''आचरणगत परम्परा''। एक निश्चित समाज में रहकर हमारा आचरण भी उसी जैसा हो जाता है। कुछ परम्पराओं का चलन हो जाता है। समय के साथ इसमें बदलाव भी आते हैं। पूरे अमेरिका में ऐसा होता है या नहीं इसका दावा तो नहीं कर सकती लेकिन यहाँ वही बता रही हूँ जैसा मैंने समझा है। सौभाग्यवश मैं शादी से पहले भी अमेरिका आ चुकी थी और वाशिंगटन डी सी, मैरीलैंड, वर्जीनिया, न्यू जर्सी, न्यूयॉर्क के साहित्यिक समाज से जुड़ चुकी थी। यह भी जान चुकी थी कि पूरे अमेरिका में हर वर्ष कई कवि सम्मेलनों का आयोजन होता है जिसमें कविता प्रेमियों की भीड़ जमा होती है। ऐसे ही एक सम्मेलन में मुझे भी भाग लेने का अवसर मिला था। अमेरिका में बसे हिन्दी कवियों की भी एक बड़ी दुनिया है। प्रवासी कवि छोटे बड़े आयोजनों में मिलते ही रहते हैं और प्रवासी लेखक कई ई-पत्रिकाओं में सहयोग भी देते हैं।

लेखन के कारण हर उम्र, हर प्रांत के प्रवासी भारतीय से मेरा मिलना हो चुका था। अपना भी कुछ परिवार यहाँ बसा था, ससुराल तो यहाँ था ही, पति ने स्नातक भी यहीं से किया था, इसलिए जल्द ही इस देश में मेरा भी सोशल सर्कल बन गया।

भारत से अमेरिका आकर लगा कि मैंने विदेश में भारत को करीब से जाना। मैं दिल्ली में ही पली -बड़ी, एक विशेष समाज में ही रही। भारत भ्रमण अवश्य किया लेकिन अलग अलग प्रांत की परंपराओं और खान पान को करीब से देखा केवल अमेरिका में। जरूरी नहीं कि सभी भारतीय मेरे जैसे हों लेकिन मैंने अपनी छोटी सी दुनिया को ही भारत जाना था। भारत अपनी संस्कृति में भी कितना वृहद है यह तो अमेरिका में ही जान पाई। बहुत जल्द अमेरिका में मेरी प्रवासी भारतीय दुनिया व्यापक हो गई।

व्यापक भारतीय संस्कृति का प्रथम परिचय मिला मंदिरों में। जब हम प्रवासी देश से दूर होते हैं, रिश्तेदारों और मित्रों के अभाव में होते हैं तो मंदिर, गुरूद्वारे, मस्जिद और चर्च में भागे चले जाते हैं। पूजा स्थलों में जाकर मन की शांति तो मिलती ही है। साथ में मिलते हैं नए रिश्ते। अमेरिका के साफ सुथरे मंदिरों में शनिवार-रविवार को विशेष रौनक होती है। दिल्ली में रहकर शायद ही रविवार के दिन मैं कभी मंदिर गई थी, लेकिन विदेश में आकर मंदिर जाना बहुत प्रिय लगने लगा। मेरे लिए और मेरे जैसे कई लोगों के लिए सबसे बड़ा कारण होता है मंदिर जाने का, अपने लोगों का मिलना, मेरे लिए दूसरा कारण था, अपने परिधान पहनने का अवसर मिलना। 'अपने लोगों' से अर्थ है अपने जैसों का दिखना। कोई बच्चा दिखा तो उसे प्यार से अपने पास बुला लिया, कोई बुजुर्ग मिला तो झुक कर नमस्ते कर दिया और उनके चेहरों में अपनी नानी-दादी की झलक देख ली। हम उम्र मिले तो इधर उधर की कुछ बातें कर लीं।

अधिकांश हर मंदिर में शनिवार या रविवार को भारतीय भाषाओं की कक्षायें होती हैं, भारतीय संगीत, भारतीय नृत्य भी सिखाया जाता है। इन कक्षाओं में ऐसे बच्चे भी आते हैं जो आधे भारतीय आधे यूरोपीय या रूसी या चीनी हैं। कई ऐसे बच्चे भी होते हैं जिनकी 'बेस्ट फ्रेंड' भारतीय होती है इसलिए वह अमेरिकन होते हुए भी भारतीय संगीत या नृत्य सीखना चाहते हैं। यहीं जन्मे हुए बच्चे जब कुच्चीपुड़ी, भरतनाटयम या कथक करते हैं तो भारतीय संस्कृति भी उन्हीं बच्चों के साथ खुशी से नाचती है। यहीं बड़े हो रहे बच्चे, जब तबला, हारमोनीयम या सितार बजाते हैं तो भारतीय संस्कृति अहलादित हो उनके साथ गा रही होती है। नन्हे बच्चे अमरीकन लहजे में जब विभिन्न भारतीय भाषाओं को बोलने का प्रयास करते हैं तब भारतीय संस्कृति मुस्कराती हुई, गर्वित होती नजर आती है। मैंने भी वर्जीनिया के दुर्गा मंदिर में छोटे बच्चों को हिन्दी पढ़ाई है और यहीं जन्मे बच्चों में अपनी संस्कृति के बीज धीरे धीरे फूटते देखे हैं।

जब मंदिरों की बात हो ही रही है, यह बताना ठीक होगा कि जैसे दूर दूर से लोग भारत भ्रमण में भारत के प्राचीन मंदिर देखने के लिए आते हैं वैसे ही दूर दूर से लोग अमेरिका में भी भारतीय मंदिर देखने आते हैं। अमेरिका में एक वृंदावन भी है जिसे न्यू वृंदावन के नाम से जाना जाता है। आपको वहाँ मोर नाचते हुए दिखेंगे, गाय चरती हुई दिखेंगी और अभारतीय लोग भारतीय परिधान में स्वयंसेवी के रूप में लंगर खिलाते दिखेंगे। हरे रामा, हरे कृष्णा गाते अभारतीय मूल के लोग न्यूयार्क की गलियों में आपको कभी भी दिखाई दे सकते हैं। श्री स्वामि

नारायण मंदिर अमेरिका के पाँच बड़े शहरों में बने हैं। वहाँ के युवा कार्यकर्ता भी यहीं पैदा हुए बच्चे हैं। चिन्मय मिशन हो या सदगुरू के शिविर हों, हर जगह आपको भारतीय संस्कृति को सीखते भारतीय और अभारतीय मूल के युवक युवतियाँ मिलेंगे।

मंदिरों के बाद मैंने देखे भारतीय त्यौहार जिसके लिए भारत प्रसिद्ध है। कई लोगों ने मुझसे अमेरिका में आश्चर्यचकित होकर पूछा है कि भारतीय सारे त्यौहार इतने जोर शोर से कैसे मनाते हैं! भारत में बीते अपने बचपन की याद करूँ तो त्यौहारों का आना सबसे अधिक प्रसन्न करने वाली याद है। यही याद यहाँ बसे हर प्रवासी भारतीय की है। जिसने जो जो त्यौहार जैसा मनाते देखा वह प्रवासी यहाँ भी वैसा करना चाहता है। इसीलिए यहाँ बसने वाले भारतीय हर त्यौहार मनाते हैं। जाति, प्रांत, धर्म के बंधन विदेश में खुल जाते हैं। हम सब पहले प्रवासी भारतीय होते हैं बाद में कोई और। इसीलिए भारत में मनाए जाने वाले हर त्यौहार को यहाँ पर अधिक धूम धाम से मनाते हैं। ईद की मिठाई हो या दीपावली की, गुरू पर्व की रौनक हो या गणेश चतुर्थी की, क्रिसमिस के तोहफे हों या होली के रंग, यहाँ सब एक से बिखरे हैं; ठीक भारतीय गणतंत्र की तरह धर्मनिर्पेक्ष।

यहाँ त्यौहार एक दो दिन के मोहताज नहीं हैं। यहाँ त्यौहार कई सप्ताह तक मनाए जाते हैं। सोम से शुक्रवार तक सब अपनी अपनी नौकरियों में बंधे होते हैं। इसलिए हर त्यौहार कई सप्ताहंतों तक चलते और मनते रहते हैं। प्रीति भोज की परंपरा यहाँ खूब देखने को मिलती है। समुदाय की भावना यहाँ अत्यधिक देखने को मिलती है। हमारे घर या हमारे किसी भी दोस्त के घर जब भी कोई त्योहार मनाया जाता है तो 8-10 परिवार एक साथ होते ही हैं। त्योहार चाहे भारतीय हों, उनमें हमारे अमरीकी पड़ोसी भी शामिल होते हैं। सभी परिवार कुछ न कुछ खाद्य पदार्थ बना कर लाते हैं, सुंदर भारतीय परिधान पहनते हैं और फिर जाने से पहले घर के काम में भी हाथ बंटाते हैं। मैंने अमेरिका में कई ऐसे भारतीय त्योहारों को मनाया जो दिल्ली में रहते हुए कभी देखे सुने भी नहीं थे। यहाँ मेरे कई पड़ोसी दक्षिण भारतीय हैं; वे हमसे हमारे त्योहार, तौर तरीके सीखते हैं और हम उनसे उनके त्योहार और रीति रिवाजों को जान रहे हैं। ऐसे में जो हमारे आस पड़ोस में रह रहे अभारतीय हैं वे भी इन त्यौहारों, परंपराओं को करीब से देख रहे हैं। कई लोग कुछ बातों को अपना भी रहे हैं। यदि पूरे अमेरिका की बात करूँ तो होली दीवाली और ईद को सब जानते हैं।

होली की लोकप्रियता सबसे अधिक है, होली का त्यौहार कई बड़े शहरों में बहुत बड़े मंच पर मनाया जाता है। भारतीयों से अधिक अभारतीय मूल के लोग इसमें शामिल होते हैं। ऐसे ही गरबा करते हुए भी आप अमेरिकी युवा युवतियों को देख सकते हैं।

अधिकांश हर बड़े विश्वविद्यालय में यहाँ भारतीय क्लब हैं जिनमें अभारतीय बच्चे भी सदस्यता ले सकते हैं। वे क्लब भारतीय त्यौहारों को मनाते हैं साथ ही भारतीय नृत्य और संगीत की प्रतियोगिता भी करते हैं। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ था जब एक एफ्रीकन अमेरिकी युवती से पंजाबी के प्रसिद्ध गाने के बोल सुने थे। उसने मुझे बताया था कि वह अपने कॉलेज की नेशनल भंगड़ा लीग की सदस्या है। बहुत आनंद आता है देखकर जब भारतीय परिधान पहन कर गैर भारतीय युवक युवती भारतीय संगीत पर थिरकते हैं।

भारत में जहाँ संयुक्त परिवार कम होते जा रहे हैं, अमेरीका में उनका विकास होता जा रहा है, यहाँ पर प्रवासी भारतीय बच्चे अक्सर अपने माता पिता को घर बुलाते हैं और प्यार से अपने साथ रखते हैं। बुजुर्ग माता पिता नाती-पोतों के साथ घुले मिले होते हैं। यहाँ आकर माता पिता भी बेटा-बेटी का भेद नहीं करते और दोनों के ही घर में सुख से रहते हैं। परिवार की महत्ता प्रवासी भारतीयों की नई पौध भी अच्छी तरह समझती है। जब परिवार दूर देश में हो, रिश्तेदारों की कमी खलती है। ऐसे में मित्रगण ही बच्चों के चाचा, मामा, मौसी, बुआ बनते हैं। यह भी भारतीय संस्कृति का ही तो प्रतीक है।

यहाँ बसे भारतीयों के बच्चों को पता होता है कि अपने से बड़ों को उनके नाम से नहीं बुलाना है। वह अपने आप ही दीदी, भईया और जी के संबोधन का प्रयोग करते हैं। जो प्रवासी कई दशकों से यहाँ हैं, उनके बच्चे भारतीय संस्कृति को सम्भालने वाले अमरीकी नागरिक हैं। उस पीढ़ी में गैर भारतीय मूल के लोगों के साथ विवाह का चलन खूब है। चाहे विवाह यूरोपीय से हो या अफ्रीकी से भारतीय मूल के माता पिता वाले बच्चे भारतीय विधि विधान से ही शादी करना चाहते हैं। भारतीय संस्कृति की प्रतीक, भारतीय शादियों को अमेरिका में सभी लोग बहुत पसंद करते हैं। अमेरिका में भारतीय फिल्में जितनी प्रसिद्ध हैं उतनी ही प्रसिद्ध हैं भारतीय शादी। शादी से पहले संगीत की रात, मेंहदी रात, भारतीय फिल्मों के गाने पर नाच, घोड़ी या हाथी पर बैठ कर दूल्हे का आना, ढोल का बजना आदि सब एकदम यश चोपड़ा की फिल्मों की तरह अमेरिका में किया जाता है। ऐसी एक बारात में मुझे भी शामिल होने का अवसर मिला था। लुईविल, केंटकी के बाजार से जब मेरे ममेरे ससुर के बेटे की बारात निकली थी तब बाजार में आए अमरीकी भी बारात में शामिल हो नाच रहे थे। गैर भारतीय लोग, हमारे कपड़ों की तारीफ करते नहीं थक रहे थे। कई लोग हमें बताने आए थे कि उन्होंने कौनसी हिन्दी फिल्म में ऐसी ही शादी देखी थी।

भारत की झांकी दिखाती भारतीय फिल्में यहाँ के सिनेमाघरों में लगती हैं। सिनेमाघरों में केवल भारतीय नहीं होते बल्कि अमरीकन भी होते हैं। ऐश्वर्या राय, शाहरुख खान आदि को सभी जानते हैं। अमरीकी डिस्को में अमूमन आपको एक या दो हिन्दी पंजाबी गाने भी सुनने को मिल ही जायेंगे। इतना ही नहीं जुम्बा नृत्य शैली यहाँ के जिम में बहुत प्रसिद्ध है, उसमे भी दो या तीन हिन्दी -पंजाबी गाने तो चलते ही हैं।

भारतीय योग का सिक्का तो पूरा विश्व मान ही चुका है। 'योगा स्टूडियोज' हर बड़े बाजार में मिल ही जाते हैं। मेरी यूरोपीय मूल की पड़ोसी हर रोज मुझे योग साधना सीखाती थी और अपने अंग्रेजी लहजे में योगासनों के हिन्दी नाम भी बताती थी।

भारतीय भोजन और परिधान भी अमेरिका में बहुत लोकप्रिय हैं। जब जब मैं अपने कार्यस्थल पर भारतीय परिधान में जाती हूँ तब तब बहुत से विदेशी छात्र और शिक्षक भारतीय परिधान के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करते हैं। भारतीय डिज़ाइन यहाँ पसंद किए जाते हैं इसलिए कई भारतीय प्रिंट वाले कुर्ते या स्कर्ट महिलाओं को पहने देखा जा सकता है। उसी तरह हर शहर में भारतीय भोजनालय भी होते हैं। 'भारतीय समोसा' तो अब अमरीकी फास्ट फूड और एपेटाइजर के रूप में बहुत पसंद किया जाता है और अमरीकी भोजनालयों में भी मिलता है। भारतीय फ्रोजन पराठें, चटनियाँ और यहाँ तक की दालें भी अमेरिकन स्टोर्ज में मिलने लगी हैं।

इन सबके साथ साथ शिक्षा का मूल्य भी प्रवासी भारतीय बच्चों में देखा जा सकता है। भारतीय बच्चे, जो सरस्वती वंदन करते हैं, और अमरीका में अपनी बुद्धि का प्रदर्शन कर रहे हैं। पिछले कितनी ही वर्षों से स्पेलिंग बी नामक प्रतियोगिता में भारतीय मूल के बच्चे ही उच्च स्थान ला रहे हैं।

मंदिरों से डिस्को तक, पाठशालाओं से योग शिविरों तक अमरीका में भारतीय संस्कृति के अंश मिल ही जायेंगे। जिस भारत का हिस्सा मैं अपने साथ लाई थी, वह पिछले ग्यारह सालों में एक विशाल भारत बन गया है। जब गर्भवती थी, डरती थी कि न जाने बच्चे कभी मेरे भारत को जान भी पायेंगे या नहीं। लेकिन अब वह डर निकल गया है। अमेरिका में भारतीय संस्कृति का विस्तृत रूप देख कर विश्वास हो गया है कि मेरे बच्चे और उन जैसे बच्चे इस संस्कृति का हिस्सा बनेंगे। समय के साथ बदलाव अवश्य आयेंगे पर भारतीय समाज की विशेषतायें उनमें सदा जीवित रहेंगी। ऐसा विश्वास है।

एक साथ चलने की सीख, उत्सव प्रियता, समुदाय में रहना, सांझा चूल्हा न सही, मिल जुल कर बनाना और छोटा बड़ा हर त्यौहार मनाना, परिवार की महत्ता, रिश्तों की कदर, बड़ों का आदर, अपनी भाषा की समझ, परिधान पर गर्व, भारतीय व्यंजन की महक, योग साधना और अध्ययन। ये सभी हमारी संस्कृति के प्रतीक है जो अमेरिका में भली भांति फलीभूत हो रहे हैं।

✦✦✦

ब्रिटेन में भारतीय संस्कृति

—दिव्या माथुर

केवल अतीत के माध्यम से ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक रूप से भी, हमारी कला, हमारा संगीत, थियेटर, डिजाइन तथा अन्य बहुत सी विधाओं के द्वारा ब्रिटेन और भारत के मध्य एक विशिष्ट संबंध सदा से रहा है, जिसका फैलाव पिछले दो दशकों में और भी सघन हुआ है और वह इसलिए भी कि भारतीय चाहे जहां भी जाकर बस जाएं, एक भरा-पूरा भारत उनके दिल में सदा जिंदा रहता है - भाषा, कला-संस्कृति, खान पान, तीज-त्यौहार और परम्पराएं - सदा उनके साथ रहती हैं। इस मामले में शायद पूरे विश्व में लंदन और इसके आसपास के इलाके ही ऐसी जगहें हैं जहां भारतीय संस्कृति ने ताबड़-तोड़ जड़ें पकड़ी हैं - जिधर भी देखिए, भारतीय भाषाएं, गायन-नृत्य और अन्य कलाएं सीखी-सिखाई जा रही हैं, भोजन की तो क्या कहें - भारत के किसी भी राज्य का भोजन आपको आसानी से मिल सकता है, हर मोहल्ले में ध्यान और योग की कक्षाएं लग रही हैं, सप्ताहांत पर मंदिर और गुरुद्वारे में लंगर लोकप्रिय हो चुके हैं, और अच्छे स्तरीय सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यक्रमों की ऐसी भरमार है कि कभी कभी तो यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि किसमें जाएं और किसे छोड़े।

एक जमाना था जब रेडियो और टीवी पर भारतीय संस्कृति से जुड़े कार्यक्रमों का अभाव था और केवल बीबीसी द्वारा प्रसारित हिंदी कार्यक्रमों को दुनिया भर में सुना जाता था, 70 के दशक में टीवी पर महेंद्र कॉल की प्रस्तुति 'नई जिंदगी नया जीवन' यूके में नए नए बसे भारतीयों द्वारा बेहद पसंद की गई। आजकल सनराइज-रेडियो पर रवि शर्मा और सरिता, नाटिंघम रेडियो पर डॉ निखिल कौशिक, सबरस और डाईवर्स रेडियो आदि पर हिंदी-उर्दू के रंगारंग कार्यक्रम सुने जा सकते हैं।

भारत-ब्रिटेन के संबंधों को मजबूत बनाने में न केवल स्थानीय संस्थाओं का एक बड़ा हाथ रहा है अपितु लंदन में भारतीय उच्चायोग, नेहरू केंद्र और भारतीय विद्या भवन जैसी संस्थाएं भारतीय संस्कृति का गढ़ रही हैं, जिनका भाषा, कला और संस्कृति के प्रचार और प्रसार में एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसमें कोई शक नहीं है कि 'नेहरू केंद्र भारत' और ब्रिटेन के संबंधों में एक सेतु का काम कर रहा है और मैं क्योंकि केंद्र से

सम्पर्क: लंदन, ब्रिटेन

एक लम्बे समय तक जुड़ी रही और जानती हूँ कि केवल थोड़े से प्रयत्न से इसकी क्षमता कितनी और बढ़ाई जा सकती है – समय समय पर कुछ विशिष्ट निदेशकों की नियुक्ति के दौरान यह साबित भी हो चुका है। इसके कार्यक्रमों में संसार के जाने माने विद्वान, वैज्ञानिक और बुद्धिजीवी भाग लेते हैं, बड़े-बड़े कलाकारों की प्रदर्शनियां लगती हैं, पुस्तकों का लोकार्पण, फिल्म-समारोह, समकालीन विषयों पर सेमीनार आदि का आयोजन होते रहते हैं। नृत्य और संगीत भारतीय संस्कृति का एक बड़ा अंग हैं तो ऐसे कार्यक्रमों की बहुतायत है और दर्शकों का रुझान भी इस ओर अधिक है।

1985-2006 के बीच लंदन में रहते हुए, अपने विस्तृत परिवार के अलावा, मुझे कभी दिल्ली की कमी नहीं खली और वो शायद इसलिए कि यहां भारतीय कला और संस्कृति की बहार बारह महीने छाई रहती है, विशेषत: मेरे लिए क्योंकि मैं भारतीय उच्चायोग-लंदन में कार्यरत थी और फिर 1992-2014 के बीच नेहरू-केंद्र-लंदन में, दोनों ही स्थानों पर भारतीय त्यौहार मनाए जाते थे अथवा स्थानीय संस्थाओं से निमंत्रण आ जाते और होली, दीवाली, नवरात्रि-समारोह आदि मजे में मन जाते। अब तो कई वर्षों से ब्रिटेन की संसद में दीवाली मनाई जा रही है, हिंदी एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन तो अब आम बात हो गयी हैं, ऐतिहासिक ट्रफालगर-स्क्वायर में प्रदर्शनियां और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में विश्व से आए पर्यटक भरपूर आनंद लेते हैं।

डॉ पवन वर्मा, गिरीश कर्नाड, प्रो इन्द्रनाथ चौधरी और मोनिका मोहता जैसे निदेशकों के जमाने में तो केंद्र में एक महीने में पच्चीस-पच्चीस सांस्कृतिक कार्यक्रम भी हुए। इस मामले में मैं अत्यधिक खुशकिस्मत रही कि अपने देश से दूर रहते हुए भी मुझे ब्रिटेन में एक मिनी-भारत में बसने का मौका मिला, जहाँ दिन रात कुछ न कुछ होता रहता। कभी कभी तो काम का प्रश्रय इतना अधिक हो जाता कि रात को घर जाने का भी मन नहीं होता था पर उसमें भी एक नशा था, जिसकी मैं आदि हो चली थी।

हाँ, 2005 में जब हम लंदन से 25 मील दूर हैमल-हैम्पस्टेड के एक छोटे से गांव में जा बसे तो एक बारगी तो लगा कि शायद हम विदेश में हों क्योंकि सिवा हमारे वहाँ कोई भी तो भारतीय नहीं था और न ही भारतीय खान-पान की चीजें, मसाले अथवा सब्जियां ही मिलती थीं किन्तु हमें तो हरियाली और दास्ताँ की दरकार थी। खैर, लंदन से नाता बना था और हम लोग कार्यक्रमों में भाग लेने यदा कदा हैरो, साउथ-हॉल अथवा वेम्ब्ली आदि जाते और ढेर सारे भारतीय मसाले, दाल-चावल, आटा और सब्जियां ले आते थे किन्तु सांस्कृतिक मेल-मिलाप की कमी खलती थी। अब तो दूर-दराज शहरों में भी हमारे सांस्कृतिक कार्यक्रम होने लगे हैं, पर बड़े शहरों की तरह नहीं। वही मांग और आपूर्ति का सिद्धांत!

पिछले वर्ष प्रधानमंत्री मोदी द्वारा ब्रिटेन और भारत के बीच सांस्कृतिक सहभागिता को मजबूती प्रदान करने तथा महान कलाओं के सृजन के लिए एक वर्ष तक चलने वाले कार्यक्रमों की घोषणा की गई, दर्शकों को प्रेरणादायी, आकर्षक तथा विविध प्रकार की कलाओं, संगीत, थियेटर, डिजाइन, प्रदर्शन कलाओं, फिल्म तथा साहित्य के आस्वादन के अवसर मिले। इस अवसर पर, प्रधानमंत्री डेविड कैमरन ने कहा, ''भारत और ब्रिटेन के बीच की महान सहभागिता आर्थिक सहयोग से परे 'द बोर्ड्स ऑफ द बार्ड' और 'द बीचेज ऑफ बॉलीवुड' तक जाती है। हमारे पास दुनिया भर के कुछ श्रेष्ठ संस्कृति निर्यातक हैं और यह समय है साथ मिलकर इसका उत्सव मनाने का।'' तो यह उत्सव साल भर चला और अभी तक चल रहा है,

समर्पित पुस्तक-मेलों के अलावा, ब्रिटिश लाइब्रेरी, विक्टोरिया ऐंड अल्बर्ट एवं ब्रिटिश म्युजियम्स आदि में मल्टी-मीडिया प्रदर्शनियों, रंगा-रंग कार्यक्रमों आदि के कारण भारत की बल्ले बल्ले हो रही है।

जहां तक भाषा का सम्बन्ध है, ब्रिटेनवासियों की हिन्दी के प्रति बहुत पहले से रुचि रही है। गिलक्राइस्ट, फोवर्स-प्लेट्स, मोनियर विलियम्स, केलाग होर्ली, शोलबर्ग ग्राहमवेली तथा ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने हिन्दीकोष व्याकरण और भाषिक विवेचन के ग्रंथ लिखे हैं। लंदन, कैंब्रिज तथा यार्क विश्वविद्यालयों में हिन्दी पठन-पाठन की व्यवस्था है। यहां से प्रवासिनी, अमरदीप तथा भारत भवन जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन होता रहा है, डॉ पद्मेश द्वारा स्थापित पत्रिका, पुरवाई का सम्पादन अब तेजेन्द्र शर्मा कर रहे हैं। हिंदी समिति यूके, वातायन पोएट्री, कथा यूके, गीतांजलि बहुभाषीय समुदाय और कृति यूके-बर्मिंघम, काव्यरंग-नॉटिंघम इत्यादि बहुत सी संस्थाएं हिंदी एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों से जुड़ीं हैं।

लंदन में भारतीय उच्चायुक्त डॉ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जी के लम्बे कार्यकाल में न जाने कितनी संस्थाओं ने जन्म लिया, जो हिंदी के प्रचार और प्रसार के लिए आज भी प्रतिबद्ध हैं। हममें से बहुतों ने हिन्दी में लेखन शुरू किया, मेरे पहले कविता संग्रह, अन्तःसलिला, की भूमिका सिंघवी जी लिखी, कितने ही पत्र और पत्रिकाओं की नींव पड़ी। एक तरह से ब्रिटेन में हिन्दी का एक मुहिम छिड़ा जिसने घर-घर में हिन्दी का डंका बजा दिया। उस समय नेहरु केन्द्र की स्थापना नहीं हुई थी और ऐसी कोई एक जगह नहीं थी कि जहाँ हिन्दी के कार्यक्रम नियमित तरीके से हो सकें किंतु सिंघवी दम्पति ने इसकी परवाह नहीं की, गोष्ठियाँ उनके अपने निवास, कैंसिंगटन गार्डंस में या भारत-भवन में होने लगीं। कब मैं उनके हिन्दी मुहिम में शामिल हो गई मुझे पता ही नहीं चलाय मुख्तलिफ पेशों से जुड़े लोग हिन्दी के लिए एक हो गए।

1992 में भारतीय उच्चायोग-लन्दन में श्री गोपालकृष्ण गांधी का आगमन निदेशक, नेहरु केंद्र-लन्दन एवं मंत्री (संस्कृति) के रूप में हुआ, उन्हीं की कृपा से मेरी नियुक्ति भी नेहरु केंद्र में हुई। मुझे याद है कि उन्होंने अपने प्रथम कार्यक्रम में ही तीसरे विश्व हिन्दी सम्मेलन में सुप्रसिद्ध कवियत्री सुश्री महादेवी के समापन भाषण का जिक्र किया था, ''भारत के सरकारी कार्यालयों में हिन्दी के कामकाज की स्थिति उस रथ जैसी है जिसमें घोड़े आगे की बजाय पीछे जोत दिये गये हों।'' इस सम्मलेन में एक प्रस्ताव भी पारित किया गया था कि विश्व के समस्त हिन्दी प्रेमी अपने निजी एवं सार्वजनिक कार्यों में हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग करें और संकल्प लें कि वे कम से कम अपने हस्ताक्षरों, निमंत्रण पत्रों, निजी पत्रों और नामपट्टों में हिन्दी का प्रयोग करेंगे किन्तु यह अभियान केवल नामपट्टों तक ही सीमित रह गया; पूरे उच्चायोग में आवेदन एवं टिप्पणियां भी केवल गांधी जी और मैं ही हिंदी में करते थे।

हिंदी के भविष्य को लेकर चिंता सभी को है, प्रवासी साहित्य के सामने जो चुनौतियां हैं उनको मद्देनजर रखते हुए मैं तो यही कहूंगी कि भारत प्रगति को देखते हुए हिंदी का भी भविष्य उज्जवल ही हो सकता है। भारतीय मूल के हजारों बच्चों अलावा विदेशी बच्चे-युवा भी हिंदी सीख रहे हैं। बहुत सी परियोजनाएं पाइपलाइन में हैं और सभी की प्रतिबद्धता हो तो क्या संभव नहीं है? आज जरूरी है कि अन्य कार्यक्रमों पर पैसा न लगा कर, यूके हिंदी समिति द्वारा संचालित हिंदी ज्ञान प्रतियोगिता जैसे शिक्षा सम्बंधित उपक्रमों को प्राथमिकता दी जाए, राष्ट्रीय पाठयक्रम बने, मंदिरों और गुरुद्वारों में पढ़ा रहे स्वयंसेवक-अध्यापकों को प्रशिक्षण दिया जाए।

भारतीय संस्थाओं के अतिरिक्त, कुछ ब्रिटिश संस्थाएं भी, जैसे कि ब्रिटिश कॉउंसिल, 'बिग लौटरी फण्ड', 'अवार्ड्स फॉर आल' आदि संघटन यहां के नागरिकों के बीच सौहार्द्र बढ़ाने हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं और मेरी खुशकिस्मती है कि उन्होंने मेरे द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित दो पुस्तकों - 'देसी-गर्ल्स: विदेश में बसी भारतीय महिलाओं द्वारा रचित कहानियां' एवं 'नेटिव सैंट्स: ब्रिटेन के भारतीय कवियों की रचनाओं का हिंदी एवं अंग्रेजी में अनुवाद' - की लागत भी वहन की किन्तु यह एक बहुत ही छोटी सी उपलब्धि थी, इनके पास तो मिलियन्स पाउंड तक की परियोजनाएं हैं जैसे की हाल ही में अकैडमी-साउथ एशियन डांस संस्था द्वारा गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' पर आधारित एक नृत्य-नाटिका की भारत और ब्रिटेन के कई शहरों में एक बड़ी प्रस्तुति। 'एशियन वीमेन ऑफ अचीवमेंट' जैसी संस्थाएं भी महिलाओं की उपलब्धियों को पुरस्कृत करके उन्हें प्रोत्साहन देती हैं।

भाषा एवं संस्कृति के वैश्विक-प्रचार में हिंदी सिनेमा के योगदान को रेखांकित किया जाता है। भारतीय सिनेमा ने ब्रिटेन में भी अभूतपूर्व लोकप्रियता हासिल की। भारतीय सिनेमा ने 11वीं सदी की शुरुआत से ही विश्व के चलचित्र जगत पर गहरा

प्रभाव छोड़ा है। भारतीय प्रवासियों की बढ़ती संख्या की वजह से अब अमरीका और यूनाइटेड किंगडम भी भारतीय फिल्मों के लिए एक महत्वपूर्ण बाजार बन गए हैं। भारतीय फिल्में डीवीडी या व्यावसायिक रूप से संभव जगहों में स्क्रीनिंग के माध्यम से प्रदर्शित होती हैं। आज के दौर में यहां अब बॉलीवुड पर आधारित फिल्म-समारोह हो रहे हैं, ब्रिटिश फिल्म इंस्टिट्यूट, नेशनल फिल्म थिएटर के अलावा बहुत सी अन्य संस्थाएं जैसे कि टंग्स-ऑन-फायर, साउथ एशियन सिनेमा फाउंडेशन, इंडियन फिल्म फेस्टिवल आदि भी पीछे नहीं रही हैं। इसके अलावा भारतीय सिनेमा में संगीत भी राजस्व का एक साधन है।

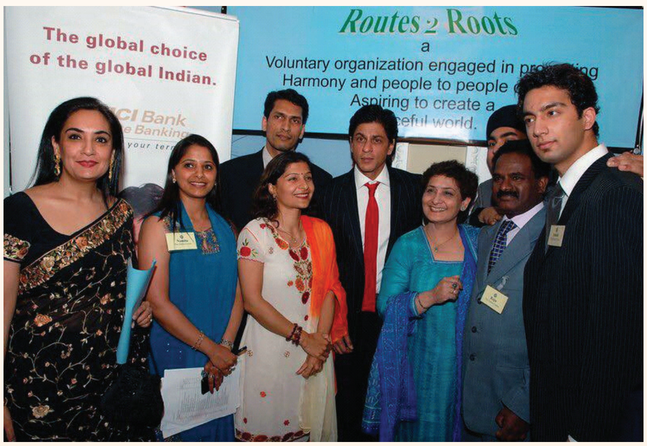

भारतीय भोजन के तो सभी दीवाने हैं। भारतीय भोजन के प्रचलित हो जाने के कारण बहुत सी भ्रांतियां टूट रही हैं जैसे कि भारतीय शाकाहारी होते हैं। पहले तो विदेशी भारतीय भोजन के लिए भोजनालयों में जाया करते थे किन्तु अब वे अपने घरों में स्वयं पकाने लगे हैं। बड़े जगह जगह मिशलिन-स्टार भोजनालय खुल गए हैं - बनारस, जिमखाना, कार्डामम, टेमारिंड, अमाया, क्विलोन आदि जहां की खिचड़ी के दाम भी आसमान छूते हैं तो दूसरी ओर यहां की हाई-फाई जीवन शैली में सस्ते और फास्ट-फूड का अपना ही महत्व है, साउथ-इंडियन अथवा गुजराती थाली भी प्रचलित है, जिसमें तरह तरह की सब्जियां दाल-चावल, अचार, रायता, पापड़ और मीठा परोसा जाता है। इसके अलावा चाट पकोड़ी, दही बड़े, भेल पूरी, इडली-डोसा-साम्भर - यानि भारत के लगभग सभी राज्यों का भोजन आपको यहां उपलब्ध है। अब तो आयुर्वेदिक थाली भी काफी प्रचलित हो रही है।

भारतीय वैकल्पिक इलाज - आयुर्वेदिक और होम्योपैथिक - का प्रचलन भी यहां बढ़ा है। बहुत से चिकित्सकों का बोलबाला है, मान्यताप्राप्त चिकित्सालय खुल गए हैं, जड़ी-बूटी, प्राकृतिक श्रृंगार प्रसाधन, जैविक खाद्य पदार्थ, मसाले, चाय और शहद आदि का सेवन अब सामान्य होता जा रहा है। यहां के बहुत से चिकित्सक वैकल्पिक दवाएं लेने का सुझाव भी देते हैं।

सप्ताहांत पर मंदिर, मसजिद, गुरुद्वारे आज भी भर जाते हैं, जहां परोपकारी लोग एवं संस्थाएं स्वादिष्ट भोजन मुफ्त में उपलब्ध कराती हैं। इन जगहों पर भारतीय भाषाएं, संगीत एवं नृत्य आदि भी सिखाए जाते हैं। इसके अलावा, यहां नियमित सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन भी होता है। जहां धार्मिक गुरुओं का चलन कम हुआ, वहीं हर मोहल्ले में योग-केंद्र खुल गए हैं, जहां स्थानीय निवासी हफ्ते में दो बार योगासन सीखते हैं। बच्चों की एकाग्रता के लिए कई स्कूलों में ध्यान और योग सिखाया जा रहा है। शान्ति, समरसता, स्थिरता और सचेतनता के लिए यहां अनेक रिट्रीट्स हैं, कुछ तो पचासियों साल पुराने हैं। हैम्पशर में स्थित कृष्मूर्ति सेंटर में मैं भी तीन दिन रही, मेरे लिए जो एक असाधारण अनुभव था।

इस प्रकार मैं आज भी ब्रिटेन में भारत और भारतीय संस्कृति को जी रही हूँ।

✦✦✦

चीन में हिंदी एवं भारतीय संस्कृति

—नवीन चंद्र लोहानी

ह्वेनसांग, फाहयान, लूसुन, माओ के चीन में हिंदी और भारत की सांस्कृतिक पहचान निरंन्तर सबल हो रही है। महात्मा बुद्ध, के सर्वाधिक अनुयाइयों का देश चीन। रवींद्रनाथ टैगोर के प्रेमियों का देश चीन। यहां एक ओर हिंदी सीखने और भारतीय परम्पराओं और संस्कृति को जानने समझने की उत्कंठा बढ़ी है वहीं अनेकानेक सांस्कृतिक आयोजनों और फिल्मों ने भी भारतीय समाज के बारे में चीन वासियों के दिलों में नई जगह बनाई है। इन दिनों भारत-चीन के संबंधों के सकारात्मक विकास के साथ-साथ उसके भारतीय समाज के बारे में जानने की ललक ने दोनों देशों के बीच विश्वास की संभावनाओं को तीव्रता दी है। इसमें चीन में हिंदी अध्ययन को मिले उत्साद्धवर्धक परिणाम उसकी संभावनाओं को और गति दे रहे हैं।

चीन में अब हिंदी अध्ययन बढ़ रहा है, उसका कारण चीन का एक ऐसा पड़ोसी देश होना है जो परम्परागत संस्कृति और विकास में अनेक रूपों में यूरोप, अमेरिका से अधिक भारत के समान है। चीन का समाज भी भारतीयों के लिए जिज्ञासा का विषय है किंतु भारत में समकालीन चीन और उसकी समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा को लेकर बहुत कम जानकारी हैं पड़ोसी देश होने के बाद भी चीन और भारत के नागरिकों के बीच इतिहास, संस्कृति, परंपरा, साहित्य, समाज को लेकर काफी कम जानकारी है, इस कार्य में हिंदी भाषा एक पुल का काम कर सकती है।

इधर उद्योग-व्यापार के संबंध विकसित हुए हैं। अब भारतीय और चीनी समुदाय को आपस में अधिकाधिक सांस्कृतिक पर्यटन को विकसित करना चाहिए, इससे दो पुरातन संस्कृति वाले समाजों में आपसी सौहार्द्र प्रबल होगा। इसमें प्रवासी भारतीयों की विभिन्न शहरों में बनी संस्थाएं, भारत एवं चीन की अनेक व्यावसायिक, व्यापारिक संस्थाएं भी सहयोगी हो सकती हैं।

भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी एवं उनके मंत्रिमंडल के सहयोगियों ने चीन यात्रा में अनेक अवसरों पर हिंदी में भाषण देकर अपनी भाषा के प्रति सम्मान रखने वाले चीनी समाज को

सम्पर्क: ई-मेल: nclohani@yahoo.co.in

सकारात्मक संदेश दिया है। दूतावास और कौंसलावासों में भी सितंबर में भी प्रतिवर्ष हिंदी दिवस एवं जनवरी में विश्व हिंदी दिवस का आयोजन भी किया जाता है। इससे हिंदी प्रयोग के प्रति प्रवासियों और विदेशी लोगों में गंभीरता आई है।

यद्यपि चीन में हिंदी अध्यापन 1942 में युन्नान प्रांत के ओरिएंटल कॉलेज से प्रारम्भ हो गया था परंतु अब चीन के सभी प्रमुख भाषा अध्ययन संबंधी 15 विश्वविद्यालयों में हिंदी अध्ययन हो रहा है। यहाँ स्नातक, स्नातकोत्तर और पीएच.डी. स्तर पर भी अध्ययन हो रहा है। चीन में सबसे अधिक विद्यार्थी सियान विश्वविद्यालय में हैं जहाँ 82 विद्यार्थी स्नातक कक्षा में हिंदी अध्ययन मुख्य विषय के रूप में कर रहे हैं तथा 8 एम. ए. स्तर में हैं। चीन में सभी विश्वविद्यालयों में हर साल सभी कक्षाओं में नए प्रवेश नहीं होते, हिंदी में कुछ विश्वविद्यालय दो साल में नए प्रवेश लेते हैं कुछ चार वर्ष में। हिंदी पाठयक्रमों में प्रतिवर्ष लगभग 100 से अधिक विद्यार्थी प्रवेश ले रहे हैं। इस समय चीन में चार विश्वविद्यालयों में हिंदी में एम.ए. स्तर पर शिक्षा दी जा रही है। ये हैं शंघाई अंतरराष्ट्रीय अध्ययन विश्वविद्यालय, शंघाई, पीकिंग विश्वविद्यालय, बीजिंग, बीजिंग अंतरराष्ट्रीय अध्ययन विश्वविद्यालय तथा सियान विश्वविद्यालय,सियान। चीन में इस समय पंद्रह विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जा रही है, इनमें शंघाई अंतरराष्ट्रीय भाषा विश्वविद्यालय शंघाई, पीकिंग (बीजिंग) विश्वविद्यालय, विदेशी भाषा अध्ययन विश्वविद्यालय पीकिंग (बीजिंग), जनसंचार विश्वविद्यालय बीजिंग, शीआन अंतरराष्ट्रीय अध्ययन विश्वविद्यालय, युन्नान अल्पजाति विश्वविद्यालय, क्वांगतुंग विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, लुओयांग विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, सेंचेंग विश्वविद्यालय, सीक्यांग शैक्षेणिक विश्वविद्यालय, ग्वंग्दोंग विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय, युन्नान मिंजु विश्वविद्यालय, तेंजिंग विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय, तिब्बती मिंग्जु विश्वविद्यालय, सीख्वा विश्वविद्यालय, सीयान विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय आदि प्रमुख हैं। भविष्य में और स्थानों पर हिंदी विभाग प्रारम्भ होने की सम्भावना हैं। इस समय चीन में तीन विश्वविद्यालयों शंघाई अंतरराष्ट्रीय अध्ययन विश्वविद्यालय, शंघाई, पीकिंग विश्वविद्यालय, बीजिंग तथा फूदान विश्वविद्यालय, शंघाई में संस्कृत भी पढ़ाई जा रही है। पीकिंग एवं फूदान विश्व विद्यालय मे संस्कृत कई दसकों से पढ़ाई जा रही है जबकि संस्कृत अध्ययन सिसु में 2017 से प्रारम्भ हुआ है।

चीन में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद ने चार विश्वविद्यालयों शंघाई अंतरराष्ट्रीय भाषा विश्वविद्यालय शंघाई, पीकिंग (बीजिंग) विश्वविद्यालय, सेंचेंग विश्वविद्यालय, ग्वंग्दोंग विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय में हिंदी चेयर स्थापित हैं।

चीन स्थित भारतीय दूतावास एवं कौंसलावास प्रमुखता से भारतीय संस्कृति के उन्नयन एवं हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने में निरंतर आयोजन करते रहते है। हाल ही में भारत की विदेश मंत्री सुषमा स्वराज द्वारा भी बीजिंग में एक सेमिनार में चीन में हिंदी अध्यापन कर रहे शिक्षकों ओर विद्यार्थियों को हिंदी प्रयोग हेतु चीन में चल रही गतिविधियों को सराहा और उन्हें और अधिक सहयोग और समर्थन देने की घोषणा की।

चीन में हिंदी अध्यापन का प्रारम्भ पीकिंग विश्वविद्यालय में स्वतंत्रता पूर्व से हो गया था, पीकिंग विश्वविद्यालय में पांचवे–छठे दशक में हिंदी शिक्षकों में प्रोफ. ची श्ये लिन, प्रोफ. चिंतिन्हाँ, प्रोफ. यिन, प्रोफ. ल्यो आन वू ने कई महत्वपूर्ण कार्य किए। प्रोफे. यिन ने हिंदी–चीनी शब्दकोश, हिंदी व्याकरण रूसी से चीनी में बनाया। प्रोफे. वू का हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रोफे हान का हिंदी चीनी मुहावरा कोश विशेष महत्व का है। इस कालावधि में संस्कृत और हिंदी की अनेक प्रमुख रचनाओं का हिंदी में अनुवाद हुआ। पूर्व में रामायण, महाभारत सहित हिंदी की महत्वपूर्ण रचनाओं का हिंदी में अनुवाद रूसी से हुआ। चीन में संस्कृत एवं हिंदी से चीनी में अनुवाद लम्बे समय से चल रहा है। इनमें ऋग्वेद, अथर्वेद ही नहीं कालिदास की रचनाओं अभिज्ञान शाकुंतलम, विक्रमोर्वशीयम, पंचतंत्र एवं संस्कृत भाषा अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ भी शामिल हैं और हिंदी में तुलसी, सूर, कबीर से लेकर प्रेमचंद, जैनेंद्र, यशपाल आदि की अनेक रचनाएं हैं। पहले ये अनुवाद अंग्रेजी में अनूदित ग्रंथों से हुए, परंतु अब हिंदी से चीनी में अनुवाद हो रहे हैं और इसका यह भी एक कारण है कि अब चीन के विश्वविद्यालयों अध्यापन करने वाले अधिकांश चीनी मूल के ही लोग अधिक हैं जिनमें अनुवाद कार्य कर भी रहे हैं।

यहाँ हिंदी रचनाओं के चीनी में अनुवाद को 70 वर्ष से चल रहा है। सन 1962 तक रामचरित मानस, सूरसागर, कामायनी, हिंदी साहित्य के इतिहास, भारतीय संस्कृति और इतिहास विषयक अनेक महत्वपूर्ण रचनाओं के अनुवाद हुए। 1962 चीन–भारत युद्ध के बाद सांस्कृतिक और साहित्यिक कार्यक्रमों में भी कमी

आई और अनुवाद कार्य बहुत कम हुआ। 1980 के बाद अनुवाद कार्य तेजी से आगे बढ़ा। 2005 के बाद अब हिंदी से चीनी में सीधे अनुवाद की संख्या बढ़ी है। इस समय चीन में हिंदी अध्यापन से जुड़े लगभग 30 से 40 शिक्षक चीनी से सीधे हिंदी में अनुवाद कर रहे हैं। पीकिंग विश्वविद्यालय के दक्षिण एशिया अनुसंधान केंद्र प्रोफेसर च्यांग खुवई के नेतृत्व में हिंदी से चीनी में अनुवाद के कार्य चल रहे हैं। अनेकानेक महत्वपूर्ण रचनाओं जैसे सूरसागर, कबीर दोहावली, गोदान, भारतेंदु के नाटक, जयशंकर प्रसाद की चयनित रचनावली, मृगनयनी, दीपदान, दीपशिखा, शेखर एक जीवनी, तमस, मैला आंचल, अंधेरे बंद कमरे, रागदरबारी, परिंदे, आपका बंटी, एक सड़क सत्तावन गलियां, रेहन पर रग्घू सहित अन्य अनेक साहित्यिक रचनाओं का हिंदी में अनुवाद हो रहा है। भविष्य में चीन के विश्वविद्यालयों में हिंदी अध्ययन हेतु एक आदर्श एकरूप पाठयक्रम निर्माण के लिए भी हिंदी पाठयपुस्तकों के निर्धारण का कार्य हो चल रहा है।

वर्तमान में चीनी-हिंदी महाशब्दकोश का कार्य चल रहा है, यह हिंदी से बन रहा है, पूर्व में निर्मित चीनी हिंदी शब्दकोश रूसी शब्द्कोष के सहयोग से बना था। इसके लिए अलग- अलग शिक्षक समूह में काम कर रहे हैं। चीन में हिंदी शिक्षकों की चौथी पीढ़ी हिंदी साहित्य, भाषा, मीडिया और भाषावैज्ञानिक विषयों में गहरी रुचि ले रहे हैं।

वर्ष 2017 अक्टूबर-नवम्बर में चीन के पेकिंग विश्वविद्यालय में दो संगोष्ठियां हुई। एशिया और यूरोप में हिंदी की स्थिति के विषयक इन गोष्ठियों में आयोजन भाषा हिंदी ही थी। अब चीनी नवयुवकों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो रहा है जो हिंदी अध्ययन को केवल भाषा या साहित्य का अध्ययन मात्र नहीं मानता, वह इसे दो देशों की सांस्कृतिक विरासत और भारतीय इतिहास को समझने के लिए दरवाजा समझता है। इसलिए यहां कहा गया कि भारत को समझना है तो उसे हिंदी से समझा जा सकता है, अंग्रेजी से नहीं क्योंकि वह भारत है इंडिया नहीं है।

लगभग पिछले डेढ़ वर्ष में शंघाई में रहते हुए मैंने देखा कि चीन में प्रमुख शहरों में भारतीय सांस्कृतिक गतिविधियां बढ़ रही है। शंघाई में वैश्विक सांस्कृतिक गतिविधियां बहुत तेजी से चलती हैं। यहां दुनिया भर के लोग रहते हैं और चीन में संभवत: यह विशेष शहर है जिसे दुनिया के नक्शे पर सबसे तेजी से विकसित हो रहे शहर आर्थिक और सांस्कृतिक शहर के रूप में देखा जा सकता है यहां दुनिया भर के लोग सक्रियता से अपनी सांस्कृतिक गतिविधियां जारी रखते है। कविताओं, नाटकों, संगीत समारोहों की यहां भरमार हैं, अनेक देशों के प्रतिमाह अनेकानेक सांस्कृतिक आयोजन होते हैं। चीन का परंपरागत संगीत बहुत समृद्ध है। भारत की भांति प्राचीन सभ्यता होने के कारण यहां के अनेक वाद्ययन्त्र विरासत के हिस्से हैं। पर यहां आधुनिक संगीत को भी बहुत समृद्ध बनाया जा रहा है। भारत की अनेक संस्थाओं द्वारा यहाँ वर्ष भर आयोजन किए जाते हैं।

भारत में विविधता में एकता है, यह बात भारत के बाहर रहते हुए एक नए बोध के साथ जागती है। शंघाई में भारत के लोगों के अनेक मंच हैं और विविध कार्यक्रमों से स्थानीय एवं क्षेत्रीय भाषाओं, परंपराओं और सांस्कृतिक विविधताओं को प्रस्तुत कर वे एक दूसरे को जोड़ते हैं।

शंघाई रंगमंच के कलाकारों द्वारा अप्रैल 2017 में मोहन राकेश के नाटक ''आषाढ़ का एक दिन'' का मंचन किया और इस 10 जून 2018 को गिरीश कर्नाड द्वारा लिखित नाटक ययाति का नाट्कीय पाठ किया। ''चौती'' संस्था द्वारा 2-8 जून के बीच शंघाई, नैंचिग और सूचौ में नृत्य, संगीत और गायन के हृदय की गहराईयों तक डुबा देने वाले प्रस्तुतीकरण से भारतीय नृत्य- संगीत प्रेमियों को भावविभोर कर दिया। कुचिपुड़ी के सितारे वैजयंती काशी और प्रतीक्षा काशी जब चीनी नृत्यांगना लुलु वांग के साथ थिरके तो भारतीय नृत्य की वैश्विक धमक साफ सुनाई दी। तीनों के एकल, युगल और सामूहिक नृत्य में भारतीय महानायक कृष्ण को यशोदा के खेलते और लीला करते भी देखा। इसके बाद सितार के आलापों और राग प्रस्तुतियों से निकलकर गजल, गीतों से होते हुए भारतीय मर्म को ''वैष्णव जन तो तैने कहिए जे पीर पराई जाणे रे'' गाकर उस्ताद शुजात खान ने चीन को भारत का संदेश भी पहुंचाया। विभाकर चौधरी और अमित चौबे तबले पर ऊंगलियों के साथ संगीत प्रेमियों की भावनाओं को नचाते रहे।

भारतीय सांस्कृतिक गौरव के अमर गायक एवं भारतीय साहित्य के प्रमुख रचनाकार गुरूदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर के जन्मदिन के कार्यक्रम के कारण सोमवार 7 मई का दिन शंघाई में विशेष रहा। पहली बार शंघाई में चीनी साहित्यकार लुसून के नाम पर बने पार्क में रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्मदिन मनाया गया।

इस अवसर पर भारतवासियों के साथ ही भारी संख्या में चीनी नागरिकों ने रवीन्द्र नाथ टैगोर के गीतों का आनंद लिया।

विश्व योग दिवस भी चीन में महत्वपूर्ण आयोजन बन रहा है। एक साथ हजारों योगप्रेमी माह भर चलने वाले आयोजनों में भाग लेते हैं। भारत के दूतावास और कौंसलावासों द्वारा चीन में प्रतिवर्ष दर्जनों योग कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। शंघाई क्षेत्र में पूरे माह भर चलने वाले योग कार्यक्रमों को वूई से इस बार भारतीय कौंसलावास शंघाई के प्रमुख अनिल कुमार राय ने शुरूआत की। शंघाई के भारतीय कम्यूनिटी के कार्यक्रमों में यह विविधता में एकता अधिक जीवंत हो जाती है, जहां चीन के कलाकार भी भारतीय कार्यक्रमों के सहभागी बन जाते हैं।

भारतीयों की प्रमुख संस्था ''इंडियन एसोशिएशन'' शंघाई में कौंसलावास के मिलकर अनेक सांस्कृतिक-सामाजिक आयोजन वर्ष भर करती रही है जिनमें खेल, रक्तदान शिविर के साथ-साथ विविध सांस्कृतिक आयोजन प्रमुख हैं। इस वर्ष गायक कैलाश खेर की प्रस्तुति विशेष सराही गयी। इसके साथ ही मराठी, बांग्ला, तमिल, पंजाबी भाषियों की संस्थाओं द्वारा सांस्कृतिक आयोजन किए गए। भारतीय मनीषा की अनेक सांस्कृतिक रचनाओं जैसे गीता, रामचरित मानस सहित अनेक मद्धत्वपूर्ण ग्रंथों के पाठ चर्चा आयोजन करने वाली संडे गीता क्लास भी भारतीय संस्कृति प्रचार का कार्य कर रही है।

शंघाई कौंसलावास द्वारा राष्ट्रीय पर्वों के साथ साथ अनेक सांस्कृतिक आयोजन अनेक अवसरों पर वर्ष भर हुए, जिनमें हजारों चीनी दर्शकों ने भी प्रतिभागिता की।

भारत की फिल्में चीनी समाज को आकर्षित कर रही हैं, अब चीन में हिंदी फिल्मों की मांग लागातार बढ़ रही है पिछले वर्षों में बजरंगी भाईजान, पीके, हिंदी मीडियम, सीक्रेट सुपरस्टार, थ्री इडीयट्स, दंगल, टाइलेट एक प्रेमकथा फिल्में यूरोप और अमेरिका से अच्छा व्यवसाय कर रही हैं। यह देश की आर्थिक प्रगति के लिए सुखद है ही, इससे चीन-भारत के संबंधों में नजदीकी आएगी। सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाओं के साथ ही अनेक विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग ही नहीं अन्य विद्यार्थी भारत के महत्वपूर्ण उत्सव चीनी और अन्य देश के नागरिकों के साथ मनाते हैं।

✦✦✦

जापान में भारतीय संस्कृति

—सुरेश ऋतुपर्ण

जापान में भारतीय संस्कृति के संदर्भ में ध्यान रखने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ भारतीय संस्कृति, प्रवासी भारतीयों द्वारा नहीं ले जायी गयी जैसे कि हम मॉरीशस, गयाना, ट्रिनीडाड, सूरीनाम या फीजी देशों में पाते हैं। वस्तुतः जापान में भारतीय संस्कृति का आगमन बौद्ध धर्म के माध्यम से हुआ और यह धर्म भी सीधे भारत से नहीं गया वरन चीन-कोरिया के रास्ते जापान पहुँचा था। संभवतः जापान के लोगों के बीच भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की चर्चा कुछ और शताब्दियों पुरानी रही हो लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी शुरूआत लगभग छठी शताब्दी से मानी जा सकती है। इसकी प्राचीनता का एक प्रमाण सन 2011 में जापान के एक नगर 'नारा' में स्थित ''तोदाई जी'' मन्दिर के निर्माण की 1300वीं जयन्ती के आयोजन से भी समझा जा सकता है जो जापान में बौद्ध धर्म के मन्दिरों में अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्राचीनतम है।

जैसाकि सर्वविदित है कि भारत से बौद्ध धर्म पहले चीन पहुँचा, वहाँ से कोरिया और कालातंर में चीन और कोरिया के विभिन्न प्रभावों को ग्रहण करता हुआ जापान पहुँचा। वस्तुतः जापान में 'शिंतो धर्म' की महत्ता स्थापित थी और वह वहाँ का राजकीय धर्म भी था परन्तु बौद्ध धर्म की विशेषता यह रही कि वह राजकीय शिंतो धर्म के साथ सामंजस्य बैठाने में सफल रहा। जापान के एक प्रभावशाली यमातो राज्य के एक महत्वपूर्ण वंश 'सोगा' ने बौद्ध धर्म का विशेष स्वागत किया। राज्य सत्ता द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का उद्देश्य भारतीय-संस्कृति का प्रचार-प्रसार नहीं था वरन् उनके लिए बौद्ध धर्म के माध्यम से जापान को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करना आसान हो गया। इसी के साथ साथ राज्य-सत्ता की शक्ति भी स्थापित होती गयी। यहाँ गौर करने की बात यह है कि भारत की भूमि पर जिस बौद्ध धर्म की नींव पड़ी वहाँ वह राज्य-सत्ता के एकीकरण में इतना महत्व नहीं पा सका जितना सुदूर जापान में पा सका। इसका परिणाम यह हुआ कि जापान में हर ओर बौद्ध मन्दिरों का निर्माण होना शुरू हो गया।

बौद्ध धर्म के आगमन से पूर्व जिस शिंतो धर्म का पालन होता था उसे भी संक्षेप में समझना जरूरी है। जापान की स्थानीय

सम्पर्क: 221, प्रभावी अपार्टमेंट्स, सेक्टर-10, प्लॉट-29बी, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मो: 9810453245

मान्यताओं के अनुसार 'कामी' अर्थात 'प्रकृति' में भी देवात्मा का निवास है इसलिए पर्वत, झरने, सरोवर, शिला, वृक्ष आदि सब इन्हीं देवात्माओं के साकार रूप हैं। यहाँ गौर करने की बात यह भी है कि भारत की धार्मिक चेतना में भी 'प्रकृति' का महत्व दैवीय रूप ही है। कैलाश मानसरोवर, गंगा नदी, वट या पीपल के वृक्ष की पूजा आदि इसके प्रतीकात्मक उदाहरण हैं और भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण उपादान हैं। धीरे-धीरे जापान में प्रकृति का यह देवात्मक रूप आस्था एवं विश्वास प्रचलित और प्रसारित होता गया और एक महत्वपूर्ण कर्मकाण्ड के रूप में स्वीकृति पाने लगा। इस कर्मकाण्ड को प्रस्तुत करने वाली आस्था और विश्वास ही 'शिंतोधर्म' का मूल भाव है। इसका शाब्दिक अर्थ है देवताओं की प्राप्ति का मार्ग।

वस्तुतः भारत के बौद्ध धर्म का चीन के माध्यम से जापान पहँचना इसलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसके आगमन से जापान के सांस्कृतिक जीवन में एक युगान्तर उपस्थित हो गया और जो अपने अनेकोन्मुखी परिवर्तनों के साथ आज भी जापानी संस्कृति का मूल भाव है।

भारत के अनेक पौराणिक देवी देवताओं के प्रतिरूप भी यहाँ मौजूद हैं। कहीं-कहीं उनके नाम और काम बदल गये हैं लेकिन उनका मूल रूप और भाव भारतीय पौराणिक देवी-देवताओं से मिलते-जुलते है। उदाहरण के लिए भारत की विद्या और ज्ञान की देवी सरस्वती (Benzaiten) यहाँ ज्ञान के साथ ही साथ धन की देवी (लक्ष्मी) भी है। भारत में अक्सर कहा जाता है कि लक्ष्मी और सरस्वती में बैर है। ऐसा मान्यता है कि ज्ञानी व्यक्ति के पास धन नहीं होता है और धनी व्यक्ति के पास ज्ञान की कमी होती है। लेकिन जापान ने दोनों में सामंजस्य खोजा है, विरोध नहीं। यहाँ गणेश भी हैं जिनको 'शोतेन' नाम से पुकारते हैं। इसी तरह हमारे मृत्यु के देवता यहाँ 'एम्मा सामा' (Emma Sama) के नाम से जाने जाते हैं जो 'यमराज' का ही रूप है।

सभी मन्दिरों के प्रागंण में 'होम कुंड' जैसी कल्पना के भी साक्षात दर्शन होते हैं। मन्दिर में प्रवेश से पूर्व 'जल कुंड' भी होते हैं जिनमें जल बहता रहता है तथा श्रृद्धालु लोग हाथ धोकर, आचमन करके, पवित्र होकर ही मंदिर में प्रवेश करते हैं।

होमकुण्ड में लोग अगरबत्तियाँ जलाते हैं। हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं और उसका धुँआ, हाथ की हवा से अपनी और करके 'धुम्र स्नान' जैसा करते हैं। उनकी मान्यता है कि इससे शरीर और आत्मा पवित्र होते हैं।

जापान में बौद्ध धर्म की 'ज़ेन' शाखा का आगमन भी चीन से होता है। वस्तुत यह 'ज़ेन', ध्यान का ही चीनी या जापानी भाषा में उच्चरित रूप है। 'ज़ेन' सिद्धांतों के अनुसार नित्य-प्रति के जीवन के तनाव और संघर्षों से मुक्ति पाने का उपाय मौन भाव से किए गये मनन, चिंतन एवं ध्यान-साधना में छिपा है। फलतः ज़ेन साधना से जुड़े अनेक मंदिरों एवं भवनों का निर्माण जापान के 'कामाकूरा' एवं 'क्योतो' में बारहवीं से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के बीच में होता है। इन मन्दिरों के साथ जुड़े बाग-बगीचे एवं शिला उद्यान (Rock Garden) भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि ये उद्यान 'ध्यान साधना' के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान करते हैं। 'कामाकूरा' के मुक्त प्रागंण में की ध्यानावस्थित मूर्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

वस्तुतः भारत-जापान सांस्कृतिक सम्बंधों की पुरातन आधारशिला बौद्ध धर्म है तो 1868 के बाद जब जापान अपनी अस्थिरता और आत्म निर्वासन को छोड़कर एक लम्बी नींद से जागता है तो वह अपनी आर्थिक स्थिति ठीक करने के लिए भारत की ओर देखता है। मेइजी पुनर्स्थापन के युग में जापानी अर्थव्यवस्था में निर्यात की एक महत्वपूर्ण इकाई वस्त्र उद्योग था और इसके लिए उन्हें नियमित रूप से कपास की जरूरत होती थी। भारत से कताई-बुनाई के बारे में जापान ने जो जानकारी प्राप्त की वह उसके बड़े काम की सिद्ध हुई और इस प्रकार आधुनिक काल में भारत-जापान के बीच द्विपक्षीय क्रिया कलापों की एक नयी श्रृंखला विकसित होने लगी। इन युग के दौरान भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति आर.डी.टाटा और जे.एन.टाटा के प्रयास अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्व हुए और एक समय ऐसा भी आया जब जापान में कपास की खपत 50% भाग भारत से ही निर्यात किया जाता था।

बीसवीं शताब्दी के शुरूआती वर्षों में जापान के प्रसिद्ध कलाविद ओकाकुरा तेनशिन ने जापान के लोगों की पश्चिमोन्मुखता को धिक्कारते हुए उनकी एशियाई अस्मिता को जगाने का प्रयास किया। उन्होंने कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में एशिया की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत की वकालत की ओर अपनी रचनाओं में भारत की सांस्कृतिक विविधता को उजागर करते हुए भारतीय बुद्धिजीवियों को भी जापान के बारे में सोचने के लिए प्रेरित किया। वे स्वयं विवेकानंद जी को जापान बुलाने के लिए भारत यात्रा पर आये। उनके साथ कुछ दिन रहे। बाद में वे महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के सम्पर्क में आये। उन्हीं के प्रयासों का यह फल था कि गुरुदेव टैगोर जापान यात्रा पर निकल सके।

शांतिनिकेतन में जापान भवन का निर्माण तथा अनेक जापानी विद्वानों एवं कलाकारों का आवागमन भारत–जापान सांस्कृतिक संबंधों की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

भारत–जापान सांस्कृतिक एवं राजनयिक सम्बंधों का तीसरा महत्वपूर्ण दौर सन् 1952 से आरम्भ होता है जब युद्धोपरान्त विश्व में अलग–थलग पड़े जापान को भारत एक संप्रभुता सम्पन्न राष्ट्र के रूप में मान्यता देता है तथा उसके विकास के लिए हर सम्भव सहायता देने का उपक्रम शुरू कर देता है। एशिया के किसी भी राष्ट्र प्रमुख के रूप में श्री जवाहरलाल नेहरू ही ऐसे पहले नेता थे जिन्होंने 1957 में जापान की यात्रा की और जापान के बच्चों के लिए 'इंदिरा' नाम की एक हथिनी भी लेकर गए जिसकी चर्चा आज भी जापान में होती है।

सन् 2000 के बाद से भारत–जापान संबंधों में 'इन्फार्मेशन टैक्नोलॉजी' के क्षेत्र में सहयोग का एक नया और अत्यन्त महत्वपूर्ण दौर शुरू हुआ जो आजतक जारी है। फलतः जापान में भारतीय तकनीकी विशेषज्ञों की मांग बढ़ी तथा उन्हें वहाँ अत्यन्त सम्मान भी प्राप्त हुआ। आज लगभग 15–20 हजार भारतीय विशेषज्ञ जापान में कार्यरत हैं। इन भारतीय अप्रवासियों के कारण आज जापान में भारतीय संस्कृति के अन्य अनेक पक्ष भी सामने आने लगे हैं जो पहले नहीं थे। बौद्धधर्म के मंदिरों के अतिरिक्त तोक्यों में एक हिन्दू मंदिर की स्थापना भी लगभग 15 वर्ष पहले हुई है।

तोक्यों के एक निकटवर्ती उप–नगर 'निशि–कसाई' में भारतीय आप्रवासियों की बड़ी संख्या में रहने के कारण वह स्थान एक तरह का 'मिनी इंडिया' कहलाने लगा है। यहाँ रहने वाले भारतीयों के प्रयासों से होली–दिवाली, रथ–यात्रा, नमस्ते इंडिया आदि त्यौहार एवं मेलों का आयोजन भी होने लगा है।

भारतीय भोजन जापान में अत्यन्त लोकप्रिय है। यहाँ भारतीय भोजनालयों की संख्या हजारों में है और उनके नियमित ग्राहक भारतीय कम जपानी ज्यादा होते हैं। समोसा और मैंगोलस्सी, नान एवं करी, भारतीय वाइन एवं वीयर अत्यंत लोकप्रिय हैं। शाम के समय इनमें स्थान पाने के लिए बहुत बार लोगों को प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

वस्तुतः भारत–जापान संबंधों का विकास सांस्कृतिक दायरों से बाहर निकल कर आर्थिक, प्रौद्योगिकी एवं सामरिक क्षेत्रों में भी बढ़ रहा है। भारत के विकास में जापान का आर्थिक सहयोग अनेक क्षेत्रों में दिखाई दे रहा है। भारत के नगरों में बनने वाली 'मैट्रोलाइन्स' या अहमदाबाद–मुंबई बुलेट ट्रेन परियोजना या फिर 'डेडीकेटिट फ्रेट लाइन्स' जैसे अनेक प्रोजेक्टों में जापानी सहयोग दृष्टिगत होता है। भारत–जापान सांस्कृतिक संबंधों के विभिन्न आयामों में एक आयाम हिन्दी तथा भारत की कई अन्य भाषाओं के पठन–पाठन से भी जुड़ा है। 1868 के बाद जब जापान में 'मेइजी पुनर्स्थापन की प्रक्रिया शुरू हुई तो जहाँ एक ओर भारत–जापान के बीच आर्थिक सहयोग का दौर शुरू हुआ वही संस्कृत–पालि–प्राकृत जैसी भाषाओं की पुरातन परम्पराओं को पुनः शुरू करने के लिए सन् 1885 में श्री बुनयू नान्जो ने 'तोक्यो इम्पीरियल यूनिवर्सिटी' में संस्कृत भाषा की शिक्षा देना शुरू किया और सन् 1901 में संस्कृत भाषा एवं साहित्य का एक अलग विभाग भी स्थापित किया गया।

संस्कृत भाषा के अकादमिक ज्ञान के साथ ही साथ भारत की बोलचाल की भाषा 'हिन्दुस्तानी' की जानकारी पाने की इच्छा और आवश्यकता भी बढ़ने लगीं। 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष यानि 1899 में 'तोक्यो स्कूल ऑफ फॉरेन लैंग्वेजिज़' जापान का प्रथम एवं महत्वपूर्ण शिक्षा संस्थान बन गया। सन् 1949 में यही संस्थान 'तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज़' के नाम से जाने जाना लगा जो इसका वर्तमान नाम है। इसी संस्थान में सन् 1908 से 'हिन्दुस्तानी' के रूप में 'हिन्दी–उर्दू ' की पढ़ाई शुरू कर दी गयी। आज 100 वर्ष से अधिक बीत जाने के बाद इस विश्वविद्यालय में विश्व की लगभग 27 प्रमुख भाषाओं तथा 24 अन्य महत्वपूर्ण भाषाओं के अध्ययन–अध्यापन की व्यवस्था है। सन् 1809 से 1814 तक भारत के प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी मौलाना बरकतअल्ला खाँ भोपाली ने भी यहाँ अध्यापक के रूप में कार्य किया है।

इस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में हिन्दी पुस्तकों का विशाल संग्रह है जिसकी संख्या 70–80 हजार पुस्तकों से अधिक है। इसके साथ ही साथ इसके संग्रहालय में हिन्दी की अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियाँ तथा पुस्तकें भी संगृहीत हैं। अनेक प्रमुख पत्र–पत्रिकाओं की फाइलें भी हैं जिनमें धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान, नवजीवन, जागरण, चाँद, माधुरी, प्रदीप, आजकल, आलोचना, कादम्बिनी, सरिता प्रमुख हैं। मुंशी नवल किशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित अनेक पुस्तकें यहाँ संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त लंदन, फ्रांस आदि देशों में प्रकाशित अनेक पुस्तकों का संचयन भी यहाँ सुरक्षित हैं। तोक्यों यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज़ के अतिरिक्त कई अन्य विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी–उर्दू

शिक्षण के पाठ्यक्रम चलते हैं जिनमें ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज़, दाइतो बुंका यूनिवर्सिटी, तकुशोकु यूनिवर्सिटी आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

तोक्यों यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज़ के छात्रों को भारतीय संस्कृति का परिचय देने के लिए पाठ्यक्रम से इतर कुछ ऐसी गतिविधियाँ भी चलती हैं जिनसे हिन्दी भाषा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों का सम्यक परिचय प्राप्त करना भी जरूरी है। वे अपने सांस्कृतिक सप्ताह में भारतीय भोजन बनाने और बेचने का स्टॉल चलाते हैं। उस स्टॉल पर नान-करी, समोसा, बनाना लस्सी, मसाला चाय, आदि बनाकर बेचा जाता है। उनके इन स्टॉलों के नाम भी विशुद्ध भारतीय होते हैं जैसे, 'शिवजी का ढाबा', 'अन्नपूर्णा स्टॉल', 'पद्मा रेस्टोरेंट' आदि।

इसी सांस्कृतिक सप्ताह में बी.ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के छात्रों को हिन्दी में एक नाटक करना होता है। इन नाटकों के माध्यम से वे छात्र भाषा के शाब्दिक या व्याकरणिक रूपों के अतिरिक्त बोलचाल के लहजे तान-अनुतान, सुर-लहर, हाव-भाव आदि का भी अभ्यास करते हैं।

इसी विश्वविद्यालय को जापान में तीन-तीन अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन करने का श्रेय भी प्राप्त है। सन् 2008 में यहाँ हिन्दी-उर्दू शिक्षण का शताब्दी वर्ष मनाया गया।

सार रूप में कहा जा सकता है कि आज से हजारों साल पहले जिस बौद्ध धर्म के माध्यम से जापान का परिचय भारतीय संस्कृति से हुआ था उनके अनेक परिवर्तित रूप आज भी वहाँ प्रचलित हैं। जैसे जैसे भारत का आर्थिक रूप से अभ्युदय हो रहा है, वैसे-वैसे भारत-जापान संबंधों में भी गर्माहट बढ़ती जा रही है। दोनों देशों में परस्पर सहयोग के नए आयाम जुड़ते जा रहे हैं।

✦✦✦

हंगरी में भारतीय संस्कृति

—डॉ. विजया सती

भूमंडलीकरण के दौर में दूरियां घटी हैं, नजदीकियां बढ़ी हैं। दूर-दूर बिखरे-फैले दुनिया के देशों का एक-दूसरे को बेहतर जानना संभव हुआ है। पहचान के ये सूत्र अनवरत जुड़े रहें, बल्कि प्रगाढ़ हों, इसका प्रतिफलन पढ़ने-पढ़ाने की दुनिया में भी कई स्तरों पर दिखाई देता है।

एक स्तर वह है जहां दो देश पढ़ने-पढ़ाने की दुनिया में एक-दूसरे से करार करते हैं, दोनों देशों के विद्यार्थी एक-दूसरे के यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते-जाते हैं और शिक्षक भी विषय विशेषज्ञ के रूप में अध्यापन के लिए जाते हैं।

भारत सरकार की अनेक योजनाओं में से एक लोकप्रिय योजना विदेशों में भारतीय अध्ययन पीठ (Chairs for Indian Studies) की स्थापना है। इस योजना के तहत विश्व के कितने ही देशों के महत्वपूर्ण विश्वविद्यालयों में कई वर्षों से भारतीय इतिहास, भारत के आर्थिक पहलू, भारतीय दर्शन और भारतीय राजनीति के साथ- साथ हिन्दी भाषा का अध्यापन भी हो रहा है। यूरोप में हंगरी, पोलैंड, ऑस्ट्रिया, चेक रिपब्लिक, बल्गारिया, रोमानिया, रूस, बेल्जियम से लेकर क्रोएशिया तक स्थापित हिन्दी पीठ (Hindi Chairs) इसका प्रमाण हैं। चीन और तुर्की में, जापान और थाईलैंड में, तुर्कमेनिस्तान से अजरबेजान तक भारतीय विजिटिंग प्रोफेसर हिन्दी पढ़ा आए हैं। भारतीय दूतावासों में सांस्कृतिक केंद्र हैं जो भारतीय संस्कृति की पहचान गहरी करते हैं। किन्तु भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् द्वारा प्रतिनियुक्ति पर भेजे गए विजिटिंग प्रोफेसर भी विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ऐसी ही एक प्रतिनियुक्ति पर मैं हंगरी की राजधानी बुदापैश्त के विख्यात ओत्वोश लोरांद विश्वविद्यालय के भारोपीय अध्ययन विभाग में 2011 से 2013 तक रही।

विभाग की अध्यक्ष डॉ मारिया नेज्येशी भारत में हिन्दी पढ़ने आई – शोध भी यहीं किया और अब अपनी वेश-भूषा को भारत के रंग में ढाल बैठी हैं !

सम्पर्क: एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

मारिया नेज्येशी विभागाध्यक्ष – योरोपीय अध्ययन विभाग

पहले-पहल विभाग में मेरी भेंट हुई क्रिस्तीना से जो मन्नू भंडारी की कहानियों पर शोध-पत्र लिख रही थीं, शागि पेतैर 'मोहन राकेश की कहानियों में महिला पात्र' विषय पर अपने शोध-पत्र के लिए सामग्री संचय करने में जुटा था, ओर्शी भारत से हिन्दी के अतिरिक्त संगीत और नृत्य भी सीख कर आई थी। सभी से हिन्दी में संवाद हुआ, पेतैर भारतीय परिधान कुर्ता-पजामा पहने हुए था। जब मैं अध्यापन कक्ष में पहुँची तो पहली नजर दीवार पर जड़ी एक कलात्मक प्रस्तुति पर पड़ी –

कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी!

कक्ष के हर कोने में हमारा देश, हमारी संस्कृति भरपूर मौजूद थी – एक छोटा मंदिर – वहां गणपति विराजमान थे, शंख था और घंटी भी, मन्दिर के भीतर राधा-कृष्ण के साथ मोरपंख भी मौजूद था।

कक्ष में मंदिर

हिन्दी की असंख्य पुस्तकें, भारतीय साहित्य के हंगेरियन अनुवाद – पंचतंत्र, हितोपदेश, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवतगीता, कालिदास की कृतियाँ – पुस्तकालय में सजी थी। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने 1926 में बुदापैश्त यात्रा की थी, उनकी कविताओं के अनुवाद भी यहाँ थे। अस्वस्थ गुरुदेव जिस बलातोन झील के किनारे रहे वहां अब उनकी स्मृति में एक वीथि भी है।

कक्षा में जो चेहरे मुझसे मुखातिब थे, उन्हें देखकर मुझे लगा कि मेरे देश, मेरी भाषा और मेरी संस्कृति को जान लेने की ललक से भरे इन युवाओं को हिन्दी पढ़ाना रोचक होगा।

उसी वक्त मन ही मन यह निर्णय लिया कि दूर देश में अलग मूल्यों-मान्यताओं, रीति-रिवाजों को मानने वाले इन छात्रों को केवल अपनी भाषा ही नहीं सिखानी है बल्कि इनसे अपने देश की संस्कृति, रीति-रिवाज, रहन-सहन और मूल्यों-मान्यताओं की बात भी करनी हैं।

और मेरे छात्र

धीरे-धीरे बात जो निकली तो दूर तलक गई!

हर कक्षा जैसे एक संवाद की कक्षा हो गई। छात्र मेरे विषय में यानी मेरे देश के विषय में जानते और मैं उनके विषय में। मैं यहाँ भारत की प्रतिनिधि थी! भारत में स्त्री का जीवन, भारत के युवा, भारत में परिवार, भारत के किसान – सबमें उनकी रूचि थी। स्त्री का जीवन कठिन है, वह कैसे इन कठिनाइयों से उबर रही है, कुछ वे जानते थे, कुछ और अधिक जानना चाहते थे। उनकी विस्फारित दृष्टि के प्रश्न मैं भूल नहीं सकती – प्यार करने पर मार क्यों दी जाती हैं लड़कियां? जातिप्रथा का प्रश्न उनके लिए सबसे कठिन प्रश्न बना रहा। भारत के गाँवों के

चितेरे प्रेमचंद के समकक्ष उनके लेखक मोरित्ज जिग्मोंद थे, मैंने जिग्मोंद को जाना उन्होंने प्रेमचंद को !

हमारे त्यौहार होली-दिवाली को भारतीय दूतावास के सांस्कृतिक केंद्र में उल्लास के साथ मनाया जाता। सभी एक-दूसरे को रंग लगाते - दीप पर्व पर दिए जलाते। इसके साथ ही उनकी रूचि यह जानने में भी पूरी थी कि दिवाली और होली क्यों मनाई जाती हैं ? इसलिए कार्यक्रम के आरम्भ में त्यौहार की विस्तृत जानकारी दी जाती।

भारतीय साहित्य और भारतीय फिल्में - दोनों ही भारतीय संस्कृति की तस्वीर बनाते हैं। अनौपचारिक पाठ्य-क्रम का हिस्सा बनी जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'पत्नी' भारतीय स्त्री के जिस नए संसार से विद्यार्थियों का परिचय कराती थी, वह उनके लिए सर्वथा अजाना था। ये दूसरे वर्ष के छात्र थे जिन्होंने इस कहानी के माध्यम से भारतीय स्त्री की जीवन-चर्या को जाना, उसके एकांत में झांका। 'ईदगाह' कहानी भाषा की दृष्टि से उनके लिए एक कठिन कहानी थी, प्रेमचंद आम आदमी की भाषा में लिखते हैं, किन्तु उनका विशद शब्द-संसार बहुत जगह सभी के लिए अबूझ बन जाता था, पर ईद के त्यौहार में घर-बाहर की हलचल के बारीक ब्यौरे जिस तरह प्रेमचंद ने दिए, वे उनके मन को गहराई तक छू गए।

सत्यजित रे की फिल्मों में स्त्री पात्रों की वेशभूषा उनका ध्यान खींचती। आधुनिक यूरोपीय विद्यार्थियों के लिए यह एक अनूठी जानकारी ही थी कि दो जून की रोटी का भी जब भरोसा न हो तो दो जोड़ी वस्त्र भी पहनने को हों, यह जरूरी नहीं। इसलिए नायिका दिनभर के कामकाज में उलझी, थकी-मांदी मैली-कुचौली साड़ी में ही सो सकती है ! 'इंग्लिश विंग्लिश' फिल्म भारतीय दूतावास के सौजन्य से छविगृह में दिखाई गई। हंगेरियन महिलाएं समय निकाल कर आईं - फिल्म की नायिका से उनका तादात्म्य हुआ। दरअसल हंगरी में इंग्लिश बहुत बोली जानी वाली भाषा नहीं है - उसके प्रति नई पीढ़ी की ललक जरूर बढ़ रही है, किन्तु एक पीढ़ी पहले की महिलाओं के लिए नायिका का भाषिक संघर्ष बहुत मायने रखता था।

भारतीय फिल्म संगीत और नृत्य के प्रति इंडोलोजी के छात्र -छात्राओं का बहुत रुझान था। उन्होंने बालीवुड डांस ग्रुप बनाया था। भारतीय शास्त्रीय नृत्य भी वे सीखना पसंद करते थे, इंडोलोजी की पूर्व छात्रा पन्नी सोमी भारत से जो सीख कर गई, वह अपने नृत्य विद्यालय में सिखाती थी। नए साल या विभाग के समारोहों में फिल्मी गीतों पर नृत्य की प्रस्तुतियां खूब होती।

आज भी बुदापैश्त में साल भर में एक बॉलीवुड डांस पार्टी नियमित रूप से होती है जिसमें भारतीय फिल्म संगीत पर नृत्य के कार्यक्रम होते हैं। भारतीय पोशाकें, बिंदी, झुमके, काजल - विभाग में लड़कियों की पहली पसंद होते। पाठयक्रम का एक हिस्सा भारत भ्रमण भी था - सभी छात्राएं भारतीय परिधान में सज कर जाती और कई गुना भारत से खरीद कर लाती !

सबसे अधिक प्रतीक्षा विश्व हिन्दी दिवस को मनाने की होती। इस दिन के लिए तैयारी कई दिन पहले शुरू हो जाती। हम कुछ कविताएं चुनते - हरिऔध से बच्चन तक, अज्ञेय से कुंवरनारायण तक - हिन्दी के विद्यार्थी मंच पर अपनी पसंद की कविता का सस्वर-साभिनय पाठ करते।

हिंदी दिवस समारोह

हिंदी दिवस पर कविता पाठ

इस दिन एक नाटक भी जरूर खेला जाता। अकबर-बीरबल के कई किस्सों का मंच रूपांतरण, असगर वजाहत जी की कहानी का मंचन इसी क्रम में हुआ और जी-जान लगाकर तैयारी हुई 'ईदगाह' नाटक खेलने की। सुदूर त्रान्सिल्वेनिया में बसे परिवार से आने वाला शरारती छात्र बोदोर लोरांद हामिद की भूमिका में खूब जमा, देखिए

हिंदी दिवस पर नाट्य प्रस्तुति - ईदगाह

भारतीय दूतावास के सहयोग से चलने वाली ओरिएन्टेशन कक्षाएं इस मायने में बहुत सार्थक थीं कि वे भारतीय संस्कृति से हंगेरियन समाज को रूबरू कराती थीं। प्रत्येक वृहस्पतिवार शाम को होने वाली इन कक्षाओं में सभी भारत प्रेमी आमंत्रित होते, वक्ता भारत के वैविध्य को अपने शब्दों में साकार करते। यहाँ भारत से लौटे छात्र भी अपने अनुभव साझा करते, भारतीय कलाओं पर चर्चा होती, नृत्य-संगीत-साहित्य के विविध आयाम उजागर किए जाते।

दूतावास में हिंदी कक्षाओं का आरंभ

इसी कक्षा में मैंने सम्प्रदायिक सद्भाव के कवि अब्दुल रहीम खानखाना पर अपना आलेख प्रस्तुत किया, रहीम की प्रेमपरक अवधारणा को रेखांकित करते हुए जब यह पंक्तियाँ आई -

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोरो चटकाय
टूटे पे फिर ना जुरै, जुरै गाँठ परि जाय।

तब उपस्थित श्रोताओं ने इसके अर्थ का स्पष्टीकरण माँगा, समझ आने पर सबने अपनी डायरी में अंकित किया और इसके अर्थ को सराहा !

इन्हीं कक्षाओं में एक दिन भारतीय परिधानों की चर्चा हुई और साड़ी बाँधने की कला का यह प्रैक्टिकल भी संभव हुआ ...

साड़ी कैसे बांधे? भारतीय संस्कृति प्रशिक्षण कक्ष

हिंदी दिवस पर सांस्कृतिक कार्यक्रम

समय पंख लगा कर उड़ चला, मैं विदेश प्रवास में हिन्दी की कक्षाओं में भारतीय संस्कृति के बहुरंगी वैभव को बिखरता, संवरता, निखरता पाकर संतुष्ट भाव से स्वदेश लौटी!

नार्वे में भारतीय संस्कृति

—सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक'

अर्धरात्रि तक शैशव सूरज वाले देश

दुनिया के उत्तर में बसे नार्वे में भारतीय संस्कृति की बात करूँगा जहाँ मैं 38 सालों से भारतीय संस्कृति- हिन्दी साहित्य का प्रचार-प्रसार कर रहा हूँ। नार्वे जहाँ लगभग दो महीने जून-जुलाई को गर्मियों में सूरज नहीं डूबता और जाड़ों में लगभग दो महीने सूरज नहीं निकलता। जब सूरज निकलता भी है तो बादल और कोहरा उसे ढक लेते हैं।

मेरी दृष्टि में संस्कृति वह हवा है जिसे कोई कैद नहीं कर सकता उसकी खुशबू कोई पकड़ नहीं सकता उसे हम उतना ही महसूस कर सकते हैं जितना कि एक दिव्यांग व्यक्ति जो देख नहीं सकते पर महसूस कर सकते हैं।

नार्वे में संस्कृति और यहाँ भारतीय संस्कृति के बारे में जानने के पहले आइये हम अपनी नार्वे की खोज और उसके बारे में कुछ चर्चा करते हैं। निम्नलिखित कविता इस संस्कृति के बारे में कुछ हद तक बयान करती है।

नार्वे में भारतीय संस्कृति

प्रिये! यह है देश हमारा।
भारत देश में जन्म लिया, विदेश गये, छोड़ घर सारा।
दुनिया के उत्तरोत्तर में बसा है नया नार्वे देश हमारा।

एक माँ ने जन्म दिया दूजे ने दिया सहारा।
समय के यात्री हैं,चलते रहना जीवन सारा।

हर घंटे यदि नहीं जिया तो जीवन रहे अधूरा।
जियो और जीने दो भैया, जीवन जीना पूरा।

भारत में जो सीखा भैया, नार्वे (जीवन) में उसे उतारा।
प्रिये! यह है देश हमारा।

यदि संस्कृति को नहीं बचाया मिट जायेंगे सपने।
गले लगाओ हो जायेंगे, पराये पल-पल में अपने।

वहाँ गँगा-जमुना गोदावरी की बहती हैं निर्मल धारा।
यहाँ ग्लोमा, नामसेन, ओतरा नदियों की ठंडी धारा।

11 वां विश्व हिंदी सम्मेलन मॉरीशस, 18-20 अगस्त, 2018

सम्पर्क: ओस्लो, नार्वे

जहाँ रहे चंगा मन अपना, वहाँ क्या गर्मी, क्या सर्दी।
जिसने दु:ख दूजे के जाने, उसी की चली है मरजी।

एक नाव से दूसरी नाव तक नाविक को मिले किनारा।
प्रिये! यह है देश हमारा।

वहां पूरे साल उजाला रहता, सूरज ले प्रकाशपुंजों की माला।
घुँघरू जहाँ बयार सुनाती, बदली में उढ़ाये चाँदनी दुशाला।

जहाँ मंदिर गुरुद्वारों में, कबीर, रैदास, सूर, मीरा की वाणी।
जहाँ फकीर एक तराजू में तौले सुख-दु:ख दोनों अभिमानी।

जिन्हें सभी नास्तिक कहते, यहाँ मानवतावादी कहते हैं।
पूजा हम भारत में करते, पर भगवान यहाँ (नार्वे में) रहते हैं।

दुनिया में कर्मयोगी पुजते, जहाँ करते श्रम का जयकारा।
प्रिये! यह है देश हमारा।

भारतीय त्यौहार होली, दीवाली, बैसाखी, पग दिवस और खेल मेला बहुत लोकप्रिय

होली

विदेशों में भारतीय त्योहारों का अपना आनंद है।

खुशी, मिलन का रंगों का त्यौहार होली अब केवल भारत में ही नहीं मनाया जाता बल्कि विदेशों में (नार्वे में) भी बड़े जोर शोर से मनाया जाता है। इसका आयोजन भारतीय लोग करते हैं। इसमें यहाँ मूल के लोग भी उत्साह से भाग लेते हैं जो आमंत्रित होते हैं।

यह भारत की तरह होली जलाकर नहीं वरन हॉल और सार्वजनिक स्थलों पर मनाया जाता है। इसका आयोजन भारतीय संस्थायें, मंदिर, हिंदी स्कूलों आदि में मनाया जाता है।

रंग छुड़ाने के लिए घंटों नहीं रगड़ना पड़ता और त्वचा पर भी इसका असर नहीं होता क्योंकि स्वास्थ के लिए यह रंग हानिकारक नहीं होते और धोने पर थोड़े प्रयास से ही छूट जाते है। परन्तु जो अपनों से गले मिलकर प्रेम और सौहाद्र का रंग ऐसा चढ़ता है वह आगामी होली की प्रतीक्षा कराता है। दूसरे शब्दों में भले ही मुख का रंग धोकर आप छुड़ा दें पर जो अपने त्योहारों के लिए हमारे तन-मन में होली संस्कृति का रंग चढ़ा है वह आजीवन हमें आनंदित करेगा और पूर्व होली पर्व से मनाये गये की याद दिलाता रहेगा।

जब होली के समय यहाँ बाहर बर्फीले मौसम की विदाई शुरू हो गयी है तब भी घरों और सामूहिक रूप से कुछ घर परिवार के लोग एकत्र होकर होली का त्यौहार एक दूसरे के मुख पर रंगों को पोतते हैं। आप कितना ही छिप जाएँ लोग आपको ढूढ़ लेते हैं और सभी के मुखों पर रंग इतराने लगते हैं। जो भी इन रंगे हुए चेहरों को देखता तो मुस्कराये बिना नहीं रह सकता।

ऐसा ही नजारा आप कुछ चित्रों में देखेंगे की किस तरह भारतीयों ने ओस्लो में होली का पर्व मनाया।

अंत में मिठाई, भारतीय व्यंजनों से सभी रसास्वादन करते हैं। एक खास बात यह भी कि यदि किसी को मधुमेह है तो मिठाई भी कम मीठी या मधुमेह वाली बनावटी मीठे के प्रयोग से बनी मिठाई और केक की कमी नहीं है।

आप भी कभी ओस्लो आना और संग-संग होली मनाना।

अपने त्योहारों को मनाने के लिए पर्याप्त समय होता है, बेशक भारत जैसी रौनक तो नहीं होती पर फिर भी भरपूर कोशिश रहती है कि सभी नयी पुरानी पीढ़ी त्योहारों से जुड़े।

नार्वे की आबादी पचास लाख है और जिसमें 21000 (इक्कीस हजार) भारतीय निवास करते हैं। ये भारतीय विभिन्न प्रदेशों के हैं पर जब वे आपस में मिलते हैं तो प्राय: हिंदी में बातचीत करना पसंद करते हैं। यहाँ भारतीय संस्थाओं, भारतीय धार्मिक संस्थाओं (गुरूद्वारे और मंदिरों) द्वारा भारतीय त्योहार मनाये जाते हैं जैसे राष्ट्रीय त्योहार स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, योग दिवस के अलावा होली, दीवाली, दुर्गा पूजा, तीज मनाये जाते हैं। यहाँ खेल मेला और बैसाखी का पर्व बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। छ: वर्षों से पगड़ी दिवस भी मनाया जाता है जिसमें हजारों लोगों को नि:शुल्क पगड़ी बांधकर दी जाती है जो एक बहुत लोकप्रिय कार्यक्रम और उत्सव है।

बैसाखी

नार्वे में होली और दीवाली के बाद ओस्लो, नार्वे में बैसाखी सबसे अधिक लोकप्रिय त्यौहार है। भारतीय सिख समुदाय की तरफ से बैसाखी मेला बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। इस बैसाखी मेले में स्वीडेन और डेनमार्क से भी लोग भाग लेने आते हैं। चित्र में आप देख सकते हैं।

✦✦✦

कोरिया का सांस्कृतिक वैभव और भारत

—दिविक रमेश

सम्पर्कः एल-1202, ग्रेंड अजनारा हेरिटेज, सेक्टर-74, नोएडा-201301, मो. 9910177099, ई-मेलः divikramesh34@gmail.com

कोरिया के इतिहास और गौरव जानने के लिए मूलतः चीनी लिपि में लिखी समगुक सागी (किम पूसिक, 1075-1151) के द्वारा संकलित और समगुक यूसा (इलयोन, 1206-1289) के द्वारा संकलित दो पुस्तकों का बहुत महत्त्व है। पहली पुस्तक प्राचीन कोरिया के तीन राज्यों से सम्बद्ध इतिहास-ग्रंथ है तो दूसरी प्रचीन कोरिया से सम्बद्ध किंवदंतियों, लोककथाओं और इतिहासपरक लेखे-जोखों का स्मृति-ग्रंथ है।

समगुक यूसा कोरिया और भारत के प्राचीन सांस्कृतिक रिश्तों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण ग्रंथ है। (दक्षिण कोरिया के अपने अनुभव के अनुसार कह सकता हूं कि आज के कोरिया में भी भारत की सांस्कृतिक, दार्शनिक और साहित्यिक पहचान बुद्ध, गांधी और टैगोर से की जाती है। इसी ग्रंथ में कोरिया के जन्म की भी भारतीय मिथकीय कहानियों के से आस्वाद्य से भरी दिलचस्प गाथा उपलब्ध है। गाथा के अनुसार, ई.पू. 2333 में दनगुन (वांगगॉम की नाम से भी परिचित) ने कोरिया नामक देश या राष्ट्र की स्थापना की थी। संक्षेप में कहानी यूं है कि स्वर्ग के राजा का एक बेटा था- ह्वान उंग (अर्थात स्वर्ग का राजा) जो बुद्धिमान और साहसी था। एक दिन धरती की ओर देखकर उसने पिता से धरती के बारे में जानकारी चाही तो पिता ने बताया कि धरती पर मानव सहित कितने ही प्राणी रहते हैं। सुनकर राजकुमार ने धरती पर जाने की इच्छा व्यक्त की तो पिता ने 3000 सेवकों के साथ उसे धरती पर भेज दिया। वह टेबेक पर्वत के चंदन वृक्ष पर उतरा और एक शहर बसाया - सिन सी अर्थात भगवान का शहर। उसने लोगों को कितनी ही उपयोगी कालाएं तथा अन्य बातें सिखाने के लिए अपने मंत्रियों को आदेश दिया। उन्हीं दिनों चंदन वृक्ष के पास ही एक गुफा थी जिसमें एक भालू और शेर रहते थे। वे मानव बनना चाहते थे। उन्होंने ह्वान उंग से कहा तो तो उसने बताया कि मानव बनना बहुत कठिन हौता है। उसके लिए आपार धैर्य चाहिए। दोनों ने स्वीकार कर लिया। तब उंग ने कुछ लहसुन और मगवर्ट (एक बूटी) देकर उन्हें उसी पवित्र भोजन के सहारे 100 दिन गुफा में बिताने के लिए कहा। शेर में धैर्य कम था सो वह ऊब गया और वहां से भाग गया। भालू 21 दिनों के बाद ही एक सुंदर

युवती बन गया और युवती के रूप में एक बच्चे की मां बनने के लिए प्रार्थना की। राजा ह्वान उंग ने उसे अपनी रानी बना लिया। उनके यहां एक राजकुमार ने जन्म लिया जिसका नाम रखा गया- दनगुन अर्थात चंदन की लकड़ी का राजा। वह सुंदर और बहादुर था। उसनेअपने पिता को सुंदर देश बनाने का वचन दिया। ते डांग नदी के किनारे उसने अपनी राजधानी बनायी- प्योंगयोंग। अपने राज्य का नाम रखा- चोसन अर्थात सुबह की शांति। इस प्रकार दनगुन कोरिया का पहला मानव राजा बना और शांति के देश कोरिया का जन्म हुआ। इस कहानी को जानकर किसी भी भारतीय के मन में अवतारवाद की खुशबू महक सकती है। चंदन वृक्ष और शांति के बात, लगता है भारत के सांस्कृतिक वैभव और सोच से जुड़ी हुई है। यह बात अलग है कि जिसे वहां चंदन वृक्ष कहा जाता है वह भारत से अलग है।खैर।

इसी ग्रंथ में उपलब्ध, भारत से जोड़ने वाली एक खास कहानी कहानी करक अथवा काया या गाया राज्य के राजा किम सूरो और अयोध्या की राजकुमारी (कोरियाई नाम -हो ह्वांग ओक) के विवाह की है। इस कहानी से भी दोनों एशियाई देशों के सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना होती है। गाया से गया की ध्वनि का मेल होता है। किम सूरो का जन्म अंडे से हुआ बताया गया है जिसका एक आशय उसका गोल पृथ्वी के किसी अन्य हिस्से से आकर बसना या दैवीय गुणों से सम्पन्न होना लिया जा सकता है। इस कहानी को प्राय: काल्पनिक कहानी माना जाता है लेकिन कुछ विद्वान हैं जो इसे सत्य मानते हैं। जो भी हो इस विवाह के माध्यम से दो देशों के संस्कृतिक मिलन की चाहना का तो पता चलता ही है। कोरिया के तीन प्रसिद्ध राज्यों के साथ-साथ चौथे राज्य के रूप में गाया राज्य पर भी पुस्तकें मिलती हैं। एक पुस्तक है प्रोफेसर छुन हॉन लिखित 'शनबी वांगुगुक गाया'। संक्षेप में कहानी यूं है। बात पहली शताब्दी की है। सन 42 की। अयोध्या के राजा और रानी सपने में भगवान देखते हैं जो कहते हैं कि उन्होंने करक के राजा के रूप में किम सूरो को धरती पर भेजा है जो अविवाहित है। उसी के साथ अपनी 16 वर्षीय राजकुमारी का विवाह करा दो। राजा बेटी को रक्षकों और सामान के साथ किम सूरो के राज्य के लिए जलमार्ग से प्रस्थान करता है। राजकुमारी समुद्र को पार कर तभी जा पाती है जब वह बुद्ध की प्रतिमा साथ ले जाती है। किनारे पहुंचने पर उसे लिवा ले जाने के लिए राजा के आदमी होते हैं जिनके साथ जाने से वह स्वाभिमानी भारतीय नारी मना कर देती है। राजा को तब स्वयं आना पड़ता है। उनका विवाह होता है और उन्हें संतानें प्राप्त होती है। कोरिया में पत्नी भले ही अपने मायके का पारिवारिक नाम ही धारण किए रहती है लेकिन संतान पिता का पारिवारिक नाम धारण करती हैं। लेकिन अपवाद स्वरूप इनकी संतान को मां का पारिवारिक नाम धारण करने भी छूट मिली। दक्षिण कोरिया के बूसान शहर के पास किमहे में राजा और उसकी भारतीय पत्नी की भव्य समाधियां हैं और बाहर मंदिर है जिसमें वही पत्थर जो भारत से बुद्ध की प्रतिमा के रूप में राजकुमारी लायी थी यह पत्थर कोरिया में नहीं मिलता, ऐसी मान्यता है।

कोरिया भी भारत की तरह त्योहारों का देश है। दक्षिण कोरिया कितना ही सम्पन्न और आधुनिक क्यों न हो गया हो लेकिन अपने त्योहारों सास्कृतिक धरोहर के रूप में धूमधाम से मनाता है। त्योहारों का संबंध प्रकृति, कृषि मानव कल्याण से भी है। वहां का सबसे बड़ा त्योहार छूसॉक है जिसे अपने पूर्वजों के प्रति धन्यवाद ज्ञापन के रूप में दीवाली की तरह बहुत बड़े पैमाने पर मनाया जाता है। एक दूसरा महत्त्वपूर्ण त्योहार, जिसका संबंध चंद्र कलैंडर से है, टेबोरम है। पहले पूरे चाँद का त्योहार और चन्द्र नए साल का प्रारम्भ। बहुत ही मजेदार। कोरिया का यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण त्योहार है। इस अवसर पर मेला भी लगता है जिसमें कोरिया के लोक और उसकी देहाती और पहले की सांस्कृतिक विरासत के भी दर्शन किए जा सकते हैं। मेले में 'टलचिप थेऊगी' का देखना किसी भी भारतीय के लिए बहुत ही आकर्षक सिद्ध हो सकता है। इसे देखकर मुंह से एकदम 'होली' निकल सकता है। 'टलचिप थेऊगी' का दृश्य था। होली-दहन का सा। लकड़ियों का ऊँचा सा ढ़ेर था। इसे भी जलाया जाना था। रात के समय। लेकिन चाँद की पूजा के लिए। लोग जीने की माँग और बुराई से मुक्त होने के लिए प्रार्थना करते हैं। सुखी जीवन और अच्छी फसल की कामना करते हैं। टेबोरम के दिन लोग गिरीदार सूखे फल जैसे अखरोट और मूंगफली तोड़-तोड़ कर खाते हैं। तोड़ते समय कुछ लोग 'चिकल के मुन्याह' बोलते हैं। अखरोट को इस दिन पुरम कहते हैं। कोरियाई लोग समझते हैं कि तोड़ने की आवाज से बुरी आत्माएँ भाग जाती हैं। गाँव-देहात की भारतीय होली में भी बच्चे और बड़े अखरोट की माला पहनते हैं। बाद में उन्हें तोड़-तोड़ कर खाते भी हैं। यही नहीं भारत की एक और परम्परा का भी एक रूप यहाँ इस दिन देखने को मिलता है। ठंडा या बासा खाना खाना। उत्तर भारत में एक दिन बासा खाना

खाया जाता है। मेले में भरतीय चर्खे से मिलता-जुलता यंत्र भी देख सकते हैं।

कोरिया और भारत के बीच बौद्ध धर्म का भी सशक्त पुल है। यहां के स्वर्ग समझे जाने वाले एक टापू चेजू मात्र में लगभग 250 बौद्ध मंदिर हैं। प्रचार-प्रसार की दृष्टि से कोरिया को बुद्ध का यशोदा देश कहा जा सकता है। बौद्ध धर्म भारत से कोरिया में चीन होते हुए पहुंचा था और तब जापान गया था। कोरिया में बौद्ध धर्म की बहुत मान्यता रही है और आज भी है। कोरियाई लोगों के जीवन, उनकी सोच, सहित्य आदि पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा है। बौधधर्म का कोरिया में चौथी शताब्दी में प्रवेश हो गया था और इसने तीन राज्यों के समय में राजधर्म का महत्त्व प्राप्त किया था। कोरिया के दक्षिण और मध्य भाग में सिला (Silla) राज्य था (57 ई.पं- 935 ई.) जो बेकजे (Baekje) और गोगुरियो (Gogryeo) के साथ मिल कर तीन राज्य कहलाता था। इसकी राजधानी ग्योंगजू (Gyeongu) और एक राजधर्म -बौद्धधर्म था। यहां गाया पहाड़ पर धर्म (ज्ञान) के प्रतीक के रूप में स्थित बौद्ध मंदिर हे इन सा है। एक द्वार रक्षकों का कहलाता है। ये रक्षक सैनिकों की तरह हमेशा लड़ाई के लिए तत्पर रहते हैं। मंदिर की रक्षा करते हुए शत्रुओं को पैरों के नीचे कुचल देते हैं। इसे बौद्ध धर्म पर हिन्दू प्रभाव माना जाता है। गौरव की बात यहे है कि यहाँ बहुत ही परिश्रम से तैयार किए गए 81340 लकड़ी के एक जैसे टुकड़ों (काष्ठ खण्डों) का अद्‌भुत और असाधारण भण्डार है। इन टुकड़ों पर पूरी त्रिपिटका उकेरी गई है।

कोरियाई आधुनिक साहित्य पर कोरियाई लोगों की निगाह में पहले एशियाई नोबेल पुरस्कार विजेता रवींद्रनाथ टैगोर का प्रभाव भी देखा जा सकता है। टैगोर ने जापान के पराधीन कोरिया के पक्ष में कविता की शैली में चार पंक्तियां अंग्रेजी में लिखीं थीं जिन्हें कोरियाई आशा और उत्साह के रूप में बहुत महत्त्व देते हैं। इन पंक्तियों का कोरियाई में अनुवाद कराके पाठयक्रम में सम्मिलित कर लिया गया। इनका हिंदी अनुवाद करने का पहला सौभाग्य इस आलेख के लेखक अर्थात दिविक रमेश को मिला। साहित्य अकादमी की फेलोशिप से और पद्‌मश्री सम्मान से सम्मानित सुविख्यात कवयित्री किम यांग शिक हिंदी और कोरियाई अनुवाद सहित मूल पंक्तियों को अपनी पत्रिका के बाहरी पृष्ठ पर प्रकाशित करती हैं।

सच में हिंदी पठन-पाठन से अच्छे से जुड़ा दक्षिण कोरिया और भारत उपर्युक्त और अन्य अनेक कारणों से सांस्कृतिक जुड़ाव की दिशा में अत्यंत समृद्ध हैं।

✦✦✦

भारतीय संस्कृति—मेरे भीतर का त्रिनिदाद और टुबैगो

—प्रेम जनमेजय

जब मुझसे त्रिनिदाद और टुबैगो में भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत, वहां के मुख्य उत्सवों पर लिखने के लिए कहा गया तो जैसे स्मृतियों शांत झील में एक ऐसी 'मनमोहक कंकड़ी' मारी जो देखन में चाहे छोटी थी पर स्मृतियों की गंभीर और विशाल लहरें उत्पन्न करने वाली थी। अविस्मरणीय स्मृतियों एक ऐसा नशा भी है जिसकी हुड़क लगातार हाती रहती है। कोई कहो भर दे कि क्या तुम अपनी स्मृतियों को भोगना चाहोगे तो केवल वही और वही सोचने, करने और डोलने को रह जाता है। ये सूफियाना इश्क-सा भी है। इसे आप वो पंछी भी मान सकते हैं जो पुनि पुनि जहाज पर आता है। और फिर मेरी स्मृतियां तो है हीं जहाजी भाईयों से जुड़ी। स्मृतियों का भंवर जब उठता है, कष्ट भी देता है। ये कष्ट वैसा ही है जो प्रवासी मन विदेश में भोगता है। ये वही कष्ट है जो अपने देश या अपनो से दूर होने पर उनके और पास आ जाता है। मैंने अपने त्रिनिदाद और टुबैगो प्रवास के दौरान कुछ कविताएं भी लिखी थीं। जब मन भावुक होता है तो कविता में बात करता है और जब विसंगतियों के कारण मस्तिष्क कष्ट में होता है तो व्यंग्य लिखता है। त्रिनिदाद में विसंगतियां कम थीं और भावुक करने वाली स्थितियां अधिक। तभी तो वहां पहुचंने के कुछ माह बाद मैंने प्रवासी मन की, 'वो गंध कहां है' जैसी कविता लिखी थी। उसमें मैंने लिखा था --

समुंदर गहराई नापता है /समुद्र दूरियां भी नापता है /ओ मेरे देश !/तुझे छोड़ जितना /दूर आ गया हूं मै /उतना ही पास आ गया हूं मैं।

वही पेड़ वही चिड़िया /वही लोग, वही गाड़ियां /वही चांद, वही आकाश /सच कुछ भी नहीं बदला है/ मेरे देश !

पर, वो गंध कहां है /वो जो तेरी मिट्टी से है आती /बहुत ढूंढता हूं /मां !/पर तेरी गोद नहीं मिल पाती।

प्रसाद साहित्य का विशेष प्रशंसक होने के बावजूद मैंने उनकी नियतिवादी विचारधारा को स्वयं पर हावी नहीं होने दिया है। परन्तु पिछले कुछ वर्षो में घटित घटनाओं ने मुझे लगातार विवश करने का प्रयत्न किया है कि मैं प्रसाद की इस धारणा पर

सम्पर्क: 73 साक्षर अपार्टमेंट्स ए-3 पश्चिम विहार नई दिल्ली-110063

विश्वास करूं कि अनेक बार हम जाना कहीं चाहते हैं और नियति हमें नाक पकड़कर कहीं और ले जाती है। मुझे लगता है कि त्रिनिडाड और टुबैगो में अतिथि आचार्य के रूप में मेरी नियुक्ति सम्भवत: मुझे नियति के विश्वास मार्ग पर चलाने का नियति- चक्र है। न चाहते हुए भी मैंने अनेक कर्म (कुकर्म नहीं) किए हैं, अनेक ऐसे स्थानों पर गया और अनेक ऐसे लोगों से मिला हूं जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। बार-बार मेरे जीवन में घटित घटनाएं जैसे मुझे नियतिवादी होने को विवश कर रही हैं। और अब मेरी स्थिति यह है कि मैं नियतिवाद का पूर्णत: विरोधी नहीं हूं। अब मैं नियति पर इस स्तर तक विश्वास करता हूं कि कर्महीन न हो जाउं और कर्मवाद पर इतना विश्वास करता हूं कि अहंकारी होकर असीम शक्ति को न भूल जाउं।

यह पहला अवसर था कि मैं स्वदेश, स्वजन, स्वपत्नी, स्वमित्रों आदि 'स्वों' से दूर एक लम्बे अंतराल के लिए भीड़ में भी अकेला रहने को विवश हुआ। ऐसी 'पहली' उर्वर- भूमि उपस्थित हो, त्रिनिदाद जैसे देश से पहली नजर में प्यार होना स्वाभाविक ही है। प्रथम- प्रेम दृष्टि में ऐसी धुंध उत्पन्न करता है कि दूर दृष्टि धुंधला जाती है और सावन के अंधे सा व्यक्ति सब कुछ हरा ही देखता है। भारत से बाहर निकलते ही मन हिंदी और हिंदुस्तान के लिए भावुक हो जाता है। विदेश में कोई भारतीय चेहरा दिखाई दे, मन उसे लपककर पकड़ना चाहता है और यदि 'एतराज' न हो तो गले भी लगाना चाहता है। टूटी फूटी ही सही, हिंदी सुनने को मिल जाए तो मन गदगद हो जाता है। मुझे याद है हवाई अड्डे पर मुझे भारतीय उच्चायोग के अधिकारियों के अतिरिक्त वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय के डीन श्री विष्णुदत्त सिंह भी लेने आए थे। मैंने जब यह नाम सुना तो लगा कोई अपना मिल गया। कार में बैठा तो 'बैजू बावरा' फिल्म के गीत, 'तूं गंगा की मौज मैं जमुना का धारा' ने किया। मन झूम उठा। पर जब मैंने ड्राईव कर रहे, वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय के डीन से हिंदी में संवाद किया तो उत्तर शून्य मिला। जो सार तत्व मिला वो अंग्रेजी में था। समझ आ गया कि यहां हिंदी फिल्मी गीतों से प्रेम है पर हिंदी में संवाद करने में नहीं। जल्दी समझ आ गया कि यहां के लगभग पचास प्रतिशत निवासी चाहे भारतीय मूल के हैं : रोटी, करेला, बैंगन, निमकहराम, चोखा, आदि दैनिक व्यवहार में हिन्दी के शब्द हैं, परन्तु हिन्दी उनके दैनिक व्यवहार की भाषा नहीं है। हिन्दी के शब्द एफ. एम. स्टेशनों के द्वारा हिन्दी फिल्मों के गीतों के रूप में चौबीसों घंटे हवा में तैरते हैं परन्तु उनके अर्थ समझने वाले एक प्रतिशत लोग भी नहीं हैं। हर त्योहार पर मन्दिरों में लोग बढ़ी श्रद्धा से भजन गाते हैं, भारतीय संगीत प्रत्येक कार्यक्रम का अभिन्न अंग है और उसकी धुन उनके ह्रदयों का स्पर्श अवश्य करती है परन्तु अर्थ उन तक पहुंच नहीं पाते हैं।

जैसा देश का तन वैसा हो मन, के आधार पर दिल को गालिब के ख्याल की तरह समझा लिया। सात समुंदर पार आए हैं पर त्योहार, संस्कृति और भाषा के लिए सम्मान तो अपने देश जैसा

है। इस देश के हर रंग में रंगने से ही मन प्रसन्न होगा। प्रेम बाबू अगर दिमाग लागाओगे तो परेशानी ही पाओगे। इस ज्ञान को प्राप्त कर मैं दिनों दिन त्रिनिदादियन संस्कृति में डूबने उतरने लगा।

मुझे याद है, वो त्रिनिदाद में मेरी पहली होली थी। मेरी पत्नी आशा और बच्चों को तीन माह बाद आना था। मैं अकेला बिना गुजिया और समोसे के, अपने मन को मसोसे हुए, होली की यादों में खोया वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय में अपनी कक्षा के छात्रों को 'क' कबूतर वाली हिंदी रटने का अभ्यास करा रहा था। मैंने अपने एक छात्र सत्यानंद से पूछा-तुम लोग होली मनाते हो?''

-होली!'' उसके चेहरे पर आश्चर्य-सा था, जैसे वह कुछ याद करने की कोशिश कर रहा हो।

-हाँ होली, होली पर तुम रंग नहीं खेलते, गुलाल नहीं मलते, पिचकारी नहीं चलाते!''

-ओह आपका मतलब है फगवा, हाँ हम बड़े ज़ोर शोर से मनाते हैं। अगले रविवार को हैं न। आप दीवाली नगर 'पिचकारी' कार्यक्रम में ज़रूर जाना।''

(उपर्युक्त संवाद को कृपया इस भ्रम के साथ न पढ़ें कि त्रिनिडाड वासी अच्छी हिंदी बोल लेते हैं। मैंने बातचीत का भावानुवाद किया है।)

भारत में होली का हुडदंग कई दिन पहले आरम्भ हो जाता है, परंतु यहाँ शनिवार तक कुछ नहीं था। न गलियों में बच्चे हो हो करके भाग रहे थे और न ही आते जाते गुब्बारे पड़ रहे थे। मन ने कहा प्यारे होली की रसम आदाइगी होगी, मन और दुखेगा होली की याद करके, क्या करना। गोपियों के मन चाहे दस बीस नहीं थे पर अपने तो हैं। हमारे दूसरे मन ने कहा अकेले छड़े छाँट घर में पड़े क्या करोगे। तीसरे मन ने कहा हो सकता है कोई गोपी कह दे 'लला फिर आइयो खेलन होली'। अत: त्रिनिडाड होली के दिन, की सुबह दस बजे यांत्रिक होली देखने के लिए, खेलने नहीं, दीवाली नगर में पिचकारी देखने चल दिया। उन दिनों में 'बेकार' था यानि कार नामक वाहन से विहीन और त्रिनिडाड में बिन कार आप अपंग हैं, सो अपने मित्र राजेश श्रीवास्तव का सहारा लिया। वह महात्मा गांधी सांस्कृतिक संस्थान के निदेशक के रूप में संस्कृति से जुड़े लोगों को सहारा देकर भारतीय संस्कृति की कुछ अधिक ही सेवा कर रहा था। मन में कोई उत्साह नहीं था। हम होली खेलने जा रहे थे पर हमारे पास रंग नहीं थे। हाँ राजेश के मुँह में पान मसाले का कत्था अपना कुछ रंग अवश्य दे रहा था।

मैं वालसायन में था ओर दीवाली नगर वहां से 10 किलोमीटर दक्षिण की ओर मुख्य हाई वे पर था। अभी हम दीवाली नगर से एक किलोमीटर दूर थे, नगाड़ों की आवाज़ सुनकर कान चौकन्ने हो गए और आधा किलोमीटर दूर रह गए तो आँखें चौकन्नी हो गई और बुझा हुआ मन भी, अगर उसके कान होते हैं, जो की होते हैं क्योंकि साधु-संत अक्सर कहते हैं कि मन लगाकर सुनो, चौकन्ना हो गया। माईक गूँज रहे थे और दीवाली नगर का मैदान होली के हुड़दंग से भीगा हुआ था। मैंने अपने आपको कोसा कि मैंने अपने मन का कहा मानकर अच्छा कुरता पायजामा क्यों पहन लिया। हमारे यहाँ होली के पक्के रंगों से डरकर पुराने कपड़े पहनने का रिवाज है। ख़ैर ओखली में सिर दिया तो मूसल से क्या डरना मुहावरा शायद इसी समय के लिए बना है।

भारतीय उच्चायोग से सम्बद्ध होने के कारण हमें ससम्मान आम जनता से दूर एक मंच पर ला बैठाया गया। यह मंच संभ्रांत लोगों के लिए बना था। सामने भी एक मंच था जिसपर गीत संगीत चल रहा था और अंग्रेज़ी में कुछ गाया जा रहा था। मंच के सामने एक बड़े से मैदान में अनेक 'आम लोग' या तो कुरसियों पर बैठे थे या फिर खड़े खड़े संगीत की फुहारों के साथ-साथ रंग की फुहारों का भी आनंद उठा रहे थे। मैदान के चारों ओर तथा बीच में पंद्रह फीट ऊपर पाईप लगी थी जिनसे कभी हरा कभी नीला और कभी लाल रंग फुहारों के रूप में मैदान में उपस्थित लोगों को अपने रंग में सराबोर कर रहा था। सामने गीत -संगीत की वर्षा और आकाश से रंगों की फुहार, मेरे लिए यह पहला अनुभव था और इस पहले अनुभव का मैं मात्र दर्शक था। इतनी अनुशासित होली भी मैं पहली बार देख रहा था। कोई रंग डालने से रोक नहीं रहा था और न ही कोई जबरदस्ती रंग लगा रहा था। मन कर रहा था कि इन संभ्रांत लोगों के मंच से मैदान में कूद पड़ूँ। पर मैं तो प्रोटोकोल का नया पाठ पढ़ रहा था। मैदान में हुड़दंग था पर शालीन, मैदान में रंग थे पर मधुर, मैदान में भीड़ थी पर सभ्य और मैदान में बच्चे थे पर बड़ों जैसे। नहीं थी तो घुटती हुई भांग, झूमते हुए कदम, सीटी बजाते मजनूँ, कुछ करो इस होली में हैं सब क्षमा के लाभेक्षु।

ऊपर रंगों की पिचकारी चल रही थी और सामने गीत संगीत की

पिचकारी। मैं देखकर चौंका था, आप पढ़कर चौंक रहे होंगे। पिचकारी से रंग निकलते तो आपने देखे होंगे पर गीत और संगीत निकलता नहीं देखा होगा। वैसे तो होली और संगीत का राग-रंग जैसा संबंध है। गलियों में गाती हुई टोलियाँ निकला करती थीं, कुछ आज भी निकलती हैं और शहरों ने रंग से राग को अलग कर दिया है। पर यहाँ रंग के साथ कुछ अलग तरह का था। 'पिचकारी' की कल्पना रवि जी की है जो बरसों से त्रिनिडाड में अपने रंगों से सबको भिगो रही है। सामने मंच पर अंग्रेज़ी में जो गाये जा रहे थे वे पिचकारी गीत थे, न् न् न् केवल अंग्रेज़ी में नहीं अपितु हिंग्लिश में, ये हिंग्लश विंग्लश क्या है! भोजपुरी और अंग्रेज़ी का सदाबहार मिश्रण। यही मिश्रण इस द्वीप में हिंदी को ज़िंदा रखे हुए हैं वरना जिस राष्ट्र में लोगों की मातृभाषा विदेशी भाषा हो जाए और विदेशी भाषा मातृभाषा वहाँ भाषा की अपनी अस्मिता कैसे बच सकती है। पिचकारी के इस रसीले रंग में मैं भाषा सवाल का सूखापन नहीं लाना चाहता हूँ, यह चर्चा फिर कभी।

रवि जी द्वारा संकल्पित इस 'पिचकारी' में राजनीति, समाज, फिल्म, कानून व्यवस्था आदि में व्याप्त विसंगतियों पर व्यंग्य किए जाते हैं और इन गीतों को पिचकारी गीत कहा जाता है। कहें तो हिंग्लिश में रचे इन पिचकारी गीतों की कुछ बानगी प्रस्तुत करूँ।

शीर्षक - मॉडर्न बेटी लेखक - जगदेव

''मिह बॉयफ्रेंड, सो लेज़ी वो डोन्ट वॉट टू वर्क

ढकोलेइंग दारू इन दी रम शॉप

ना घर ना भोजन एँड लिक्स नॉन स्टॉप

बिहेविंग छंद्दर, शी गेट ए कुलच्छन।

शीर्षक - पितरिस वुड बी हैप्पी लेखक - रूपनारायण रामस्वरूप इफ बाई मैजिक

इट कैन हो सकता

और पितृस कैन कम अगेन

आजा एँड आजी विल बी हैप्पी, फॉर देयर धर्म वुई मेंटेंन

दे विल सी दी स्कूल एँड मन्दिर

नाना एँड नानी हैप्पी

सीइंग झंडी एज बिफोर।

इस पिचकारी संस्कृति ने अनेक पिचकारी लेखकों को जन्म दिया है। मुकेश बुद्धराम, अनंत राम बचन, डॉ. सूरज रामलखन, केन रामचंद, इंदिरा महाराज, राधिका मोहम्मद, जगदेव महाराज, मोहिप पूनवासेई, मार्वा मेकेन्सी, और स्वयं रवि जी जैसे अनेक लेखक हैं जो इस लेखन में सक्रिय हैं। स्टील पैन और केलिप्सो के इस देश में पिचकारी वस्तुतः ऐसा मंच प्रदान करता है जहाँ आम कलाकार अपनी प्रतिभा को पहचान उसका समुचित विकास कर सकता है। पिचकारी गीत, लोक या फिल्म धुन किसी पर आधारित हो सकते हैं तथा विषय कुछ भी हो सकता है, अश्लीलता को सहा नहीं जा सकता। रवि जी कहते हैं कि इस देश में बड़ी उपजाऊ ज़मीन है पर भारतीय संस्कृति की ज़मीन तैयार करने के लिए बहुत श्रम करना पड़ता है। फगुवा के इस मौसम में राग रंग से रंगी इस 'पिचकारी' का अबीर न केवल आत्मा को भिगोता है अपितु उसे आध्यात्म के असीम रंग में रंग देता है।

'पिचकारी' का यह कार्यक्रम केवल गीत संगीत के राग रंग से समाप्त नहीं होता है अपितु जैसे ही यह प्रतियोगिता समाप्त होती है एक नई प्रतियोगिता आरंभ हो जाती है, 'माखन चोर' की प्रतियोगिता। इस प्रतियोगिता के सभी भारतवासी जानकार हैं। गोविंदा आला के स्वरों में मटकियों को फोड़ता नौजवानों का समूह आपको यहाँ भी देखने को मिलेगा, बस अंतर यह है कि यह समूह गलियों में नहीं घूमता है, अपितु पिचकारी के इसी स्थल पर बनाया जाता है। इसमें अनेक टीमें भाग लेती हैं और मटकी फोड़ने वाले इसे जीतते हैं। भारतीय मूल के रंग बिरंगे चेहरों और उड़ते गुलाल को देखकर, मटकी को फोड़ते उत्साही युवकों को देखकर, अपनी अपनी पिचकारी से लैस कुछ नन्हे मुन्नों को इधर उधर भागते देखकर तथा दुकानों पर रोटी, जलेबी, फुलेरी, पकोड़े और छोले भठूरे खाते देखकर आपको भारत में होने का भ्रम होगा, बस जब कोई बोलेगा और त्रिनिडाडीय अंदाज़ में क्रियाविहीन अंग्रेजी को सुनकर आपका भ्रम अवश्य खुल जाएगा।

वस्तुतः त्योहार तो अपने रंग में आते हैं, परन्तु उस रंग में जीने के लिए एक जिंदा मन चाहिए। वे तो हमें एक अवसर प्रदान करते हैं अपने रंगहीन और मायूस जीवन को एक सही दिशा दे सकें और एक ऐसी ही दिशा देने का प्रयत्न कर रही थे त्रिनिदाद के टिमटिमाते दीये। वे दीये आज भी मेरे भीतर निंरतर टिमटिमा रहे हैं।

दीपावली के समय तक यह इंद्रधनुषी संस्कृति का देश बहुत कुछ मेरा हो चुका था। दीपावली ही एकमात्र ऐसा भारतीय त्योहार है जिसके अवसर पर त्रिनिदाद और टुबैगो में सार्वजनिक अवकाश घोषित होता है और उसी दिन मानाया जाता है वरना फगवा, राखी, शिवरात्री आदि त्योहार उस दिन न मनाकर आने वाले रविवार को मनाए जाते हैं। भारत में दीपावली धार्मिक कम सामाजिक उत्सव के रूप में अधिक मनाई जाती है परन्तु इसके विपरीत त्रिनिडाड में यह एक सामाजिक कम धार्मिक आयोजन अधिक है। दीपावली के दिन या उससे कुछ पहले लगभग प्रत्येक हिन्दू-परिवार पंडित को बुलाकर पूजा का आयोजन करता है। इन दिनों पंडित किसी वी.आई.पी. से कम नहीं होते हैं और उन्हें पाना कठिन होता है। दीपावली के दिन, अधिकांश 'भक्त' पूरे दिन का उपवास रखते हैं जिसे वे शाम छह बजे मंत्रोच्चारण के साथ तोड़ते हैं। लक्ष्मी पूजन का त्रिनिदादीय समय शाम छह और सात के बीच है। इस समय देश के मुख्य दूरदर्शन चैनल तथा विभिन्न एफ.एम. चैनल पर पंडित जी पूजा करते हैं, मंत्रोच्चारण करते हैं जिससे जो पूजा विधि नहीं जानते वो भी साथ-साथ कर सके। सनातन धर्म महासभा, आर्य प्रतिनिधि सभा, कबीर निधि, हिन्दू प्रचार केन्द्र, फ्रैंड्स ऑफ इंडिया सोसायटी, कबीर चौरा, चिन्मय आश्रम, राजयोग सेंटर, जैसी अनेक संस्थाएं हैं जो दीपावली कार्यक्रमों का भव्य आयोजन करती हैं। इस प्रकार के आयोजन त्रिनिदाद में ऐसा वातावरण प्रस्तुत करते हैं कि लगता है जैसे भारत अपने लघु आकार में जिंदा हो गया। जो भी पर्यटक भारत से यहां आया है उसने चकित होकर इस देश को लघु भारत कहा है।

दीपावली के आने से एक माह पहले ही त्रिनिडाड दीपावलीमय होने की प्रक्रिया में बंध जाता है। नवरात्र आरम्भ होते ही एक माह के व्रत आरम्भ हो जाते हैं। यहां अधिकांश के लिए व्रत का अर्थ है एक माह के लिए मांसाहार को तिलांजली। मुझे जब मेरे एक विद्यार्थी ने बताया कि दीपावली पर हम उपवास रखते हैं तो मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। हम भारतीयों के लिए तो यह त्योहार खाने-पीने मौज और मस्ती का त्योहार अधिक है। भारत में दीपावली धर्मिक कम सामाजिक उत्सव के रूप में अधिक मनाई जाती है परन्तु इसके विपरीत त्रिनिदाद में यह एक सामाजिक कम धर्मिक आयोजन अधिक है।

सात समुद्र पार किसी स्थान का नाम दीवाली नगर सुनकर भारतीय मन उत्साह से भर जाता है, लगता है जैसे अपनत्व का

वसंत बिखेरे कोई बुला रहा है। दीवाली नगर के प्रांगण में एक सप्ताह पहले दीपावली के कार्यक्रमों का शुभारम्भ हो जाता है। दीवाली नगर, त्रिनिदाद के भारतीयमूल के लोगों का सांस्कृतिक -स्थल। नाम दीवाली नगर है पर यहां होली भी खेली जाती है। दीवाली नगर के द्वार पर पहुंचते ही द्वार से लगभग तीस गज दूर, मध्य में स्थित शिव की मूर्ति आने वाले को समझा देती है कि वह कहां आ रहा है। यदि आप शिव की मूर्ति को प्रणाम करें या करे बिना भी चले जाएं तो आप दीवाली नगर के मुख्य हाल में प्रवेश कर जाएंगें। वातानुकूलित इस हाल के चारों ओर गलियारा है जिसमें हिन्दू धर्म और संस्कृति की जानकारी देने वाली चित्र प्रदर्शनी लगी रहती है। दीवाली नगर के हाल में लगभग 500 व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था है। सामने एक मंच है जिसकी बाईं ओर तुलसीदास का रामचरितमानस लिखते हुए बड़ा चित्र है और दाईं और सरस्वती का चित्र है। मध्य में विशाल आयताकार चित्र जिसके सामने के भाग में पहाड़ के सामने समुद्र के किनारे शिवलिंग के सामने हाथ जोड़े दो भक्त हैं और किनारे पर बनारस शिव मन्दिर। यदि कोई बड़ा आयोजन हो तो बाहर खुले में तम्बू लगाकर किया जाता है। दीवाली के अवसर पर कार्यक्रम के उद्घाटन से लेकर समापन तक के सभी सांस्कृतिक कार्यक्रम दीवाली नगर के बाएं ओर बने खुले मैदान में तम्बू लगा कर होते हैं। दीवाली नगर में सात रात लगातार चार- पांच घंटे के सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं और कहा जा सकता है कि इस अवसर पर त्रिनिदाद की प्रत्येक प्रमुख संस्था अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करती है। ये कार्यक्रम खुले में तम्बू लगाकर किए जाते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अतिरिक्त दीवाली नगर के प्रांगण में मेले, खाने पीने, पहनने, सौंदर्य - प्रसाधन, आदि के सुसज्जित स्टाल दर्शको को अपनी ओर लुभावने नारों से बुलाते हैं। भारतीय वस्तुओं के स्टाल पर अद्‌भुत भीड़ होती है।

वैसे तो पूरा त्रिनिदाद दीवाली के दीयों से जगमगाता है परंतु विश्वविद्यालय और 'फिलिसिटी' की दीपावली देखने लायक होती है। फिलसिटि का अर्थ ही है खुशियों का शहर। सड़क के दोनों ओर जगमगाते घरों को देखकर लगता ही नहीं है कि आप भारत से हजारों मील दूर किसी द्वीप में अकेले हैं। यहाँ दीपावली की भीड़ वीरान के सहारे, या गांव के किनारे वाले मंदिर की तरह अकेला नहीं छोड़ती अपितु अपना हिस्सा बनाती है।

त्रिनिदाद में रहते हुए मैंनें चार दीपावलियों का आंनद उठाया और हर बार यह आनंद पहले से अधिक आनंददायक था। कह सकते हैं कि चार वर्ष में यह आनंद चौगुना हो गया। पर फिलिसिटि में मनाई गई दीपावली पहले प्यार जैसी है।

मेरी हिन्दी की एक छात्रा लक्ष्मी फिलसिटि में रहती थी। उसने निमंत्रण दिया कि दीपावली की रात मैं उसके परिवार के साथ उसके घर फिलसिटि में दीपावली मनाऊं। लक्ष्मी के परिवार में उसकी मां सोना, पिता रघुनन के अतिरिक्त भाई विवेक, बहनें शकुन्तला और नलिनि हैं तथा दो और बहनें कैनेडा में रहती हैं। पूरा परिवार शाकाहारी, धार्मिक और भारतवर्ष के प्रति विशेष भक्तिभाव रखने वाला है। त्रिनिदाद में रघुनन परिवार जैसे अनेक ऐसे परिवार हैं जो भारतीयों के सामने नत-मस्तक हो जाते हैं। भारत से पधारे व्यक्ति को देखकर मन श्रद्धा से भर जाता है और उसके लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाता है।

पीआरे रोड पर स्थित लक्ष्मी के आवास पर हमारी कार पहुंची और पूरा परिवार स्वागत के लिए बाहर आ गया। हमें एक छोटे से कमरे में बिठाया गया और भारतीय परम्परा के अनुकूल परन्तु त्रिनिदाद की परम्परा के प्रतिकूल बिना मांगे पानी दिया गया। इसके पाश्चात् नाश्ते के नाम पर प्लेट भरकर गुलाब जामुन, बरफी, खुरमा आदि परोस दिए गए। यहां ये मिठाईयां इन्हीं नामों से जानी जाती हैं, भारतीय हो या अफ्रीकी सब जानते हैं कि बरफी, जलेबी या गुलाब जामुन क्या होता हैं। पर यदि आप ये सोचें कि मिठाईयों की बड़ी-बड़ी दुकाने होंगी तो आपके मन को निराश ही होना पड़ेगा क्योंकि आम त्रिनिदादी मिठाई के लिए पेटू नहीं हैं। और हुजूर रसगुल्ला या गुलाब जामुन सुनकर मुंह में पानी मत लाइए क्योंकि इनके नाम पर जो खाने को मिलेगा वो न तो गुलाब जामुन होगा और न ही रसगुल्ला। आम त्रिनिदादी गुलाब जामुन को रसगुल्ला कहता है तथा गिल्ली के आकार में बालुशाही को गुलाबजामुन। पर घबराइए मत, बरफी के नाम पर बरफी और जलेबी के नाम पर जलेबी ही मिलेगी। मेरा मन खाने से अधिक बाहर की धूमधाम में स्वयं को सम्मिलित करना चाहता था पर हमारे मेजबानों का मन भारतीय परम्परा का पालन करते हुए खाने के माध्यम से अपना अपनत्व उड़ेलना चाहता था, और यह अपनत्व ओढ़ा हुआ नहीं था। इसलिए हमें इस विश्वास की रक्षा करनी ही थी। मैं जानता था कि अपनत्व में बंधा यह परिवार सुबह से इस शाम की तैयारी में व्यस्त रहा होगा। वैसे भी आवभगत किसे अच्छी नहीं लगती है। लौटकर खाना भी खाना था इसलिए नाश्ते पर अधिक समय न लगाते हुए हम बाहर आ गए। मैंने घड़ी में समय देखा, दीपावली की रात के आठ बजे थे और दीपावली की रात किसी नई दुल्हन सी सोलह श्रृंगार

किए मुस्करा रही थी। यह समय का अजब चक्र है कि भारत में दीपावली गहमा गहमी के बाद सुख की नींद ले चुकी थी और त्रिनिडाड में अभी अंगड़ाई ले रही थी।

लक्ष्मी के घर से नाश्ता खाकर बाहर निकले तो चारों ओर सड़क पर सिर ही सिर दिखाई दे रहे थे। रेंगती हुई कारों ने भ्रम दिया जैसे मैं दिल्ली के सर्वाधिक व्यस्त बाजार करोल बाग में हूं। जिधर भी निगाह जाती बांस के द्वारा बनाई गई विभिन्न आकृतियों पर दीये जगमगाते मिलते– कहीं ओम् के आकार के, कहीं स्वास्तिक के चिह्न के। एक दूसरे से बतियाते, दीपावली की खुशियां बिखेरते, भारतीय परिधानों में संवरे लोग। चारों ओर दीयों की झिलमिल मुस्कराहट के बीच से निकलते हुए लग रहा था जैसे आकाश गंगा के छिटके सितारों के बीच मंद-मंद दूधिया प्रकाश में लिपटे हुए चले जा रहे हैं। लगभग हर घर संगीत की मधुर ध्वनियां बिखेर रहा था। कहीं से भजनों का अमृत बरस रहा था और कहीं से किसी हिन्दी फिल्म का चर्चित गीत सड़क पर चलने वाली भीड़ के कदमों को थिरका रहा था। अनेक लोग घर के बाहर कुर्सियों पर बैठे आनन्द उठा रहे थे। हर घर दीपावली के दीये का प्रकाश बिखेर रहा था और इसपर जब मैंने चकित निगाह से लक्ष्मी के भाई विवेक की ओर प्रशंसात्मक और कुछ प्रश्नात्मक दृष्टि से देखा तो वह बोला, 'भैया, फिलसिटी में सौ प्रतिशत हिंदू परिवार रहते हैं, इसलिए आपको हर घर जगमागाता मिलेगा।' विवेक की बात को आगे बढ़ाते हुए शकुन्तला ने कहा कि "और गुरू जी जिस घर मे दीये नहीं जल रहे हैं वहां किसी की मृत्यु हुई है।" फिलसिटि जैसा ही आधुनिक गांव सेंट हेलेना है जहां इसी उत्साह के साथ दीपावली मनाई जाती है।

केवल दीपावली ही नहीं जब सत बालकरणसिंह की संस्था 'नृत्यांजली', 'भारत की संस्था', 'श्रीराम भारतीय कला केन्द्र' की तर्ज पर राम कथा को नृत्य नाटिका के रूप में, कत्थक, ओडसी और लोक नृत्य की शैली में राम कथा प्रस्तुत करती है तो मन कलात्मक आनंद से भर जाता है। दशहरे पर रावण के पुतले पर राम जब बाण छोड़ते हैं तो पटाखों और आतिशबाजियों के संग तालियों से वातावरण गूंज उठता है। 'कार्निवाल' के दौरान फरवरी माह में विभिन्न बैंड और रंगीन आकर्षक परिधानों में जब पोर्ट ऑफ स्पेन की गलियां में तीन दिन और तीन रात तक रंगीन मस्त नज़ारों में डूबती हैं तो आधुनिक उत्सव तैरने लगता है। यहां चटनी है तो कैलेप्सो भी है, स्टील पैन है तो तबला, हारमोनियम और वीणा आदि भी है। यहां बलंचिशायार में घुटनो -घुटनो पानी वाली गंगा भी बहती है जिसके किनारे 'गंगा उत्सव' के समय मुंडन भी होते हैं। ये उत्सवों का देश है। त्रिनिदाद और टुबैगो नामक इंद्रधनुषीय देश में अनेक रंग भारतीय मूल के लोगों ने भरे हैं। संगीत, नृत्य, कला आदि की नई परंपराओं से भारतवंशियों ने इस देश को समृद्ध किया है। आज कंधे से कंधा मिलाकर भारतीय मूल के लोग हर क्षेत्र में साथ-साथ चल रहे हैं।

अंततः यही कह सकता हूं-

मैं लौट आया हूं / तुम्हें हजारों मील पीछे छोड/ मैं लौट आया हूं/ अपनी मिट्टी, अपनी गंध के बीच/ क्या, मैं लौट आया हूं !

मैंनें तो /कसकैदे मछली भी नहीं खाई /मैंनें तो/अपनी उम्र भी तुझमें नहीं बिताई/फिर भी /न जाने क्यों, बार – बार तुझी में लौट आता हूं।

✦✦✦

ऑस्ट्रेलिया में भारतीय संस्कृति

—रेखा राजवंशी

भारतीय संस्कृति मिस्र, यूनान और चीन की तरह प्रचीनतम संस्कृतियों में से एक है। भारत ही एक ऐसा देश है जिसने विश्व में अलग पहचान बनाई है। भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार-प्रसार करना और अन्य संस्कृतियों को आत्मसात करना भारत की विशेषता रही है। भारतवंशी विश्व के जिस कोने में गए, वही भारतीयता के बीज बो दिए, भारतीय संस्कृति का प्रचार प्रसार किया।

2016 के जनगणना आंकड़ों के अनुसार ऑस्ट्रेलिया की कुल जनसंख्या 24.4 मिलियन है, जिसका 1.9% हिस्सा भारतीय हैं। भारतीय जनसंख्या जनगणना 2011 की तुलना में 95,362 से बढ़कर 455,389 हो गई है। यहाँ की जनता में ब्रिटेन और न्यूजीलैंड में पैदा हुए लोगों की संख्या सबसे बड़ी है। उसके बाद चीन और भारत से आए हुए लोग हैं।

ऑस्ट्रेलिया भी भारत की तरह एक बहु सांस्कृतिक देश है, जिसका विकास पिछले ढाई सौ वर्षों में हुआ है। 2016 की जनगणना के अनुसार ऑस्ट्रेलिया में 24.4 मिलियन लोग रहते हैं। आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार प्रवासियो में चीन के बाद भारतीयों का नंबर आता है। परन्तु यह भारत की अपेक्षा नया है। यहाँ की संस्कृति विविध देशों से आकर बसे लोगों के मूल्य, परम्पराओं और विश्वासों से प्रभावित हुई है।

ऑस्ट्रेलिया में भारतीय संस्कृति के विकास के पहले यह जानना आवश्यक है कि यहाँ का इतिहास क्या है व लोग यहाँ कब व कैसे पहुंचे?

सन 1770 में जेम्स कुक ने ऑस्ट्रेलिया के पूर्वो हिस्से को को ब्रिटिश सरकार की कॉलोनी घोषित कर दिया और 1778 में ग्यारह ब्रिटिश जहाजों का पहला बेड़ा सिडनी पहुँचा। हालांकि माना जाता है कि ऑस्ट्रेलियाई आदिवासी यहाँ के मूल निवासी हैं, जो 40,000 से 60,000 वर्षों पूर्व इंडोनेशियाई द्वीप-समूह से नाव द्वारा आकर यहाँ बस गए थे।

ऑस्ट्रेलिया में भारतियों का आगमन

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में ब्रिटिश सरकार द्वारा भेजे

सम्पर्क: सिडनी, आस्ट्रेलिया, ई-मेल: rekhalokrajvanshi@gmail.com

गए अभियुक्तों के रूप में कुछ भारतीय यहाँ पहुंचे। 1800 और 1860 के बीच, भारतीयों को मजदूरों और घरेलू श्रमिकों के रूप में काम करने के लिए ऑस्ट्रेलिया लाया गया था। 1843 में एक अमीर व्यक्ति मेजर अलेक्जेंडर डेविडसन 14 भारतियों को नौकर के रूप में विक्टोरिया लाया।

1860 और 1901 के बीच कई लोग कृषि मजदूरों और घुड़सवारों के रूप में काम करने आए, खासकर वे देश के कस्बों में रहे। कुछ लोगों ने ऑस्ट्रेलिया के गोल्डफील्ड (सोने की खोज में) में भी काम किया। विश्व युद्ध के दौरान कुछ भारतीय सैनिकों ने भी ब्रिटिश सेना के रूप में भाग लिया।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अधिक भारतीय हॉकर्स (ठेले वाले), कपास और गन्ने के खेतों में काम करने के लिए रूप में यहाँ पहुंचे। कुछ भारतीय ग्रामीण इलाकों में फेरी लगाकर मसाले और अन्य सामान बेचते थे। कई भारतीय ऊँट चालकों के रूप में, कैमेल ट्रेन चलाने के लिए ऑस्ट्रेलिया आए थे। इन बहादुर भारतीयों को अफगान कहा जाता था जो ऊँट पर लड़कर माल और डाक ऑस्ट्रेलिया के विविध क्षेत्रों में पहुंचते थे। इस तरह के काम में 3000 अफगान या ''घन'' शामिल थे जिन्होंने 1930 के दशक में कार और ट्रेन के आने के पहले तक यह काम किया। उत्तर पश्चिमी भारत के पंजाब क्षेत्र से सिख और मुस्लिम मुख्य रूप से ऑस्ट्रेलिया आए, जिनमें से कई वूलगुल्गा में बस गए थे। सिख समुदाय की एक बड़ी संख्या आज भी वूलगुल्गा में बसी हुई है। भारतियों का यहाँ स्वागत किया गया क्योंकि भारत एक ब्रिटिश उपनिवेश था।

1 जनवरी 1901 को गवर्नर जनरल लॉर्ड होपटॉन द्वारा संघीय संविधान की घोषणा किये जाने पर कॉमनवेल्थ ऑफ ऑस्ट्रेलिया अस्तित्व में आया। मार्च 1901 में पहले संघीय चुनाव आयोजित किये गए ऑस्ट्रेलिया को एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में मान्यता मिली।

1947 में भारत से ब्रिटेन से स्वतंत्र होने के बाद, भारत में पैदा हुए ब्रिटिश नागरिकों की बढ़ती संख्या ऑस्ट्रेलियाई-भारत के साथ ऑस्ट्रेलिया आ गई। अधिकांश ईसाई और शायद एंग्लो-सेल्टिक थे। परन्तु 1966 से ऑस्ट्रेलिया की प्रतिबंधित आप्रवासन नीतियों के समापन के बाद, एक बड़ी संख्या में जो भारतीय यहाँ आए, उनमें डॉक्टरों, शिक्षकों और इंजीनियरों जैसे पेशेवर शामिल थे।

2016 की जनगणना

2016 की जनगणना अधिकांश भारतीय-ऑस्ट्रेलियाई हिंदू हैं जिनकी संख्या 276,000 है। जबकि अन्य भारतीय सिख, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन, जोरोस्ट्रियन और अन्य धर्मों का पालन करते हैं। अगली पीढ़ी तक अपनी भाषा, धर्म और संस्कार पहुँचाने का प्रयास भारतवंशी करते रहे और आज अनेकों मंदिर, गुरुद्वारे और विद्यालय इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

सिडनी के उपनगर 'ऑबर्न' में स्थित, श्री मंदिर ऑस्ट्रेलिया में पहला हिंदू मंदिर है। हिंदू समुदाय की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इस मंदिर की स्थापना 1977 में की गई थी, जब कि सिख समुदाय के प्रयास से पहला सिख गुरुद्वारा वुलगुलगा शहर में 1969 में बनाया गया। दक्षिण ऑस्ट्रेलिया के 'अफगान' कहे जाने वाले भारतीय मुसलमानों ने 1882 के आसपास (कुछ स्रोतों के अनुसार 1861 में) मैरी मस्जिद का निर्माण किया।

भारतीय संस्कृति का प्रचार, प्रसार और निर्वहन इन्हीं धार्मिक स्थलों से शुरू हुआ। भारतीय परंपरा को जीवित रखने हेतु यहाँ विविध नृत्य, संगीत, कला के कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं।

भारतीय भाषाएं

ऑस्ट्रेलिया भी भारत की तरह ही एक बहु सांस्कृतिक देश है, यहाँ हर व्यक्ति को अपनी मौलिक भाषा सीखने और बोलने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है जिसके चलते सभी भारतवंशी अपनी भारतीय भाषाएं बोलने और अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं।

2016 की जनगणना में भारतीय भाषाओँ में हिंदी शीर्ष स्थान पर आई, पंजाबी दूसरे स्थान पर रही। अन्य भारतीय भाषाएं हैं तमिल, बंगाली, मलयालम, गुजराती, तेलुगू, मराठी, और कन्नड़। अन्य भाषाएं भी दर्ज की गई हैं जैसे कोंकणी, कश्मीरी, उडिया, सिंधी आदि। सामुदायिक विद्यालयों के अतिरिक्त ऑस्ट्रेलियाई सरकार द्वारा बनाए गए पाठयक्रम में भी कई भारतीय भाषाओं को सम्मिलित किया गया है।

हिंदी, संस्कृत, तमिल, पंजाबी के अलावा अन्य भाषाओं को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए भारतवंशियों ने सप्ताहांत में भाषा शिक्षण की कक्षाएं लगाने का उपक्रम किया है।

मात्र सिडनी में ही एक संस्कृत स्कूल, दो तमिल स्कूल, दो पंजाबी स्कूल और पांच हिंदी स्कूल चलाए जा रहे हैं। ला ट्रोब यूनिवर्सिटी मेलबोर्न और ए एन यू विश्वविद्यालय कैनबरा में हिंदी शिक्षण की सुविधा उपलब्ध है।

भारतीय त्यौहार

ऑस्ट्रेलिया में भारतीय अपने हर त्यौहार को बड़ी धूमधाम से मानते हैं। होली, दीवाली, दशहरा, ईद, लोहड़ी, गुरु नानक जयन्ती, पोंगल, दुर्गा पूजा, गणेश उत्सव सभी त्योहारों को ठीक उसी तरह मनाया जाता है जैसा कि भारत में। अब जैसे–जैसे यहाँ भारतीयों की संख्या बढ़ रही है वैसे–वैसे त्योहारों पर रौनक भी बढ़ती जा रही है। बस फक्र ये है कि नौकरी के कारण ये त्यौहार सप्ताहांत में ही मनाए जाते हैं, विशेषकर मेले इत्यादि। भारतीय धर्म का सम्मान करते हुए गणेश जी और देवी दुर्गा की मूर्तियों को विसर्जित करने के जल स्थल भी ऑस्ट्रेलियाई सरकार ने निर्धारित किये हैं। ऑस्ट्रेलिया के सभी सांसद इन कार्यक्रमों में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लेते हैं। अब तो ओपेरा हॉउस को भी दीवाली पर प्रकाशित किया जाता है। दीवाली, ईद आदि त्योहारों पर संसद में समुदाय के प्रमुख व्यक्तियों को दावत दी जाती है। जहाँ भारतीय विद्या भवन का होली मेला डार्लिंग हार्बर में विविध रंग बिखेरता है, वहीं हिन्दू काउन्सिल का दीवाली मेला पैरामैटा को आलोकित करता है।

ऑस्ट्रेलिया में बसे भारतवंशी यही प्रयास करते हैं कि बच्चे अपनी सभ्यता और संस्कृति की ज्योति प्रज्वलित रखें। मेलबोर्न और सिडनी के कुछ क्षेत्रों में तो इतने भारतीय हैं कि वहां जाने पर लगता ही नहीं कि हम विदेश में हैं। मंदिरों और गुरुद्वारों में भारतीय वेशभूषा पहने लोग देखकर तो ऐसा लगता है जैसे भारत अब यहीं आ गया हो। सप्ताहांत में मिंटो और हेलेंस बर्ग के खूबसूरत मंदिरों में लोग बड़ी संख्या में जाते हैं। ऑस्ट्रेलिया का दीवाली मेला हो या ईद चाँद का उत्सव, नटराज अकादमी का बॉलीवुड संगीत हो, या विपुल व्यास के नाटकों का मंचन, पूर्णिमा शर्मा की रामायण नृत्य नाटिका हो या विवेकानन्द का

नाटक, इलासा द्वारा आयोजित कविता पाठ हो या बाल भारती हिंदी हिंदी स्कूल का बाल दिवस, भारतवंशी धर्म और जाति भूलकर सभी में उत्साह से भाग लेते हैं। सिडनी, मेलबोर्न, कैनबरा के भारतीय दूतावास में भी गणतंत्र दिवस और स्वतंत्रता दिवस कार्यक्रम आयोजित होते हैं, जहाँ बड़ी संख्या में लोग 'जन-मन-गन' गाते दिखाई देते हैं।

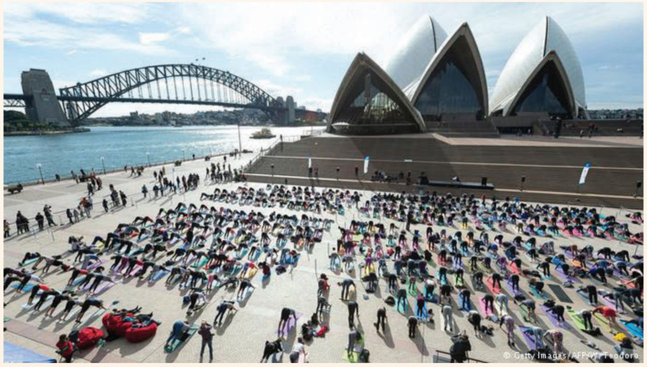

मंदिरों में हवन तो होते ही हैं, घरों में भी लोग विशेष अवसरों पर पाठ पूजा करवाते हैं। शादी विवाह में भी चार पांच दिन तक विविध भारतीय रीति रिवाजों का पालन किया जाता है। त्योहारों के दौरान तो ऐसा लगता है कि एक छोटा भारत यहाँ बन गया है। पिछले दो दशकों में योग और ध्यान के महत्त्व से लोग अवगत हुए हैं। योग सीखने और सिखाने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है।

अब सिडनी दूतावास के भारतीय सांस्कृतिक केंद्र में हर सप्ताह भारतीय कलाओं, नृत्य, योग, और विविध विषयों पर व्याख्यान आयोजित किया जाता है।

भारतीय नृत्य और कला

यहाँ भारतीय नृत्य की भी खासी धूम है, बॉलीवुड के नृत्य जहाँ एक ओर ऑस्ट्रेलियन्स को रिझाते हैं तो दूसरी ओर भारतीय मूल की बच्चियां कत्थक और भरतनाटयम सीखती हुई दिखाई देती हैं। कोई भी सांस्कृतिक कार्यक्रम बिना भंगड़े के समाप्त ही नहीं होता। नृत्य, गायन और वादन सीखने और सीखने वालों की भी कमी नहीं है। हर मेले में इनकी कला का प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाई देता है। रंगोली और अल्पना तो त्योहारों पर बनाई ही जाती है, भारतवंशी कलाकार अपनी कलाचित्रों के कारण यहाँ भी नाम कमा रहे हैं। ऑस्ट्रेलियाई भारतीयों के घर में भारत की कलात्मक वस्तुएं अवश्य सजी दिख जाएंगी।

भारतीय भोजन

भारतीय भोजन पिछले कुछ वर्षों में ऑस्ट्रेलिया में बहुत लोकप्रिय हुआ है। अनेक तरह के भारतीय रेस्टॉरेंट उपलब्ध हैं जिनमे दक्षिण भारतीय और उत्तर भारतीय भोजन परोसा जाता है। समोसे, मिठाई और अन्य ताजे नाश्ते हर जगह आसानी से मिल जाते हैं। हालाँकि भारतीयों को यहाँ 'करी मन्चर्स' का नाम दिया गया है पर ऑस्ट्रेलिया के अधिकांश लोग 'बटर चिकेन' और 'दाल' आदि शौक से खाते हैं। अब तो इतने अधिक ग्रॉसरी स्टोर हैं कि हर वस्तु यहाँ उपलब्ध है। पूजा और हवन के सब सामान के साथ-साथ सब तरह के मसाले और अचार भी मिल जाते हैं।

पिछले कुछ वर्षों में भारत और ऑस्ट्रेलिया के सम्बन्ध मजबूत हुए हैं। भारत से बहुत से छात्र यहाँ पढ़ने आने लगे हैं, यहाँ की अर्थव्यवस्था पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। बहुत सी फिल्मों की शूटिंग भी यहाँ हुई है, फिल्म फेस्टिवल में भारतीय फिल्मों को शामिल किया जाने लगा है। कितने विदेशी युवक और युवतियां बॉलीवुड में काम करने को उत्सुक हैं और कुछ तो भारत चले भी गए हैं। इन सब बातों से यही लगता है कि भारत और भारतियों की छवि यहाँ सुधरी है।

भारतीय संस्कृति की बात हो और क्रिकेट का जिक्र न किया जाए तो यह लेख अधूरा ही रह जाएगा, और वह भी खासकर ऑस्ट्रेलिया में। ऑस्ट्रेलिया और भारत दोनों को ही क्रिकेट का खेल बहुत पसंद है। जब भी मैच होता है सभी लोग इसका बराबर आनंद लेते दिखाई देते हैं। ऑस्ट्रेलियाई भारतीय बच्चे भी बढ़ चढ़ कर क्रिकेट का प्रशिक्षण लेते हैं।

भारत से आने वाले गणमान्य व्यक्तियों का स्वागत ऑस्ट्रेलिया का भारतीय समुदाय बड़े जोश के साथ करता है। राजनितिक, शैक्षिक, साहित्यिक, कला और फिल्मी हस्तियों का यहाँ भव्य स्वागत किया गया। गत वर्षो में प्रधानमंत्री मोदी जी, ग्यारहवें राष्ट्रपति ए. पी. जे. अब्दुल कलाम, बाबा रामदेव, आशा भोसले, ऐश्वर्या रॉय, अमिताभ बच्चन और अनेकों गणमान्य व्यक्तियों का यहाँ आना जाना लगा रहता हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सा, विज्ञान, योग और आयुर्वेद के सम्मलेन भी होते हैं। शायद ही कोई भी ऐसा क्षेत्र बचा हो जिसमे प्रवासी भारतीय पीछे रह गए हों। सिडनी के अतिरिक्त मेलबोर्न, कैनबरा, ब्रिस्बेन, पर्थ, गोल्ड कोस्ट, वूलनगोंग, न्यू कासल, वुलगुलगा आदि जगहों में भी विविध कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं।

ऑस्ट्रेलिया में भारतियों की प्रथम पीढ़ी तो भावनात्मक लगाव रखती ही है, दूसरी पीढ़ी भी अपनी जड़ों से जुड़े रहना चाहती है। इसमें भारत से आए उनके दादा दादी, नाना नानी की विशेष भूमिका होती है, जो न सिर्फ बच्चों को भारत की कहानी सुनाते हैं बल्कि उन्हें अपनी भाषा और संस्कारों से जुड़े रहने के लिए प्रेरित भी करते हैं। भारतीय सीनियर्स के लिए भी सिडनी में बहुत सी संस्थाएं हैं, वे इनके सदस्य बन सकते हैं और मिलजुल कर अंताक्षरी, कविता और गीत सुनते सुनाते हैं। ऑस्ट्रेलियाई भारतीय चाहें देश से कितनी भी दूर हों पर भारत के समाचार पड़ते सुनते रहते हैं। देश में होने वाली राजनीतिक उठा पटक उन्हें इतनी दूर रहकर भी प्रभावित करती है।

बदलते हुए वैश्विक परिदृश्य ने भारतवंशियों को भी प्रभावित किया है। बच्चे त्यौहार मनाते तो हैं पर इनकी कहानियां नहीं जान पाते। काम काज के कारण त्यौहार और उत्सव छोटे हो गए हैं। पाश्चात्य सभ्यता में पली–बढ़ी युवा पीढ़ी हर बात का वैज्ञानिक विश्लेषण करती है। अब चुनौती यह है कि भारतवंशियों की तीसरी और चौथी पीढ़ियां भारतीय परम्पराओं और संस्कारों से कैसे और कितना जुड़ाव रखेंगी।

✦✦✦

नीदरलैंड में भारतीय संस्कृति

—पुष्पिता अवस्थी

भारतीयों की आध्यात्मिक चेतना के चरमोत्कर्ष और परम आराध्य, युग-युगांतर से सत्य, धर्म नीति, त्याग और मर्यादा के सर्वोच्च मानदंड स्थापित कर जनमानस में सर्वदा के लिए अपनी कीर्ति को अमर करने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम का सात समंदर पार नीदरलैंड में भी उद्‌घोष हो रहा है। विश्वास भाव आस्था का जनक है, आस्थाएं सृजन की जननी हैं और सृजन अनंत एवं अविनाशी है, अलौकिक है और संसार को सीमा रहित बनाता है। इस मान्यता के प्रतिमान ऐसे ही महान् दृढ़ प्रतिज्ञ महानायकों ने ही स्थापित किए हैं, जिनकी सदियों में भी वर्तमान है और भविष्य भी सुनहरे जीवन से आच्छादित है। नीदरलैंड ने भी विश्व के लिए अनुकरणीय आदर्श भगवान श्रीराम के प्रति आत्मिक भाव प्रकट किए हैं, जिसके फलस्वरूप नीदरलैंड के अम्स्टर्डम शहर के हाईवे के बगलगीर अपकाउडो स्थान पर श्रीराम धाम में गत पांच वर्ष से रामधुन गूंज रही है, जिसका निनाद चारों दिशाओं में है।

नीदरलैंड ऐसा देश है, जहां आर्यसमाजियों और सनातनियों के कई उपासना स्थल है, जहां हिंदू धर्म और भारतीय संस्कृति की अपनी तरह से साधना होती है। सूर्यास्त की बेला से ही भक्तगण श्रीराम धाम मंदिर में सपरिवार सूर्यवंशी श्रीराम के जीवन चरित्र का सरस संगीतमय बखान सुनने के लिए एकत्रित हो जाते हैं, जहां राम संस्कृति के अद्‌भुत दर्शन होते हैं, जिसमें श्रद्धालुजन अपने चित्त में विलक्षण परिष्कार का सुख अनुभव करते हैं। 'कलियुग केवल नाम अधारा। सुमिर-सुमिर नर उतरहिं पारा।' वस्तुतः रामचरितमानस की चौपाईयां मनुष्य के मन-मस्तिष्क में संपूर्णता और सुरक्षा प्रदान करती हैं और जब इनका गुणगान मंदिरों में विद्यमान जनसमूह में हो तो वातावरण आगाध भक्तिमय हो जाता है। मंदिर होते ही इसीलिए हैं, ताकि मनुष्य को आत्मकेंद्रित होने में तनिक भी व्यवधान न हो क्योंकि उस समय सभी का मन-मस्तिष्क अपने आराध्य की लीला में लीन होता है, नीदरलैंड में यह वंदन का आत्मिक अनुभव और वातावरण अत्यंत मनभावन है और भक्तगण ऐसी चिंताओं से मुक्त होकर अपने आराध्य में लीन हो जाते हैं, जो उनके बाह्य सुरक्षापक्ष से जुड़ी होती हैं।

सम्पर्क: 1764, औट्रम लाइन्स, डॉ. मुखर्जी नगर (किंग्ज्वे कैंप), दिल्ली - 110 009 ई-मेल: kkgoswami1942@gmail.com

आध्यात्मिक चेतना के चरम को प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार के विघ्न से निश्चिंत होना आवश्यक है और यह नीदरलैंड में दिखाई देता है, जहां सभी को अपने-अपने धर्मों को अपने धर्मस्थलों पर निर्भय और स्वतंत्रता के साथ चिंतन-मनन और दर्शन की आजादी है। यदि हम अपने भारत में उपासना पद्धति की स्वतंत्रता का पक्ष देखें तो यह बहुत विलक्षण है और भारत को महान् राष्ट्र बनाता है, मगर एक पक्ष बहुत कमजोर है, जिसमें, भारतीय मंदिरों में सभी के मन-मस्तिष्क पर इष्ट के दर्शन निमित्त अनेक मुश्किलों और बाधाओं का सामना करना होता है। ख्याति प्राप्त भारतीय मंदिरों में प्रहरी की तरह खड़े पंडित-पंडे जब तुरंत आगे बढ़ने के लिए धकियाते हुए आदेश देते हैं या मंदिरों में सुरक्षा के नाम पर यही कर्म पुलिसकर्मी करते दिखाई देते हैं तो भक्तों को ईश्वर के आशीष की जगह धक्का-मुक्की की पीड़ा झेलनी पड़ती है, जिसकी मार तन पर ही नहीं बल्कि मन-मानस पर भी नकारात्मक चिह्न बनाती है, जगह-जगह लिखा होता है—अपने सामान की सुरक्षा स्वयं करें, जेबकतरों से सावधान! जो कि भक्ति से सराबोर मन को कहीं भीतर तक आहत करता है, मगर यहां ऐसा नहीं है। नीदरलैंड के जनजीवन में सभी के लिए सुरक्षा और स्वतंत्रता और विभिन्न पद्धतियों में आध्यात्मिक चेतना का पक्ष बहुत मजबूत है, तभी यहां पर भव्यरूप से 'श्रीराम धाम' का निर्माण हुआ है।

अम्स्टर्डम में नीदरलैंड के अन्य मंदिरों की तरह तीन से पांच घंटे तक श्रीराम धाम मंदिर में दर्शन, भजन, कीर्तन, प्रवचन और आरती का समां बना रहता है। शब्दों का अर्थ जाने बिना भी भक्तों के भीतर सारे अर्थ सहसा खुल जाते हैं जिसके प्रकाश में उनका चेहरा झिलमिलाने लगता है। यहां प्रवासी भारतीयों, सूरीनामी हिंदुस्तानियों के साथ-साथ डच और नीग्रो भक्तों का भी जमावड़ा रहता है, जो पंडित रामदेव कृष्ण के सहयोग से डच भाषा में अर्थ अनुवाद किए हुए रामचरितमानस की रोमन लिपि की पंक्तियों को मंदिर के व्यास और रामचरितमानस के सरस गायक आचार्य सुरेंद्र उपाध्याय से भाव-विभोर होकर श्रवण करते हैं और उनके साथ भक्ति आनंद में डूबकर गाते हैं। उस सांझ के लिए वे दु:ख, तनाव और संघर्ष की पीड़ा से स्वयं को मुक्त अनुभव करते हैं। उनके चेहरों पर संतोष की चमक दिखती है। विश्व हिंदू परिषद से संबद्ध नीदरलैंड हिंदी परिषद् से जुड़कर श्रीसनातन धर्म नीदरलैंड के तत्त्वावधान में वर्ष भर आयोजनों की गतिविधियां सक्रिय रहती हैं, जिसमें सूरीनामी हिंदुस्तानी सविता जगलाल सचिव का कार्य संभालती हैं तो हान्स और प्रेम सांद्रा पांडेय अन्य व्यवस्थाओं और जनसंपर्क का विशिष्ट काम करते हैं।

श्रीरामचरितमानस का नीग्रो बाला योहाना पर बड़ा ही प्रभाव है। वह राम की भक्ति में झूमते हुए और राम-राम जपते हुए श्रीराम मंदिर की स्वच्छता का भी भरपूर ख्याल रखती है। नीदरलैंड में इस तरह है श्रीराम भजन में लीन भक्तों का यह वैश्विक समुदाय, जहां विभिन्न देशों और संस्कृति तथा भाषा के लोग श्रीराम संस्कृति के सागर में गोते लगाते हुए भेदों से मुक्त हो जाते हैं। वासंती नवरात्र में यहां भक्तों का तांता लगा रहता है। रामनवमी की छटा देखते ही बनती है, जिसका असर यथावत् है। मजीरा बजाते हुए और रामलीला का बखान करने में निमग्न पंडित सुरेंद्र शंकर की हर्षित मुद्राएं देखने को राम भक्तों की भीड़ उमड़ी होती है। वे रामभक्ति का आनंद महसूस करते है। नवरात्र में आचार्य जी ने साहित्यकार नरेंद्र कोहली का सादर स्मरण करते हुए उनकी 'तोड़ो कारा तोड़ो (विवेकानंद) और 'अभ्युद्य' कृतियों की विशिष्ट चर्चा की और उन पुस्तकों के माहात्म्य का भी बखान किया।

नीदरलैंड में 'मानस-सेतु' नाम से त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन होता है, जिसमें लोगों को मानस से जोड़ने वाली शक्तियों के स्रोत को प्रकट होने से बड़ा ही संतोष मिलता है, जिसमें एक साथ डच और हिंदी भाषा में वैश्विक भक्ति और संस्कृति के भक्तों, साधकों और विद्वानों के आलेख प्रकाशित होने की योजना है, क्योंकि 'भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।' इसके संपादकीय में आचार्य सुरेंद्र शंकर उपाध्याय ने भक्तों का आह्वान करते हुए जयघोष किया है कि धर्म का मूल उद्देश्य है—जोड़ना, इसलिए गुरु विश्वामित्र ने श्रीराम को 'धरम सेतु पालक तुम प्राता' कहा है। दो वर्ष से रामचरितमानस के रोमन लिपि के साथ डच भाषा और अंग्रेजी भाषा अनुवाद के साथ रमकर श्रीराम को पढ़ते, गुनते हैं। अंग्रेजी भाषा में अनुवाद के साथ पंडित सुरेंद्र शंकर उपाध्याय और अन्य सहयोगी विद्वान् हिंदी भाषा में अन्य कृतियों का उदाहरण देकर विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। भजन-कीर्तन और व्याख्यानों के उपरांत सब मिलकर आरती करते हैं। प्रसाद उपलब्ध हो जाने के बाद कुर्सी की पंगत में बैठकर सभी भक्तगण मंदिर में ही तैयार हुए भोजन को ग्रहण करते हैं।

यह है धर्म-अध्यात्म से ओतप्रोत जीवनशैली का विराट संगम। यही जीवन का चरमोत्कर्ष भी है, जिसमें न भेद, न जाति और न

छोटे-बड़े का भान होता है। भजन के दौरान भक्तों के हाथों में भजन की पुस्तिकाएं होती हैं, जिसमें संस्कृत-हिंदी के श्लोक, भजन देवनागरी लिपि के साथ रोमन लिपि में भी लिखे रहते हैं। आंखों के सामने शब्द होते हैं, जबकि मन सहज ही अर्थ में लीन हो जाता है। प्रतिदिन भक्तों की संख्या सौ से दो सौ के बीच रहती है। हिंदी भाषा और श्रीराम संस्कृति के प्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस ही भजन-कीर्तन और प्रवचन का आधार रहती है—'सीताराम चरित अति पावन। मधुर सरस अरु अति मन भावन।' इसमें भारतीय संस्कृति बनाम मानव संस्कृति के गुणसूत्र प्रचारित होते हैं, जो मन-मानस के परिष्कार सूत्र सिद्ध होते हैं। 'श्रीराम धाम' मंदिर के पंडित आचार्य सुरेंद्र शंकर उपाध्याय भक्तों में भक्ति का तन्मय उन्माद जगाते हैं, जिसमें दृश्योगियों के अनहद नाद का सगुण आनंद शामिल रहता है। हिंदी भाषा से दोहा-चौपाई की संगीतमय व्याख्या हिंदी भाषा के प्रचार से संलग्न है।

'श्रीराम धाम' एक भव्य मंदिर होने के साथ-साथ हिंदी भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार की पाठशाला भी है, जहां विभिन्न जाति-भाषा देश के लोग आपस में मिलकर एक हो जाते हैं क्योंकि श्रीराम की संस्कृति एकाकी संस्कृति की द्योतक है, जिसके माध्यम से भारतीय संस्कृति की वैश्विक गुणवत्ता उद्घाटित होती है, जिसे हान्स और योहाना जैसे भक्त, आचार्य उपाध्याय को मन से एक ओर पापा कहकर उन्हें अपना ईश्वरीय संरक्षक मानते हैं तो दूसरी ओर मानस स्तर पर उन्हें अपना गुरु मानकर अपने जीवन का मार्गदर्शक स्वीकार करते हैं। हिंदी यूनिवर्स फाउंडेशन से जुड़े श्रीराम धाम का लक्ष्य हैं—'परहित सरिस धरम नहि भाई।' आस्था किसी भी मनुष्य और प्राणीमात्र का रोम-रोम में समाया हुआ वह तत्व है, जो नि:स्वार्थ जीवनशैली की विरासत है, अपने और पराए की कसौटी पर खरा उतरा भाव है।

मैं भारतवर्ष में जन्मी हूं, जहाँ तमाम भेदों से दूर धर्म, अध्यात्म, संस्कृति, उपासना, पावन प्रेम और सौहार्द जैसा कहीं और वातावरण नहीं मिलता। मुझे गर्व है कि मैं यहां भी इसकी भागीदार बनकर इसको फलते-फूलते देख रही हूं। नीदरलैंड में व्याप्त भारतीय संस्कृति का पुण्य प्रताप और आशीर्वाद सभी को प्राप्त हो।

✦✦✦

फ्रांसीसी साहित्य में भारत और भारतीय संस्कृति

—राज हीरामन

फ्रांस में जन-क्रांति - 1789

फ्रांस के इतिहास में 17वीं शताब्दी का 1789 साल एक महत्त्वपूर्ण साल माना जाना चाहिए, क्योंकि उसी वर्ष फ्रांस में जन-क्रांति हुई थी और उस से दुनिया प्रभावित हुई थी। जन-क्रांति यानि फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों ने अपने देशवासियों की सांस्कृतिक गतिविधियों का लेखा-जोखा लेना चाहा था तत्कालीन फ्रांस में जीवन मूल्यों का अमूल्यन सा हो रहा था उस क्रांति के प्रायोजक थे-ज़ीरोदें जां जाक रूसो, बालतेर और बेररादें दें से लेर। जो फ्रांस अकादमी के सदस्य थे।

16वीं शताब्दी में ही फ्रांसीसी फ्रांस्वा बेरन्ये ने लिखा कि भारत की प्रसिद्धि पहले से फ्रांस में फैल चुकी थी और फ्रेंच यात्री भारत की खोज में मुगल राज्य भारत जाने लगे थे।

फ्रांस्वा 1656 में भारत गए और वहां लगातार 13 वर्षों तक रहे। उनका उद्देश्य विश्व भ्रमण और जानकारी था, पर वहां रहकर भारतीय संस्कृति, साहित्य और उपलब्ध साहित्यों को निर्यात किया। उसी शताब्दी में भारतीय धर्म और भारतीय साहित्य को फ्रांस ने जानना शुरू किया था!

उन्हीं फ्रांसीसी विद्वानों, कवियों, लेखकों, दार्शनिकों में वे थे, जिन्होंने भारतीय संस्कृति, भारतीय वैदिक धर्म व साहित्य तथा भारतीय साहित्य भारत से फ्रांस आयात किया और अपनी जनता (फ्रांसीसी) की सांस्कृतिक भूख मिटाई, सुप्त जनता का जागरण किया और फ्रांस को संस्कृति को समृद्ध किया।

फ्रांस्वा बेरन्ये (Francois Barrier 1620 - 1688) की भारत यात्रा

फ्रांस्वा बेरन्ये कोई साहित्यकार नहीं थे, पेशे से चिकित्सक थे और सिर्फ विश्व की खोज व जानकारी के लिए उन्होंने 1656 में मुगल भारत की यात्रा की थी। वे सीरिया और मिस्र से होते हुए वहां पहुंचे थे। 13 वर्षों तक भारत में रहने के बाद वे 1669 में फ्रांस लौटे थे।

सम्पर्क: मॉरीशस ई-मेल: rajheeramun@gmail.com

भारत से ही उन्होंने अपने मित्र कोलबेर (Colbert) को (भारत की महान संस्कृति, वैदिक धर्म और साहित्य तथा बेशुमार सोने-चांदी की खान पर) एक पत्र लिखा और भारत आने को कहा। कोलबेर ने 1664 में भारत जाकर एक कम्पनी खोली।

भारत लौटते ही फ्रांस्वा ने अपना भारत यात्रा-वृत्तांत लिखा - जिसमें उन्होंने ताजमहल पर हिन्दुओं और मुगलों की धार्मिक मान्यताओं पर बड़े ही सूक्ष्म और अद्‌भुत तरीके से लिखा है।

उनकी इस पुस्तक के बाद यूरोपीय, खासकर फ्रांसीसी लोग भारत की खोज में निकल पड़े और भारत जानने के लिए उत्सुक होने लगे। फ्रांस्वा बेरन्ये के भारत से फ्रांस लौटने के बाद ही भारतीय परिकथाएं (पंचतंत्र) फ्रांस में प्रचलित हुईं।

फ्रांस्वा बेरन्ये की इसी भारतीय यात्रा से लाभ उठाने वालों में फ्रांसीसी कवि और कथाकार जां ला फोंतेन का नाम आता है।

ज़ां ला फोंतेन (Jean La Fontain 1621 - 1695) और पंचतंत्र

जां ला फोंतेन कवि, कथाकार, दार्शनिक और वकील थे। वे चारण थे और राजे-महाराजों के संरक्षण में रहते थे। वे फ्रांस में अपनी परिकथाओं के लिए ही प्रसिद्ध हुए और अपने देश के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान पाया। फ्रांस का बच्चा-बच्चा आज भी ला फोंतेन की परिकथाएं चाव से पढ़ रहा है और उनका कॉमिक को अपनी टी.वी. में देखकर धन्य और आनन्दित हो रहा है।

जां ला फोंतेन ने 1668 में अपना पहला परिकथा-संग्रह प्रकाशित करवाया और मकबूलियत पर आ गए। उसमें 124 डॉल्फिन मछली पर आधारित 'स्लोप' की कहानियां हैं। अपने दूसरे संग्रह के लिए उन्होंने भारतीय ऋषि-मुनि 'पिल्पे' का आभार माना। फ्रांस में विष्णु शर्मा को पिल्पे नाम से जाना जाता है, वहां पंचतंत्र को 'पिल्पे की परिकथाएं' कहा जाता है।''

'बारहसिंगा', (Le carf se voyant dans L'eau), 'शेर और चूहा' (Le lion et le Rat), 'अंगूर खट्टे हैं' (Le Renard et le Raisin) 'मजदूर और उनके बच्चे' (Laboureur et ces enfant) 'खरगोश और कछुआ' (Rien sert de courire)] 'बंदर का न्याय' (Le singe et le deux chats), 'कछुआ और बत्तख' (Les canards et le tortue) आदि पंचतंत्र की कहानियां देकर ला फोंतेन फ्रांस के सांस्कृतिक धरोहर कोष में अपना विशिष्ट स्थान बना लेते हैं।

1678-1679 और 1693-1694 के बीच अपने 6 परिकथा - संग्रह प्रकाशन के लिए, विशेषकर पूर्व भारत के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि भारतीय परिकथाओं का सूत्र फ्रांस्वा बेरन्ये के भारत से फ्रांस लौटने (1669) पर ही उपलब्ध हुआ है।

ला फोंतेन की अधिकतर परिकथाएं भारत की जन्मी हैं। पिल्पे (विष्णु शर्मा) द्वारा लिखी और 'पेहलरी' (पुरानी फारसी) में अनुवादित, जो ग्रीक और अरबी देशों से है, ला फोंतेन ने अनुकूलन (आडाप्टेशन) का ही काम किया है। *''उन्होंने यहां-वहां, इधर-उधर की पुरानी सभ्यताओं के अेक्स्ट अपनाए, जो नैतिक सीख देते हैं। उन्होंने पिल्पे द्वारा लिखित और DAVID Sahib द्वारा फ्रेंच अनुवाद का ही पुनर्लेखन किया।*

बेरनांदे सें प्येर (Barnadin de Saint Pierre 1737-1814) और 'पॉल और वर्जिनी'

बेरनां दे सें प्येर फ्रांसीसी शहर हाव्र में जन्मे थे। नौकरी की तलाश में विदेशों में भटके और आखिर में 1767 में मॉरीशस पहुंच गए। यह टापू तब फ्रेंच आधिपत्य में था और 'ईल्ल दे फ्रांस' (फ्रांसीसी टापू) के नाम से जाना जाता था।

सें प्येर प्रकृति-प्रेमी थे। यहां तीन वर्षों तक प्राकृतिक छटा के अध्ययन के बाद वे 1770 में फ्रांस लौट गए थे। 'रूसो जैसे दार्शनिक और चिंतक के सान्निध्य में रहकर उन्होंने पॉल और वर्जिनी' दुखांत उपन्यास लिखा'' और वह 1787 में प्रकाशित हुआ।

''फ्रांसदेशे पुर घाटितः दुःखदायिका अपि घटनाः''

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ''पॉल और वर्जिनी'' का सरल बंगला अनुवाद पढ़कर लिखा था, ''मैंने कितने आंसू बहाए हैं, उसका ठीक पता नहीं''

'पॉल और वर्जिनी' में भारत और भारतीय संस्कृति

''पॉल और वर्जिनी में प्रथम पृष्ठ से लेकर अंतिम पृष्ठ तक

भारतीयता के एक से एक तत्त्व देखे जा सकते हैं। भारत के अनेक स्थानों (कलकत्ता, ढाका (अब बांग्लादेश), केरल आदि) पशु-पक्षियों, कपड़ों, माल का ज़िक्र आता है'' मॉरीशस की पृष्ठभूमि पर छपी इस पुस्तक के पात्र भारतीय ही जैसे हैं, शाकाहारी भोजन करते हैं, जिनमें कन्दमूल, फल और फूल हैं। वे नींबू का रस, जायफल और चीनी से शरबत तैयार करते हैं। उबले हुए चावल का कलेवा लेते हैं। भूमि पर बैठकर भोजन करते हैं। मेहमानों का आदर-सत्कार करने में कंजूसी नहीं करते हैं। उनके मनोरंजन के साधन पवित्र होते हैं। पॉल और डोमिंगो खेती करके दोनों परिवारों का भरण-पोषण करते हैं। अनाजों में गेहूं, जौ, बाजरा आदि का उल्लेख है। फलों में नारियल, नींबू का भी ज़िक्र है।

सें प्येर गद्य काव्य लिखा करते थे। उनके ग्रन्थों में भारत की प्रशंसा खूब रहती थी। भारत उस समय किन-किन बातों के कारण यूरोप में प्रसिद्ध था, इसका भी उल्लेख आया है

इंग्लैण्ड और अमेरिका में 18वीं शताब्दी के अंतिम 12 वर्षों में इस पुस्तक के अनुवाद का पूरा नाम 'पॉल और वर्जिनी : एक भारतीय कहानी' रखा गया था।'' पर मॉरीशसीय इतिहासकार श्री प्रह्लाद रामशरण ने *'पॉल और वर्जिनी'* का अनुवाद *'अमर-प्रेम'* से किया है जिसका प्रकाशन राजपाल एण्ड सन्स ने किया है।

सें प्येर ने *'पॉल और वर्जिनी'* के तुरन्त बाद 'La chaummière Indienne' प्रकाशित किया। इस कहानी से उन्होंने *सुन्दर ढंग से बताया कि यही भारत की शिक्षा है कि समता मनुष्य का मूलगत धर्म है। मॉरीशसीय विद्वान प्रो. वासुदेव विष्णुदयाल ने इसका हिन्दी अनुवाद 'भारतीय झोंपड़ी' से किया है* इस रचना की भूमिका में भारत है।

वोलतेर (Voltaire 1694-1772)

अपने प्रसिद्ध 'दार्शनिक कोश' (विश्व का पहला) में फ्रेंच लेखक वोलतेर ने भारत के साथ न्याय किया है उनका कहना है कि *''भारतीय पुस्तकों में सिर्फ शांति और मधुरता का आह्वान हुआ है* वे कभी भारत नहीं गए थे पर उन्होंने हमेशा अपने हमवतन लेखकों को सलाह दी कि वे भारत से लेखन का सूत्र रहे।

वोलतेर का दावा था *कि जो भी हमें (फ्रांसीसियों) प्राप्त है सब गंगा के तट से है,* 'astronomie, astrologie, metapheose' *आदि ग्रीस तो भारत और मिश्र का सिर्फ शागिर्द मात्र था। हम (यूरोपीय) जंगली और असभ्य थे जब वह प्रजा (भारतीय) पढ़ी-लिखी, सभ्य और ज्ञानी थी। हम उसका (भारत का) मुकाबला नहीं कर सकते और अपने से उसकी तुलना भी नहीं कर सकते!*

भारत के *'वाजपेयी'* से प्रचलित *पंडित ब्रजनाथ कुराल पत्रकार ओर अनुवादक ने फ्रेंच लेखक वोलतेर के प्रसिद्ध उपन्यास 'फोंजिस' का हिन्दी रूपांतर किया है* इसका प्रकाशन राजकमल द्वारा हुआ है।

ल्वी ज़ाकोल्यो (Louis Jacolliot 1837-1890)

ल्वी ज़ाकोल्यो का जन्म 31 अक्टूबर 1837 में फ्रांस के Charolles में हुआ और मृत्यु 30 अक्टूबर 1890 में। वे मात्र 52 वर्ष के थे जब उनका देहांत हुआ। *ज़ाकोल्यो दक्षिण भारत में पधारे हुए फ्रांसीसी थे और वे महानुभाव वेद प्रेमी थे* स्वामी दयानंद से अपरिचित होते हुए भी उन्होंने ''भारत में बाईबल' *नामक ग्रन्थ रचा, जिसमें वेदों की प्रशंसा की गई है*

ज़ाकोल्यो ऋषि दयानंद के नवनिर्मित समाज की ओर आकृष्ट हुए। *इतने में इस फ्रेंच मनीषी के एक ग्रन्थ का अनुवाद 'भारत में ईजील' नाम से हुआ* स्वामी जी ने *सत्यार्थ प्रकाश के 11वें पम्मुलास में लेखक ज़ाकोल्यो के ग्रन्थ की कुछ पंक्तियां दी हैं*

ज़ाकोल्यो के ग्रन्थ में *सत्यार्थ प्रकाश* के अनेक वचनों की व्याख्या की गई है। *अनेक संस्कृत ग्रन्थों के अभाव में जो कुछ किसी निष्पक्ष विदेशी को सूझ सकता था वह सब भारत मित्र ज़ाकोल्यो को सूझा*

परमात्मा के वेद रूपी आदि ज्ञान की शुद्ध और पवित्र पूजा के स्थान में उन्होंने (हिन्दुओं ने) जनसाधारण के लिए क्रमशः देवताओं की आराधना नियत की

ज़ाकोल्यो के समय बहुत से यूरोपीय यह मानने के लिए तैयार नहीं हुए थे कि भारत से ज्ञान विश्व भर में फैला। कुछ लोग कहने लगे कि यूनान से ज्ञान भारत को गया। इस पर ज़ाकोल्यो ने लिखा - *''किसी भी भारतेतर देश में वे सारी रीति-रिवाज़ न*

थे जो हम फारस, मिस्र, यहूदिया, यूनान और रोम में इधर-उधर, दाएं-बाएं बिखरे हुए पाते हैं, वे रीति-रिवाज़ तो अपने पूर्ण रूप और अखण्ड रूप में एकमात्र भारत में ही हैं''

फ्रांसीसी विद्वान ज़ाकोल्यो ने एक चौथाई शती लगाकर भारत में संस्कृत सीखी थी और 'भारत के इंजील' लिखा था।

अपनी अर्धायु के उपरांत भी *ल्वी ज़ाकोल्यो* ने लगभग 50 ग्रन्थ लिखे। अनुवादक, लेखक, वकील, Indologist के भारत-भारतीयता पर लिखे ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

(1) 'Les Devadassi' (देवदासियां) 1868

(2) 'La Bible dans L'inde' (भारत में बाईबल) 1869

या

'La Vie Le zeus Christna (कृष्ण की रासलीलाएं)

(3) 'Les Fils de Dieu' (1873) ईश्वर के पुत्र

(4) Christna et Christ (1874) ईसा और कृष्ण

(5) 'Les Traditions Indo-Asiatiques'. (1876) भारत-एशियाई संस्कृतियां

(6) 'Les Femmes dans L'inde'. (1877) भारत की महिला

(7) 'Le Roi, Pretres et Caste'. (1877) राजा, ब्राह्मण और वर्ण व्यवस्था

(8) 'L'Olympic Brahmanique a mytologie de Manoo' (1881) - The Brahmanic Olympic mythologie of Manoo.

(9) Fakirs (1904)

यह साधना ज़ाकोल्यो ने तीन महीने तक गंगा तट पर रहकर की थी।

रोमें रोलाँ (Romain Rolland - 1866-1944)

रोमें रोलाँ महात्मा गांधी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भारत में जाकर मिले थे और उनसे वार्ताएं की थीं। वे अहिंसा के अनन्य पुजारी थे। वे *लेवों टॉस्टॉय* के भी भक्त थे। वे रामकृष्ण मिशन की राहों के यात्री भी थे। रोलाँ आर्य समाज, स्वामी दयानंद और वेद-प्रेमी भी थे। 1915 में उन्हें साहित्य का नोबल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था।

रोमें रोलाँ ने फ्रांसीसियों को यह खुलासा दिया था कि *''दयानंद स्वामी वेदज्ञ भारत में प्रकट हुए थे, तो प्रथम विश्व युद्ध हो चुका था और द्वितीय विश्व युद्ध के दिनों में सत्यार्थ प्रकाश का फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित हुआ'' ''और तो और आर्य समाज के 10 नियतों को इस फ्रेंच सत्यार्थ प्रकाश के छपने से पूर्व केवल दो बार फ्रेंच में अनूदित किया गया था। प्रथम बार Romain Rolland ने उल्था किया था और द्वितीय बार जब नियमों का उल्था हुआ जब डॉ. श्वेल्जैर का 'भारत के बड़े विचारक' नाम वाली पुस्तक का फ्रेंच भाषांतरण हुआ''*

रोमें रोलाँ ने वैदिक धर्म और वैदिक साहित्य तथा ऋषि दयानंद का जायज़ा लेते हुए कहा था कि *''स्वामी दयानंद अकेले भारत का सुरक्षा ढाल बनकर दुश्मनों के वार के समाने खड़े हैं''*

रोमें रोलाँ महात्मा गांधी और अहिंसा से बहुत प्रेम करते थे उन्होंने महात्मा गांधी, उनके जर्नल और गांधी *'फ्रांस आज़ी'* (France Asie) पत्रिका का गांधी विशेषांक भी निकाला। 'फ्रांस आज़ी' (France Asie) फ्रांस का श्रेष्ठ प्रकाशन है। *जब भी किसी विदेशी पाठक को गांधी और उनके देश भारत के बारे में कुछ जानना होता है तब वे यही पढ़ते हैं''*

रोमें रोलाँ ने *भारतीय महापुरुषों के अत्यन्त सुन्दर जीवन चरित्र लिखे। सर्वप्रथम उन्होंने 'महात्मा गांधी' ग्रंथ रचा जो तत्काल लोकप्रिय हो गया*

रोमें रोलाँ की भारत संबंधी पुस्तकें प्रकाशित इस प्रकार है

1. 'Inde Journal' (1951-1943) Paris, Lausanne, Bale, Editions Vineta 1951, फ्रांस की श्रेष्ठ शोध पत्रिका

2. Gandhi-1924

3. Vie de Ramakrishna' - 1924 रामकृष्ण परमहंस का जीवन

4. L'inde Vivante' - 1929, जिंदादिल भारत

5. Vie de Vivekananda' - 1929 स्वामी विवेकानंद का जीवन

6. Gandhi's Serial

रोमे रोलाँ के द्वारा गांधी को फ्रांस ने अधिक जाना, खासकर उनकी संपादित शोध पत्रिका L'inde Journal और उनके गांधी पर सीरियल द्वारा।

जार्ज जुहामेल (George Duhamel, 1884-1968)

बहुत कम पर भारत को मॉरीशस के द्वारा जार्ज जुहामेल ने प्रचारित किया जो महत्वपूर्ण है, वे फ्रांस की श्रेष्ठ पत्रिका France Asie के लिए लिखते थे।

साल 1948 में जब 30 जनवरी को भारत में गांधी जी की गोली मारकर हत्या कर दी गई थी तब जुहामेल मॉरीशस की यात्रा पर थे। उन्होंने यहां से France Asie के लिए आंखों देखा गांधी – शोक का हाल लिखा था। गांधी पर लिखे मॉरीशस के शोक पर फ्रांस को गांधी जी की अंतर्राष्ट्रीयता का अधिक भान हुआ था।

''हम मॉरीशस में थे, जब हमें यह समाचार मिला था कि अभी-अभी गांधी जी की हत्या कर दी गई है।'' ''..... मैं। आप को सच बताता हूं वह एक अद्‌भुत समय था जो शोक हम ने वहां (मॉरीशस में) देखा..... वहां के भारतीय रो रहे थे.... जुलूस निकला था... लोग प्रार्थनाएं बोल रहे थे।'' जार्ज जुहामेल ने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि *''फ्रांस में इस तरह की घटना पर इस पैमाने पर शोक जुटाव नहीं देखा गया।''*

जार्ज जुहामेल भारत और गांधी प्रेमी थे।

लांज़ा देल वास्तो (Lanza Del Vasto 1901-1981)

लांज़ा देल वास्तो का जन्म इटली में 29 सितम्बर 1901 में हुआ था तथा मृत्यु स्पेन में हुई, पर फ्रांस में उनका एक आश्रम था। वे वहां चले गए थे। वे कवि, दार्शनिक, चित्रकार और अहिंसा के पुजारी थे। उन्हें लोग पश्चिम में गांधीजी के शिष्य से जानते थे। वे पर्यावरण और अहिंसा के लिए भी काम करते थे। वे एकमात्र यूरोपीय थे जो दिसम्बर 1936 में जाकर भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष मूवमेंट (Movement) से जा मिले थे, जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी कर रहे थे। रोमें रोलाँ की पुस्तक *'महात्मा गांधी'* पढ़कर उन्होंने गांधी को जाना था और वे भारत जाकर तीन महीने गाँधी जी के साथ रहे थे।

1937 में वे गंगोत्री गए। उन्होंने 'Gandhi to Vinoba New Pilgrims' 1974 में प्रकाशित की। उनका 'Return to the Soruces' अक्टूबर में प्रकाशित हुआ।

लांज़ा इटानियन के साथ-साथ फ्रेंच और अंग्रेजी में भी लिखते थे।

फ्रांस, फ्रेंच और मॉरीशस

मॉरीशस टापू पहले फ्रांस (1715 से 1810 तक, फिर 1810 से 1968 (आज़ादी) तक ब्रिटिश का उपनिवेश रहा है। इसीलिए यहां का हर कोई (भोजपुरी और कृयोल को छोड़) अंग्रेजी, फ्रेंच और एक भारतीय भाषा जानता है। यानि इन तीनों भाषाओं को बोलता, लिखता और पढ़ता है। यहां की जनता अंग्रेजी से (यद्यपि यह राष्ट्रीय भाषा है) फ्रेंच ज्यादा पसंद करती है। वैसे फ्रेंच यहां की भाषा है और छाई हुई है।

अंग्रेजी, फ्रेंच, हिन्दी और संस्कृत में समान अधिकार रखने वाले मॉरीशसीय विद्वान प्रो. वासुदेव विष्णुदयाल ने फ्रेंच द्वारा भारत और भारतीयता को फ्रांस में प्रचारित करने के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

उन्होंने फ्रेंच शब्दकोश *'ला रूस'* (La Rousse) में गलतियां भी छांट ली थीं। उन्होंने फ्रेंच उपन्यास *'पॉल और वर्जिनी'* (Paul and Virginia) का हिन्दी रूपांतर भी किया। उन्होंने वेदों और उपनिषदों पर सैंकड़ों लेख फ्रांसीसी भाषा में लिखे। उनकी पुस्तक 'Les Hindous at Leur ecriture sacrées' (The Hindous and their Religions Epic) 1965 है। उन्होंने गांधीवाद और भारतीय संस्कृति का फ्रांस में खूब प्रचार किया।

इसके अलावा फ्रांस में कई अन्य लेखक, कवि, दार्शनिक, विद्वान और मनीषि हुए जिन्होंने भारत और भारतीयता का अपने देश फ्रांस और यूरोप में प्रचार किया।

✦✦✦

'मुस्कानों का देश' थाईलैंड में मुस्कराती भारतीय संस्कृति

—डॉ. करूणा शर्मा

संस्कृति और प्रकृति से बेमिसाल संबंध रखने वाला 'मुस्कानों का देश' थाईलैंड एक बहुत खूबसूरत देश है। इस देश का प्रमुख सांस्कृतिक ग्रंथ 'रामकीर्ति' (रामकिएन) है जिसका आधार वाल्मीकि रामायण है। यहाँ के चक्री वंश के शासक रामा कहलाते हैं जैसे रामा एक, रामा दो आदि। ये राजा मूल नाम की जगह रामा नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं जैसे महामहिम 'भूमिबोल अदुल्यदेज' 'रामा नौ' कहलाते थे। यहाँ के एक प्रांत का नाम अयुथ्या है। संस्कृत भाषा के बहुत सारे शब्द थाई भाषा में मिलते हैं। यहाँ के शासक का राज्याभिषेक वर्तमान काल में भी ब्राह्मण पुरोहित द्वारा किया जाता है। इन उदाहरणों से प्रमाणित होता है कि थाईलैंड, 'देव संस्कृति' कही जाने वाली भारतीय संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित रहा है। अब देखना यह है कि क्या आज भी थाईलैंड में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार है? क्या भारत सरकार द्वारा इसके लिए कुछ कार्य किए जा रहे हैं?

वर्तमान समय के चक्री वंश के शाही राजपरिवार ने जब यह अनुभव किया कि देव भाषा संस्कृत का थाई भाषा और संस्कृति पर गहरा प्रभाव है, तब उन्होंने थाईलैंड में संस्कृत के अध्ययन को बढ़ावा देना प्रारंभ किया। परिणामस्वरूप थाईलैंड के प्रमुख विश्वविद्यालयों जैसे शिल्पाकर्ण विश्वविद्यालय, चूलालंग्कर्ण विश्वविद्यालय, महाचूलालंग्कर्णराज विद्यालय विश्वविद्यालय आदि में काफी लंबे समय से संस्कृत का अध्ययन किया जाता रहा है। शिल्पाकर्ण विश्वविद्यालय में तो 1955 से स्नातक स्तर पर, 1974 से स्नातकोत्तर स्तर पर तथा 2000 से पी. एच. डी. के स्तर पर संस्कृत का अध्ययन किया जा रहा है।

थाईयों की संस्कृत में रुचि को देखते हुए 1988 में भारत सरकार द्वारा अभ्यागत प्राध्यापक के लिए 'संस्कृत पीठ की स्थापना की गई जिसे प्रो. सत्यव्रत शास्त्री ने पहली बार सुशोभित किया। उन्होंने थाईलैंड की राजकुमारी महामहिम महा चक्री सिरिन्धौर्न को भी पढाया। यहाँ पर शास्त्री जी के प्रशंसनीय योगदान के फलस्वरूप 1996 में शिल्पाकर्ण विश्वविद्यालय के अंतर्गत 'संस्कृत अध्ययन केंद्र' की स्थापना की गई।

इसी श्रंखला में भारत और थाई सरकार द्वारा एक समझौते के

सम्पर्क: 132, आम्रपाली अपार्टमैंट्स, प्लॉट नं 56, आई.पी. एक्सटेंशन, दिल्ली -110092, ई-मेल: karunajee1957@gmail.com

अंतर्गत थम्मासॉत विश्वविद्यालय में 2013 में 'भारतीय अध्ययन केंद्र' की स्थापना की गई और इसी के अंतर्गत एक 'हिंदी पीठ' स्थापित की गई। इसी पीठ के लिए अभ्यागत प्राध्यापक के रूप में जनवरी 2014 में मेरी नियुक्ति हुई। इस पीठ का उद्देश्य थाईलैंड में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का भी प्रसार करना है। 2015 में रंगसित विश्वविद्यालय में आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार के लिए 'आयुर्वेद पीठ' स्थापित की गई जिसके पहले अभ्यागत प्राध्यापक डॉ अजय कुमार शर्मा थे। वर्ष 2018 में थाईलैंड के प्रांत च्यांगमई में एक अन्य 'भारतीय अध्ययन केंद्र' की स्थापना की गई है।

भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए थाईलैंड की राजधानी बैंकॉक में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद (आई सी सी आर) द्वारा 2009 में 'भारतीय संस्कृति केंद्र' खोला गया जिसे अब 'स्वामी विवेकानंद संस्कृति केंद्र' के नाम से जाना जाता है। यहाँ पर हिंदी, संस्कृत, संगीत, तबला, भरत नाट्यम, कत्थक, योग, आयुर्वेद आदि की कक्षाऐं चलाई जाती हैं। समय-समय पर भारत से विभिन्न कलाकारों, नृत्यकारों, विद्वानों और विशेषज्ञों को बुलाकर उनसे परिचर्चा भी करवाई जाती हैं और उनकी उत्कृष्ट कलाओं का प्रदर्शन भी। इसके अतिरिक्त केंद्र द्वारा थाईलैंड के अनेक स्थलों पर कभी नृत्य के कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं, तो कभी योग के कार्यक्रम। सही अर्थों में यह केंद्र भारतीय संस्कृति के दूत के रूप में कार्य कर रहा है।

जनवरी 2018 से 'हिंदी खबर' चैनल ने थाईलैंड में अपने प्रतिनिधि के रूप में डॉ अलका गुप्ता को नियुक्त किया है जो यहाँ होने वाली सारी भारतीय सांस्कृतिक-सामाजिक गतिविधियों जैसे हिंदी दिवस, गणतंत्र दिवस, योग दिवस, आइफा अवार्डस आदि की खबरें भारतवासियों तक पहुँचा रही हैं।

यहाँ पर भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में प्रयासरत अनेक संस्थाएं हैं जैसे थाई भारत सांस्कृतिक आश्रम, थाईलैंड हिंदी परिषद, इंडियन सोशल क्लब ऑफ थाईलैंड, विश्व हिंदु परिषद, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, आर्य समाज, हिंदु समाज, थाईलैंड तमिल संगम, महाराष्ट्र मंडल बैंकॉक, आर्ट ऑफ लिविंग थाईलैंड आदि। थाई भारत सांस्कृतिक आश्रम थाईलैंड में 1940 में स्थापित एक ऐसी महत्वपूर्ण संस्था है जो थाई और भारत के इतिहास और संस्कृति के विनिमय में अहम् भूमिका निभाती है। इस संस्था द्वारा प्रति वर्ष विभिन्न शैक्षिक आयोजनों के साथ-साथ गांधी जयंती, सुभाष चंद बोस जयंती आदि आयोजन भी किए जाते है।

थाइलैंड में साढ़े तीन वर्ष के प्रवास काल में भारतीय संस्कृति के प्रभाव के संबंध में मेरे जो अनुभव हुए, उन्हें आपसे साझा करना चाहती हूँ।

भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए समय-समय पर थाईलैंड में सम्मेलनों का आयोजन होता है। 2014 में भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के सौजन्य से 'दक्षिण-पूर्व देशों में हिंदी की स्थिति' विषय पर हिंदी सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें सिंगापुर, म्याँमार, इंडोनेशिया आदि देशों ने सहभागिता की।

2015 में 'विश्व संस्कृत सम्मेलन' का सफल आयोजन हुआ जिसमें 60 देशों के 600 प्रतिनिधियों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। इस शुभ अवसर पर थाईलैंड की महामहिम राजकुमारी महाचक्री सिरिन्धौर्न तथा हमारे देश की माननीय विदेश मंत्री श्रीमती सुषमा स्वराज की उपस्थिति ने आयोजन को गौरवान्वित किया। 2015 में थम्मासॉत विश्वविद्यालय द्वारा 'रामायण सम्मेलन' का आयोजन किया गया। इस अवसर पर दोनो देशों की रामायण का मंचन किया गया।

2014 में श्रीनखरिनविरॉट विश्वविद्यालय तथा 2015 में थम्मासॉट विश्वविद्यालय में, थाईलैंड में भारत के राजदूत श्री हर्षवर्षन श्रृंगला के नेतृत्व में भारतीय राजदूतावास, बैंकॉक के सौजन्य से श्री सुशील सर्राफ की अध्यक्षता वाले 'इंडियन सोशल क्लब ऑफ थाईलैंड' द्वारा अन्य भारतीय संस्थाओं के साथ मिलकर 'थाई इंडियन फन फेयर' का आयोजन किया गया। 2015 में थाईलैंड की पर्यटन एवं खेल मंत्री खुन खाबखर्न वट्टनावरांकुल मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थीं। उन्होंने थाई-भारत के संबंधों को अत्यंत प्राचीन और इस मेले को दोनों देशों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों को और अधिक मजबूत करने का आधार बताया। यह मेला अब प्रतिवर्ष लगता है।

यहाँ भारतीय उत्सवों में भी थाई लोग बढ़चढ़ कर भाग लेते हैं। थम्मासॉट विश्वविद्यालय के मैदान में 2016 में 'सोशल क्लब आफ थाईलैंड' द्वारा मनाए जाने वाले 'होली रंगोत्सव' में थाईलैंड के पार्यटन एवं खेल विभाग मंत्री खुन खाबखर्न वट्टनावरांकुल मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित थीं। थाई और भारतीय दोनों ही यहाँ भारी संख्या में उपस्थित थे। इस समारोह में इस सदी के महानायक श्री अमिताभ बच्चन जैसी लंबाई वाले तथा उन जैसे दिखाई देने वाले व्यक्ति ने उन्हीं की शैली में नृत्य करके ऐसा समाँ बाँधा कि सारी भीड़ उनके इर्दगिर्द जमा हो गई और उनके साथ फोटो खिंचवाने की होड़ मच गई। यहाँ बज रहे हिंदी के गानों का अर्थ चाहे थाई लोग नहीं जानते थे, तथापि उन धुनों पर उनका बेहिसाब मस्ती से थिरकना मन को लुभा रहा था।

होली के रंगोत्सव को देखने के लिए 2017 में हम विष्णु मंदिर गए थे। वहाँ पर भीड़ काफी थी। जब होलिका-दहन का अवसर आया, हमारे राजदूत श्री भगवंत सिंह विश्नोई की उपस्थिति में कई विद्वान पंडितों द्वारा सुर और लय में मंत्रोच्चारण किया गया। तत्पश्चात् होलिका-दहन हुआ, फिर फूलों और गुलाल से होली खेली गई।

यहाँ पर एक प्रसिद्ध मंदिर देव मंदिर है जो अपनी सुंदरता में न केवल थाईलैंड में बल्कि साउथ ईस्ट एशिया के सुंदर मंदिरों में से एक माना जाता है। देव मंदिर और विष्णु मंदिर में दीपावली, होली, कृष्ण जन्माष्टमी आदि मुख्य पर्व बड़े स्तर पर मनाए जाते हैं।

भारतीय संस्कृति का प्रतीकस्वरूप हनुमान जयंती समारोह भी यहाँ बड़े ही हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। यहाँ रहते हुए मैं दो बार इस उत्सव में सम्मिलित हुई। इस भव्य आयोजन में भारत से गायक कलाकार बुलाए जाते हैं जो सुंदर प्रस्तुति कर भक्तों का मन मोह लेते हैं।

थाईलैंड के 'स्वर्णभूमि' हवाईअड्डे पर देवताओं और दैत्यों द्वारा किए गए अमृत-मंथन का दृश्य इतने सुंदर और आकर्शक तरीके से निर्मित है कि इसके पास से गुजरता हुआ कोई भी पर्यटक इसके पास खड़े होकर चित्र खिंचवाने का मोह संवरण नहीं कर पाता।

यह देखकर तो मैं आश्चर्यचकित हुए बिना न रह सकी कि थाईलैंड में हिंदु नववर्ष विक्रम संवत् 'भारतीय संस्कृति महोत्सव' के रूप में मनाया जाता है तथा इसके लिए एक भव्य आयोजन किया जाता है। अप्रैल 2017 में 'इंडियन सोशल क्लब ऑफ थाईलैंड' द्वारा मनाए गए इस आयोजन की मैं साक्षी रही।

थाईलैंड के एक प्रांत नखोन नायोक में प्रतिवर्ष आयोजित किए जाने वाले 'गणेशोत्सव' में हजारों की संख्या में थाई और भारतीय समुदाय के लोग भाग लेते हैं। यहाँ लगाई गई भगवान गणेश की विशाल मूर्ति इस उत्सव का प्रमुख आकर्षण है। 'यहाँ दर्शनार्थी सुविधापूर्वक पहुँचें' इसके लिए आयोजकों द्वारा भारी संख्या में बसों की व्यवस्था की जाती है। मैंने भी 2016 में इस उत्सव का आनंद लिया था। इसमें भारतीय तथा थाई कलाकार दोनों ही अपने कार्यक्रमों का सुंदर ढंग से मंचन कर दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर लेते हैं।

भारत द्वारा थाईलैंड में शैक्षिक क्षेत्र में भी पर्याप्त सहयोग किया जाता है। इस क्षेत्र में 2016 तथा 2017 में The great India Education Fair का आयोजन हुआ जिसमें हमारे भारतीय राजदूतावास के श्री अब्बागनी रामू तथा अन्य अधिकारियों के साथ समाज के अनेक प्रतिष्ठित थाई लोग भी उपस्थित थे। इस कार्यक्रम में थाई छात्रों की अधिकाधिक मात्रा में उपस्थिति आयोजकों के उत्साह में वृद्धि कर रही थी।

इस प्रकार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि थाईलैंड में भारतीय संस्कृति की मनोरम छटा यत्र-तत्र बिखरी देखी जा सकती है।

✦✦✦

प्रवासी भारतीय और लोकप्रिय संस्कृति

—डॉ. मुन्नालाल गुप्ता

सांस्कृतिक उत्पादों जैसे-संगीत, नृत्य, साहित्य, कला, फैशन, फिल्म, टी.वी., रेडियो के प्रयोग के ऐसे संग्रहित भंडार को लोकप्रिय संस्कृति कहते हैं। अंग्रेजी के शब्द 'कल्चर' और 'पॉपुलर' का अनुदित रूप हिंदी में 'लोकप्रिय संस्कृति' है। हिंदी में लोक की अवधारणालोक संस्कृति, लोक गीत, लोक गाथा आदि से जुड़ी है। इन सांस्कृतिक रूपों के पास अपने मिथ, रूचि, विश्वास, प्रथा, परंपराएं आदि होती हैं। इनकी सर्व प्रमुख विशेषता एक निश्चित स्थान विशेष व समूह विशेष की किन्हीं निश्चित विशेषताओं को अपने गीतों व कथाओं में व्यक्त करना होता है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार, लोकप्रिय का आधार आम आदमी है। प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ बहुत से स्तर पर भिन्न हुआ करती हैं। बावजूद इसके एक समान विशिष्टाओं वाले वर्ग में सतह पर कुछ एक जैसा घर रहा होता है। लोकप्रिय संस्कृति के सर्जकों ने शास्त्रीय कला रूपों का सामयिक सन्दर्भों में पुनर्निर्माण किया है। सांस्कृतिक प्रक्रिया में यह भी देखा गया है कि कभी-कभी लोकप्रिय संस्कृति का कोई रूप शास्त्रीय कलारूप लोकप्रिय संस्कृति में बदल जाए या लोकवादी संस्कृति में बदल जाए। लोकप्रिय संस्कृति राज्य और शास्त्रीय के आधिपत्य/हेजिमनी के विरुद्ध आमजन के उद्‌गार को व्यक्त करने का माध्यम होती है। (ग्राम्शी अंटोनियो, 1971) भारत में लोकप्रिय संस्कृति के दायरे में पैदा हुए सांस्कृतिक आंदोलनों के रूप में भक्ति आन्दोलन प्रगतिशील साहित्यांदोलन और रविन्द्र संगीत को रख सकते हैं।

लोकप्रिय संस्कृति का प्रमुख आधार है जनमाध्यम। यह जनसंचार के बगैर विकसित नहीं हो सकती। लोकप्रिय संस्कृति हमेशा जनसंचार के उपविभाग के रूप में अभिव्यक्त होती रही है। सीमित संचार साधनों के काल में मानव समाज छोटी-छोटी

सम्पर्क: प्रवासन एवं डायस्पोरा अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र - 442001
मो. 9028226561, ई-मेल: mlgbharat@gmail.com

स्वतंत्र इकाइयों में खंडित रहा। इसके विपरीत, जन संचार के माध्यमों के अभूतपूर्व विकास ने समसामयिक विश्व को संकुचित कर एक बड़ा-सा गाँव बना दिया है। 20वीं सदी के प्रारंभिक दशकों से मीडिया के प्रभाव में निरंतर प्रवाहमान लोकप्रिय संस्कृति ने आम लोगों के दिन-प्रतिदिन के जीवन से गहरे रूप में जुड़कर किसी खास विषय पर आम लोगों की राय और नजरिए में बदलाव लाना प्रारंभ किया। लोकप्रिय संस्कृति के प्रमुख दृश्यगत पहलू हैं – मनोरंजन (चलचित्र, वृत्तचित्र, संगीत, टेलीविजन, खेल), समाचार (प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक, सेटेलाईट), राजनीति, पहनावा, फैशन, टेक्नोलॉजी और खानपान आदि। प्रवासी भारतीयों के जीवन में लोकप्रिय संस्कृति (पोपुलर संस्कृति) की महत्वपूर्ण भूमिका है।

प्रवासी भारतीय उन भारतीय समुदायों से मिलकर बना है, जो इतिहास के विभिन्न काल खंडों में क्रमिक रूप में अलग-अलग व्यवस्थाओं के अंतर्गत भारत से विश्व के अनेक स्थानों के लिए प्रवासित हुए और वहीं बस गए। इन्हें आज भारतीय डायस्पोरा/ अप्रवासी भारतीय/ नया डायस्पोरा/ पुराना डायस्पोरा/ अनिवासी भारतीय जैसे नामों से भी जाना जाता है। प्राचीन काल में व्यापारिक और धार्मिक समूहों, औपनिवेशिक काल में सिद्धदोष, अनुबंधित श्रमिकों 'कुली', गिरमिटिया, कंगनी, मैस्त्री से लेकर स्वतंत्र भारत के 'प्रतिभा-पलायन' से जुड़े भारतीय समुदाय अपने मातृ देश/स्वभूमि (होमलैंड) भारत से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से संबंध बनाये हुए हैं। इन संबंधों को बनाये रखने में लोकप्रिय संस्कृति के विविध रूपों जैसे फिल्म, टेलीविजन, संगीत, खानपान, पहनावा, विचार ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

अर्जुन अप्पादोरई (1990) ने वैश्विक स्तर पर प्रवासित होकर दूसरे देशों में रहने वाले लोगों (भारतीय) के बीच जुड़ाव और सांस्कृतिक तत्वों के आवागमन को बताने के लिए पांच आयामों (एथानोस्केप, मीडियास्केप, टेक्नोस्केप, फिनोस्केप और आइडियास्केप) की चर्चा की है। मीडियास्केप, मीडिया के विविध रूपों के उत्पादन और उसके वितरण से संबंधित है। मीडिया के विविध स्वरुप में शामिल मुख्य तत्व हैं – समाचार पत्र, टेलीविजन, रेडियो, फिल्म आदि। मीडिया के इन स्वरूपों में वैश्विक स्तर पर रहने वाले भारतीय समुदाय के 'वृत्तांत/ नैरेटिव' होते हैं और यह वृत्तांत संसार के कोने-कोने में रहने वाले भारतीय डायस्पोरा समुदाय को एक दूसरे से जोड़कर बृहत भारतीय परिवार/समुदाय के लिए 'कल्पित संसार/ इमेजिंडवर्ल्ड' की रचना करते हैं। मीडिया के माध्यम से प्रसारित होने वाली भारतीय लोकप्रिय संस्कृतियों के विविध रूपों से दूर देशों में रहने वाले भारतीय डायस्पोरा एक दूसरे से गहरे रूप से जुड़ जाते हैं और वे अपने को बृहत भारतीय परिवार का अंग मानने लगते हैं, जिसे बेनेडिक्ट एंडरसन ने (1983) 'कल्पित समुदाय/इमेजिंडकम्युनिटी' कहा है। बेनेडिक्टएंडरसन (1992) की 'लम्बी दूरी राष्ट्रीयता/लॉन्गाडिस्टेंसनेशनलिटी' के विचार का आधार समुद्रपारीय देशों में जा बसे भारतीयों द्वारा अपने को मातृदेश/होमलैंड भारत के बृहत परिवार और राष्ट्रीयता से जुड़ाव की भावना में निहित है।

लोकप्रिय संस्कृति के रूप में वैश्विक भारतीय डायस्पोरा से जुड़ाव रखने वाली बालीवुड फिल्म 'पूरब और पश्चिम' (1970), 'दिल वाले दुलहनियां ले जायेंगें' (1995), 'परदेश' (1997), 'आ अब लौट चलें' (1998), 'भाजी ऑनविच'(1993), 'अमेरिकन चाय', 'फायर', 'द रिलक्टें ट फंडामेंटलिस्टस' 'माईग्रेशन', (2007), 'नेमसेक' (2006), 'मॉनसूनवेडिंग' और 'सलाम बोम्बे', फिजी के भारतवंशी विमल रेड्डी की फिल्में 'अधूरा सपना' (2007), 'घर परदेश' (2009), 'हाई वे टूसुवा' (2013), दीपामेहता की फिल्म 'विदेश' आदि ने विदेशों में बस गए भारतीयों को भावनात्मक स्तर पर जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। कैरेबियन क्षेत्र के देशों यथा- गयाना, ट्रिनिदाद और सूरीनाम की देशज, भारतीय लोकसंगीत और वेस्टर्न लय के फ्यूजन से निर्मित चटनी संगीत वैश्विक स्तर पर रहने वाले भारतीय लोगों को जोड़ने का भी महत्वपूर्ण माध्यम है।

आधुनिक संचार माध्यमों यथा- इंटरनेट, मोबाइल, सेटेलाइट टेलीविजन इत्यादि ने भारतीय डायस्पोरा और भारत में रहने वाले उनके परिवारों के बीच संपर्क को बढ़ा कर उन्हें वैश्विक भारतीय परिवार/समुदाय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसके माध्यम से वैश्विक स्तर पर निवास करनेवाले भारतीयों के बीच सामुदायिकता बढ़ी है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण भारत में घटने वाली किसी भी प्रकार की सामाजिक, सांस्कृतिक या राजनीतिक घटनाओं पर हो रही उनकी प्रतिक्रिया, समर्थन से पता चलता है। संचार माध्यमों ने सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक कार्यक्रमों के द्वारा भारतीय संस्कृति और भाषा का संरक्षण किया गया। मॉरीशस के भारतीय मूल के लोगों ने 1868 में तमिल 'द मार्केट एडवर्टाइजर' समाचारपत्र की शुरुआत की। मणिलाल डाक्टर द्वारा 1909 में अंग्रेजी, गुजराती और हिंदी में 'हिंदुस्तानी' दैनिक पत्र को निकाला और उसके माध्यम से भारतीय गिरमिटिया मजदूरों की समस्या से संबंधित समाचारों को सरकार तक पहुंचाया। साथ ही अपने लेखों द्वारा भारतीय गिरमिटिया मजदूरों और भारतीय लोगों के आत्मसम्मान को बढ़ाया। मणिलाल डाक्टर ने (1912 से 1920 तक) फिजी में बसे भारतीय गिरमिटिया मजदूरों और अन्य भारतीयों को संगठित करने के लिए द्विभाषीय अखबार 'इंडियन सेटेलर' निकाला। महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में स्थापित फीनिक्स फार्म से 'इंडियन ओपीनियन' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया जो पूर्णत: सहकारिता एवं श्रमदान के नियम पर संचालित होता था। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य था पूरे विश्व में जहाँ कहीं भी भारतीय रहते हों उन तक सत्याग्रह से संबंधित घटनाओं को पहुँचाना, दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीय को सत्याग्रह की तालीम देना। (गांधी, 1968:162) इस तरह संचार माध्यमों ने भारतीय डायस्पोरा को संगठित कर औपनिवेशिक काल में संघर्ष के लिए तैयार किया और आज संचार के ये माध्यम वैश्विक भारतीय समुदाय को एक सूत्र में जोड़कर सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने में मदद कर रहे हैं।(लाल, ब्रिज.वी., 2007:104) समुद्रपारीय देशों में बसे भारतीय डायस्पोरा समुदाय की अपेक्षाओं, रुचियों, जरूरतों को लक्ष्य मानकर कई नृजातीय और मुख्यधारा के मीडिया को विकसित और निर्मित किया जा रहा है। 'देस-परदेस' और 'पंजाब टाइम्स' ब्रिटेन के साउथ-हॉल में बड़ी संख्या में बसे भारतीय मूल के पंजाबी समुदाय रुचियों को ध्यान में रखकर खबरें देते हैं। इसी प्रकार से फिजी में बसे भारतीयों को ध्यान में रखकर 'द संडे टाइम', 'शांतिदूत', 'इंडियन सेटलर्स', 'द फिजी समाचार', तारा जैसे संचार माध्यमों को प्रकाशित किया जा रहा है। शांतिदूत समाचार पत्र तो हिंदी भाषा में प्रकाशित होकर फिजी में बसे भारतीय समुदाय खासकर नयी पीढ़ी के लिए भारतीयता के विचार और संस्कृति के विविध आयामों में जानकारी देकर उन्हें प्रशिक्षित करने का भी कार्य कर रहा है। इस संचार पत्र में खेल, धर्म, फिल्म के साथ-साथ फिजी में भारतीय मूल द्वारा बोली जानेवाली भाषा 'फिजी बात' का भी एक कॉलम छापा जाता है। इसके अतिरिक्त विदेशों में कई रेडियो चौनल भी हैं जो भारतीय समुदाय को अपना लक्ष्य मानकर खबरें और मनोरंजन से संबंधित सामग्री परोसते हैं। इनमें से एक है 'सनराइज चौनल' जिसके द्वारा भारत और एशियाई मूल के लोगों से संबंधित खबरों के साथ-साथ हिंदी फिल्मी गाने और भारतीय लोकगान को प्रसारित किया जाता है।

सामान देशज पृष्टभूमि के प्रवासी भारतीयों के पूर्वजों द्वारा लोकप्रिय सांस्कृतिक गठरी के तहत ले जाये गए परंपराएँ, धर्म, रीति-रिवाज, लोकसंगीत, लोककथाएँ, नृत्य, गायन, भाषा, खानपान, स्मृतियाँ, यादें आदि ने वैश्विक स्तर पर भारतवंशियों को जोड़ने का कार्य किया है। भारतीय शास्त्रीय/क्लासिकल नृत्य जैसे ओड़िसी, भरतनाटयम, कुचिपुड़ी आदि ने वैश्विक भारतीय डायस्पोरा को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भरतनाटयम, कत्थक जैसे शास्त्रीय नृत्य वैश्विक भारतीय डायस्पोरा समुदाय को भारत के धर्म-संस्कृति के साथ ही नहीं बल्कि स्वभूमि भारत की अध्यात्मिक विरासत से गहरे रूप से

जोड़ती है। ये शास्त्रीय नृत्य भारतीय डायस्पोरा के खासकर नयी पीढ़ी के लिए अपने मातृ देश से जुड़े रहने के लिए अनिवार्य भावनात्मक फैशन-सा हो गया है। अकरम खान, शोभना जयसिंह, दक्षा सेठ जैसे भारतीय डायस्पोरा के कलाकारों ने संरचनात्मक और विचार के स्तर पर इन परंपरागत/शास्त्रीय नृत्यों के साथ पश्चिमी और समकालीन तत्वों को फ्यूजन के द्वारा गैरभारतीयों को भी आकर्षित किया है। (लाल, ब्रिजवी, 2007:108) मेनका ठक्कर, रीनासिंघा, सुधा खान्द्वानी, लाता पाडा, जोअन्ना दास, जनक खेंद्री और आलोका मेहंदीरत्ता कनाडा की भारतीय मूल की प्रमुख नृत्यांगना हैं।

टेलीविजन और फिल्म के माध्यम से आज भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का विस्तार विदेशों में भी हो रहा है। ऐसे कई चौनल हैं, जिनका प्रसारण कई देशों में होता है और उन्हें देखने वाले भारतीयों की संख्या भी विदेशों में अधिक है। सैटेलाइट टेलीविजन के युग में आज वैश्विक स्तर पर प्रसारण संभव हो पाया है। इन सभी संचार माध्यमों का व्यापक असर आज भारतीय डायस्पोरा पर देखने को मिलता है। चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र हो, आर्थिक जगत हो, सांस्कृतिक या सामुदायिक पहचान का मुद्दा हो, इन सभी क्षेत्रों में आधुनिक संचार माध्यमों का असर साफ दिखाई देता है। इस तरह के सेटेलाइट टेलीविजन में प्रमुख है: जी टी. वी. (यू.के-यूरोप), दक्षिण एशिया के दर्शकों भारतीय भाषाई, क्षेत्रीय पहचान और नृजातीय पहचान से जुड़े जी अल्फा चौनल जैसे- अल्फा बंगला, अल्फा गुजराती, अल्फा मराठी, अल्फा पंजाबी आदि। ब्रिटेन में अल्पसंख्यक समुदाय के नृजातीय पहचान से जुड़े बी.बी.सी. का ब्लैकब्रिटेन नेटवर्क, बी.बी.सी. के कुछ कॉमेडी संबंधित प्रोग्राम हैं-गुडनेसग्रैसिअसमी, मीरा स्याल की उपन्यास लाइफ इस नॉटहाहा ही हीपर आधारित तीन भागों का धारावाहिक, 2005 से सोनी टी.वी. का सोनी टी.वी. एशिया चौनल आदि। विभिन्न देशों के टेलीविजन पर चलने वाले धारावावाहिकों जैसे 'रामायण', 'महाभारत', 'सास भी कभी बहू थी' आदि समुद्रपारीय देशों में बसने वाले भारतीयों को स्वभूमि की सामाजिक धार्मिक जड़ों से भावनात्मक रूप से जोड़कर उन्हें एक वैश्विक भारतीय परिवार का अंग होने का एहसास कराता है।

वैश्वीकरण के युग में सूचना प्रौद्योगिकी और संचार माध्यमों की क्रांति ने आर्थिक गतिविधियों के साथ-साथ संस्कृति के भौतिक-अभौतिक तत्वों का भी बहाव वैश्विक स्तर पर बढ़ाया है, जिसने वैश्विक स्तर पर सामूहिक चेतना को जन्म दिया है। इस प्रभाव ने वैश्विक भारतीय डायस्पोरा की स्मृतियों को व्यापक रूप से प्रभावित कर अपनी मातृभूमि और उसके सांस्कृतिक मूल्यों एवं मूल से जुड़ने की ललक को बढ़ाया है। इंटरनेट, माइक्रोब्लागिंग वेबसाइटों, ट्विटर, फेसबुक, स्काईप, विडिओ कालिंग, सोशल मीडिया जैसे माध्यमों ने भारतीय डायस्पोरा को अपने स्वभूमि से जोड़नेवाला आसान माध्यम प्रदान किया है। इस संपर्क ने उनके अंदर भावनात्मक शक्ति प्रदान की और उनकी भागीदारी को भारत के राजनीतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों के साथ जोड़ा है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव अन्ना हजारे द्वारा किया गया भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन तथा भारतीय लोकतंत्र के लिए होने वाले आम चुनाव के समय अपनी पसंद के राजनीतिक दलों को दिए जाने वाले आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समर्थन में भी देखा जा सकता है। इन संचार के विविध माध्यमों ने विदेशों में बसे भारतीय समुदाय को संस्कृति के विविध मार्करों/चिन्हों जैसे-धर्म, भाषा, मनोरंजन, फिल्म, साहित्य, पहनावा, राजनीति, शिक्षा, समाज, खानपान, खेल के माध्यम से भारतीयता के सूत्र में बंधकर 'वैश्विक भारतीय समुदाय' को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। (तेज.के.भाटिया, 2001)

हिंदी फिल्मों और बालीवुड के गानों का भी एक बड़ा बाजार विदेशों देशों में है। ये एथिक मीडिया द्वारा विदेशों में प्रसारित की गयी भारतीय समाज, संस्कृति से जुड़ी सामग्री, समाचार और ये हिंदी फिल्म, गाने, भजन, योग वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में पश्चिम से पुरब की ओर गतिमान उनकी सांस्कृतिक

और वैचारिक तत्वों का एक प्रकार से काउंटर है। साथ ही ये मीडिया और फिल्में भारतीय समाज और पारिवार के मूल्यों के विचार (आदर्श बेटा, आदर्श भाई, आदर्श पिता, आदर्श बहु, आदर्श पत्नी आदि) को विदेशों में बसने वाले भारतीय समुदाय के बीच प्रसारित करने का एक सशक्त माध्यम है जिसे अर्जुन अप्पादुरई ने आईडियास्केप (1990) में कहा। हिन्दी फिल्मों और एथनिक मीडिया की धारावाहिकों की कहानियाँ अक्सर भारत की सांकृतिक परंपरा के साथ जुड़ी होती हैं, (गिल्लेस्पी, 1995)। ये भारतीय फिल्म वैश्विक स्तर पर निवास करने वाले भारतीयों के बीच सामुदायिकता और भाईचारे की भावना संचारित कर वैश्विक स्तर पर निवास करनेवाले लोगों को वैश्विक भारतीय परिवार बना देता है।

वैश्विक भारतीय समुदाय के लिए खानपान के तरीके और उपयोग की जाने खाद्य वस्तुएं इन्हें सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक रूप से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ये खानपान ही थे जिनके स्वाद की स्मृति ने विदेश में बसने वाले भारतीयों को भारतीयता की भावना से जोड़कर उन्हें एक वैश्विक भारतीय समुदाय बनाया। अपने स्वभूमि से सुदूर समुद्रपारीय देशों में अपनी मर्जी या जबरन ले जाये गए सिद्ध दोषी, गिरमिटिया और कंगनी मैस्त्री अपने साथ अपने देश की स्मृति और लोकप्रिय सांस्कृतिक गठरी ले गए जिनमें भारतीय भोजन भी शामिल था। इनमें दालपूड़ी, आलूपूड़ी, सत्तुपुड़ी, घी की पूड़ी, कोहड़े की सब्जी, बैगन और आलू का भरता, इटली, डोसा, ठेकुआ, हलुआ इत्यादि। ये भोजन फिजी, मॉरिशस, सूरीनाम, गयाना, त्रिनिदाद जैसे देशों में एक-दूसरे के बीच भातृत्व, समानता विश्वास और आपसी प्रेम को बढ़ाता है। यहाँ के बाजारों में भारतीय अचार, चटनी, मुरब्बे, नमकीन गुझिया, जलेबी, लड्डू, खुरमा के साथ भारतीय लोगों द्वारा तैयार मसाले (लंदन में पाठक मसाला) हिंदुस्तानी समुदाय की खानपान की विशिष्टता के साथ-साथ भारतीयों के बीच सामुदायिक एकता को दर्शाने का महत्वपूर्ण माध्यम है। सिंगापूर के 'लिटल इंडिया' नृजातीय अंत:क्षेत्र/ एथनिक इन्क्लेव में भारत के समान ही केले के हरे पत्ते पर भोजन किया जाता है। लंदन में भारतीय भोजन के लिए पहला भारतीय रेस्टुरेंटरिजेंट स्ट्रीट में वीरास्वामी के द्वारा 1926 में खोला गया। जी.के. नून रॉयल स्वीट शॉप के मालिक हैं जो भारतीय भोज्य पदार्थ निर्मित करने वाले प्रसिद्ध उद्यमी रूप में जाने जाते हैं। मधुर जाफरी, लंदन के रॉयल एकेडेमी फॉर आर्ट्स में प्रक्षिक्षण के बाद भारतीय खानपान की तरफ मुड़े और उन्होंने भारतीय खानपान में प्रशिक्षण देने के साथ-साथ कई पुस्तकें लिखी जिनमें प्रमुख हैं-ऐनइनिशिएटिवटू इंडियन कूकिंग(1973), अल्टीमेटकरी बाइबल, वर्ल्ड विजिटेरियरक्राउन, लंदन में ही श्रावणी बासु का करी इन क्राउन नाम से प्रसिद्ध रेस्टुरेंट है। अर्जुन अप्पादुरई (1990) के अनुसार, खानपान की ये क्षेत्रीय और नृजातीय स्वरुप विदेशी धरती पर भारवंशियों को भारतीयता की भावना और मातृदेश (होमलैंड) की राष्ट्रीयता से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

खानपान की तरह भारत के क्षेत्रीय विविधताओं को रूपायित करते भारतीय पहनावे और कपड़े तथा उसके पहनने के तरीकों की बानगी समुद्रपारीय पुराने और नये भारतीय डायस्पोरा में देखने को मिलते हैं। इन कपड़ों में प्रमुख हैं-साड़ी, ब्लाउज, शेरवानी, जोधपुरी, सलवार, कमीज, चुड़ीदारकुर्ता, घाघरा, चोली, लंहगा। इनके साथ ही चुड़ी, बिंदिया, कॉस्मेटिक का प्रयोग भी भारतीय डायस्पोरा द्वारा किया जाता है जो उन्हें बृहत वैश्विक भारतीय डायस्पोरा समुदाय के साथ जोड़ता है।

इस प्रकार लोकप्रिय संस्कृति के ये विविध रूप विदेशों में बसी भारतीय समुदाय की पुरानी पीढ़ी के लिए जहाँ एक ओर भावनात्मक संबल रहा है तो दूसरी ओर नई पीढ़ी को भारतीय परंपरा और संस्कृति के साथ जोड़कर विदेश में सामूहिक भारतीय पहचान को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है जिसे 'नैरेटिव आइडेंटिटी थ्योरी' के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।

✦✦✦

जापान में भारतीयता की झलक

—हरजेंद्र चौधरी

सूर्योदय-भूमि जापान में अनेक वस्तुओं, मंदिरों-मूर्तियों, भाषायी ध्वनियों, हावों-भावों और गतिविधियों में भारतीय प्रवासी को आत्मीयता का बोध होता है। जब आप एकदम नए मूलभूत ढांचे वाली नई जगह जाते हैं तो प्राय: आपको अजनबियत का एहसास घेर लेता है, परंतु जापान जाकर भारतीय प्रवासी स्वयं को बहुत अजनबी नहीं पाते। लगभग एक चौथाई सदी पहले, पहली बार जापान जाकर दो वर्षों के लिए वहां रहना हुआ था। तब ओसाका के अन्तर्राष्ट्रीय इतामी एयरपोर्ट पर उतरते ही मुझे लगा था कि मूलभूत ढांचे की दृष्टि से, और स्वच्छता की दृष्टि से भी यह देश शायद पश्चिम के विकसित देशों से भी अधिक विकसित और आगे है। एयरपोर्ट पर सब बहुत नया-नया और अनजाना-सा लगा था। जब हमारी टैक्सी हवाई अड्डे से ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय की ओर जा रही थी, तब रास्ते में दो-तीन जगह महात्मा बुद्ध की मूर्तियां दिखाई पडी थीं। हर बार मेरे दोनों हाथ जुडकर स्वत: ही मेरी ठुड्डी के सामने आ गए थे और मेरा माथा पल-भर के लिए झुक गया था। उन पलों में अजनबी होने का बोध मेरे मन से लुप्त हो गया था। जापान में महात्मा बुद्ध की मूर्तियां और बौद्ध मन्दिर बहुतायत में हैं। एक ठेठ भारतीय प्रवासी को वहां जाकर प्रथमत: महात्मा बुद्ध की मूर्तियों के रूप में भारतीय संस्कृति की उपस्थिति का चाक्षुष अनुभव होता है।

जापानी लोग अभिवादन के समय आगे की तरफ विनयपूर्वक दो-तीन बार झुकते हैं। कितना और कितनी बार झुकें, यह इसपर निर्भर करता है कि आप मिल किस से रहे हैं। मित्रों के साथ अनौपचारिक भेंट की स्थिति में एक बार का जरा-सा झुकना भी पर्याप्त है। किसी सम्मानित व्यक्ति से या किसी औपचारिक मुलाकात के समय यह झुकना कुछ ज्यादा ही हो जाता है --- तीन-चार बार कमर को अस्सी-नब्बे के कोण तक झुकाकर सामने वाले का सम्मान किया जाता है। मनुष्यों के प्रति अभिवादन का यह तरीका शुद्ध जापानी तरीका है, परंतु देव-मूर्ति के सामने जाकर जापानियों का यह तरीका एकदम

सम्पर्क: ई-1/32, सेक्टर - 7, रोहिणी, नई दिल्ली - 110085, ई-मेल: visproharosa@gmail.com, visproharwar@yahoo.com

भारतीयों जैसा हो जाता है। प्रवासी भारतीय को वहां भी अपने तौर-तरीकों और अपनी संस्कृति की झलक मिलने लगती है। जापानी लोग मंदिर में भारतीयों की तरह हाथ जोडकर प्रार्थना करते हैं। वह चाहे शिंतो मंदिर हो या बौद्ध मंदिर।

बौद्ध पुजारी से धार्मिक चर्चा या किसी अवसर-विशेष पर घर बुलाए गए किसी पुरोहित से यजमान की जापानी भाषा में बात हो रही होती है तो ध्यान से सुनने वाले प्रवासी भारतीय को बीच-बीच में जापानीकृत संस्कृत शब्द पल्ले पडने लगते हैं। सन दो हजार दस में अपने मित्र प्रोफेसर ताकाहाशि के साथ उनकी रिश्तेदारी में सुदूर टापू के देहाती इलाके में एक धार्मिक आयोजन में जाने पर मुझे यह अनुभव हुआ कि पुरोहित की भाषा में संस्कृत शब्दावली घुली-मिली है। मुझे बताया गया कि जापान में बौद्ध धर्म के मूल श्लोक चीनी भाषा में हैं, जो संभवत: संस्कृत और पालि से अनूदित हैं। ''बुद्दा'' (बुद्ध) के अलावा ''बोसात्सु'' (बोधिसत्व) और ''अमिदा'' (अमिताभ) जैसे शब्द भी उस समय न्यूनाधिक ध्वनि-साम्य के आधार पर मेरी पकड में आए थे। प्रोफेसर ताकाहाशि की मदद से सुनिश्चित हो गया था कि जापानी उच्चारण और ध्वनियों की 'भारतीय पहचान' एकदम सटीक है।

हम सब इस बात से परिचित हैं कि संस्कृत के अनेक शब्द बौद्ध धर्म और चीनी भाषा के माध्यम से छन-छन कर जापानी में आए हैं। कुछों का रूप बहुत बदल गया है तो कुछ अपने लगभग मूल रुप में मौजूद हैं। पहले हम दो प्रसिद्ध शब्दों की चर्चा करेंगे। प्रबुद्ध पाठक जानते होंगे कि जापान में महायान बौद्ध धर्म की एक शाखा ''जेन'' नाम से जानी जाती है। यह शब्द संस्कृत के ''ध्यान'' शब्द का जापानी रूप है जो चीन में ''च्यान'' तथा कोरिया में ''स्योन'' जैसे उच्चारण ग्रहण करता हुआ अंतत: जापान पहुंचकर ''जेन'' बन गया। दूसरा जापानी शब्द है ''सेवा'', जो आज भी उच्चारण और अर्थ की दृष्टि से लगभग अपने मूल भारतीय अर्थ में प्रयुक्त होता है। जापानी भाषा में ''सेवा'' शब्द का अर्थ ''सेवा-सुश्रूषा'' तथा ''सहायता'' है। हालांकि ''सेवा'' शब्द को जापानी भाषा का ही शब्द बताते हुए एक जापानी मित्र ने यह तर्क दिया कि ''सेवा'' मूल जापानी शब्द है तथा संस्कृत शब्द ''सेवा'' और जापानी शब्द ''सेवा'' का उच्चारण व अर्थ की दृष्टि से लगभग एक समान होना एक संयोग-मात्र है। खैर! बिना किसी विवाद में पडे हम इतना तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जापानी ''जेन'' निर्विवाद रूप से संस्कृत के ''ध्यान'' का जापानी रूपांतरण है।

बहुत सारे जापानी शब्द ध्वनि-साम्य के आधार पर भारतीय कानों को ''अपने-से'' लगते हैं। जिस तरह हिंदू धर्म के बहुत सारे देवता और अर्धदेवता जापान के मंदिरों में मूर्तियों के रूप में उपस्थित हैं, उसी तरह उनमें से अनेक के भारतीय नाम-शब्द जापानी भाषा में मौजूद हैं। यहां कुछ शब्दों को देखना दिलचस्प होगा। ''याशा'' (यक्ष), ''आशुरा'' (असुर), ''कारुरा'' (गरुड), ''रागो'' (राहू), ''किन्नारा'' (किन्नर), ''नाराएनतेन'' (नारायण देव), ''एंमा'' (यम), ''उमाहि'' (उमा) जैसे नामों में उनके मूल रूपों को पकड में लाने लायक ध्वनिसाम्य है, जबकि ''केंदातासुबा'' (गंधर्व) में अपेक्षाकृत बहुत कम ध्वनिसाम्य बचा है। नाराएनतेन शब्द में लगे प्रत्यय ''तेन'' का अर्थ आकाश अथवा स्वर्ग है, साथ ही यह शब्द देवता के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। विष्णु देवता को जापानी में ''बिशूतेन'' कहते हैं। इसके प्रथम अर्धांश में भी ध्वनि-साम्य है। दूसरी ओर बहुत सारे देवताओं के नाम जापानी शब्दावली और उच्चारण के कारण भारतीय पहचान से परे भी हैं। ''बेंजाइतेन'' (सरस्वती), ''दाइकोकुतेन'' (महाकाल), ''दाइजिजाइतेन'' (महेश्वर), ''किस्शोओतेन'' (लक्ष्मी) ''कातेन'' (अग्नि), ''जितेन'' (पृथ्वी), ''नित्तेन'' (सूर्य), ''गात्तेन'' (चन्द्र देवता), ''सुइतेन'' (वरुण), ''फूतेन'' (वायु) आदि देवताओं के जापानी नाम मूल संस्कृत नामों से अलग हैं। जापान में हिंदू देवकुल के बहुत सारे देवताओं की उपस्थिति पर भारतीयों का विशेष ध्यान जाना स्वाभाविक है। जापान के अतिविकसित होने के बावजूद वहां पर हम भारतीयों को अजनबी-बोध उस हद तक और उतना लगातार नहीं सताता, जिस हद तक पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में सताता है।

कुछ जापानी परंपराओं तथा भारतीय परंपराओं में भी अद्‌भुत समानता मिलती है। उदाहरणार्थ जापान में लिंगपूजा तथा पितरों का श्राद्ध-कर्म करने की परंपरा है। भारत में शक्ति तथा उर्वरता के प्रतीक के रूप में सदियों से शिवलिंग की पूजा की जाती है। जापान में लिंग-पूजा की लगभग डेढ़ हजार साल पुरानी

परंपरा की कुछ विशेषताओं पर विशेष रूप से हमारा ध्यान जाता है। वहां लिंग को किसी प्रतीकात्मक आकृति के रूप में नहीं, बल्कि वास्तविक आकृति के रूप में पूजते हैं। देह और उसके अवयवों को लेकर जापानी समाज संभवत: दुनिया का सर्वाधिक अकुंठ समाज है। जिस तरह उडीसा में जगन्नाथ जी की सवारी निकाली जाती है, उसी तरह लिंगोत्सव के अवसर पर जापान में लिंग की रथ-यात्रा भी निकलती है। जापानी लोग लिंग को शक्ति और उर्वरता के अलावा सुरक्षा का भी दाता मानते हैं। जापान में मार्च-अप्रैल में अनेक स्थानों पर लिंग समारोहों का आयोजन होता है। मध्य जापान में नागोया नगर के पास कोमाकी नामक गांव में स्थित एक मंदिर लिंग-देवता को समर्पित है।

जापान में श्राद्ध की भी परंपरा है। भारत में बहुधा सितंबर के महीने में पडने वाले श्राद्ध-पक्ष में पितरों को याद व संतुष्ट किया जाता है। आश्विन महीने का कृष्ण-पक्ष पितृ-स्मृति को समर्पित है। महाभारत में भी श्राद्ध का प्रसंग आता है, जिससे पता चलता है कि भारत में यह परंपरा हजारों साल से चली आ रही है। जापान में इस परंपरा का आगमन संभवत: बौद्ध धर्म के साथ हुआ होगा। जापान में श्राद्ध बहुधा अगस्त माह में आता है, हालांकि पूर्वी जापान में यह जुलाई में मनाया जाता है। वर्ष 2018 में इसके उपलक्ष्य में पच्चीस अगस्त को जापान में अवकाश लिया जा सकता है। अलग-अलग स्थानों पर रहने वाले अनेक भाई-बंधु श्राद्ध के दिन अपने पैतृक घरों को लौटते हैं, इसलिए एकल परिवारों वाले जापान में यह परंपरा पूरे कुटुंब के वार्षिक मिलन का अवसर जुटाने वाली परंपरा बन जाती है। जापान में माना जाता है कि पितृ-स्मृतिकाल के दौरान आसमान अर्थात स्वर्ग से उतरकर पितर धरती पर आते हैं। अपने पितरों के पारंपरिक स्वागत में लोग अपने घरों में वेदी बनाकर तरह-तरह के खाद्यान्न चढ़ाते हैं तथा पितरों के मार्ग को निरापद बनाने के लिए रात को दरवाजे पर लालटेन टांगकर अपने घरों के प्रवेश-स्थान को प्रकाशमान रखते हैं। पूर्वजों की कब्रों को साफ करके उनपर पुष्प चढ़ाकर व धूप-बत्ती जलाकर अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं। भारत में लोग पितरों की आवश्यकता-पूर्ति और उपभोग के लक्ष्य को पूरा करने के लिए सूर्य को जल चढ़ाकर पशु-पक्षियों को भोजन देते हैं। स्पष्ट है कि दोनों देशों की श्राद्ध-परंपराओं में अनेक मूलभूत समानताएं हैं।

इस संक्षिप्त लेख में बहुत अधिक विस्तृत ब्यौरे देने की गुंजाइश नहीं है, पर यहां उठाए गए बिंदुओं से इतना तो स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के साथ चीन के रास्ते जापान पहुंचने वाली बहुत-सी भारतीय परंपराएं जापान में सक्रिय अवस्था में मौजूद हैं। यही कारण है कि आज भी जापान में भारतीय संस्कृति की बहुविध उपस्थिति भारतीय प्रवासियों के लिए सुपरिचय और आत्मीयता का आधार बनी रहती है। यहां इस बात को रेखांकित करना भी प्रासंगिक होगा कि भारत की स्वतंत्रता के बाद 1952 में भारत और जापान के बीच स्थापित राजनयिक संबंधों के कारण दोनों देशों के बीच की पारस्परिकता में नई ऊर्जा का संचार हुआ तथा समयान्तर के साथ अनेक वैश्विक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप नई गतिशीलता आती गई है। आर्थिक, राजनैतिक, राजनयिक व सांस्कृतिक रूप से हम एक-दूसरे के अधिक समीप आते गए हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण उच्चस्तरीय संधियों-समझौतों के अलावा जापान में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की बात हो या जापानी कलाकारों द्वारा भारतीय नृत्य-संगीत का अभ्यास व प्रचार-प्रसार, प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हुई है। उस प्रगति का एक खाका पेश करने के लिए जापान-प्रवास के मेरे निजी अनुभवों से जुडे निम्नलिखित विवरण पर्याप्त होंगे।

जापान में हिंदी-हिंदुस्तानी की उच्चस्तरीय पढ़ाई होते एक सौ दस साल पूरे हो चुके हैं। तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में 1908 में तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में उसके तेरह साल बाद 1921 में इसकी शुरूआत हुई थी। दोनों विश्वविद्यालयों में आज केवल बीए, एमए ही नहीं, हिंदी में पीएचडी-उपाधि तक की पढाई की जा सकती है। इन दो विश्वविद्यालयों के अलावा जापान में और भी अनेक विश्वविद्यालयों और संस्थानों में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था है। भारत और जापान के बीच सदियों से बौद्ध धर्म के कारण एक। आत्मीय सांस्कृतिक संबंध रहा है। अनेक जापानी विश्वविद्यालय बौद्ध अध्ययन, भारतीय दर्शन, दक्षिण एशियाई इतिहास के पाठयक्रम चलाते हैं।

जापान के ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय ने अपनी हिंदी नाटय परंपरा से काफी नाम कमाया है। हालांकि यह विश्वविद्यालय 2007 में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व से वंचित होकर ओसाका विश्वविद्यालय के एक अवयव का रूप ले चुका है, फिर भी यहां हिंदी-नाटय-मंचन की परंपरा निरन्तर चल रही है। प्रस्तुत

पंक्तियों के लेखक ने विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में दो-दो वर्ष इन दोनों विश्वविद्यालयों में शिक्षण-कार्य किया है। यहां पिछले ढाई दशक से हर वर्ष हिंदी नाटक मंचित करने वाले छात्र-समूह में पुरानों के सथान पर नए विद्यार्थी शामिल होते रहे हैं। 1994 में कालिदास के विश्वप्रसिद्ध नाटक ''अभिज्ञानशाकुंतलम'' के हिंदी-मंचन तथा 1995 में विश्वविद्यालय और ओसाका शहर की सीमाओं के बाहर कोबे नामक शहर में ''साचिको की शादी'' नामक नाटक के 'समाचार' बनने की घटनाओं से जापान में हिंदी नाटय-मंचन की ठोस परंपरा का सूत्रपात हुआ, जिसमें इन पंक्तियों के लेखक की रचनात्मक भूमिका रही है। वस्तुत: यह शुरूआत हिंदी भाषा व भारतीय संस्कृति के शिक्षण की एक प्रविधि के तौर पर हुई थी। प्रोफेसर कात्सुरो कोगा, प्रोफेसर तोमियो मिजोकामि, प्रोफेसर आकिरा ताकाहाशि, श्री युइचिरो मिकी तथा अनेक जोशीले युवा साथियों के सहयोग से बनी आधारशिला पर कालांतर में प्रोफेसर तोमिओ मिजोकामि ने एक ऐसी अट्टालिका बनाई, जिसकी ऊंचाई विदेशों में भी दिखाई पडने लगी। हिंदी प्रेमियों को याद होगा कि 1999 में लंदन में आयोजित छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के जापानी विद्यार्थियों ने आधिकारिक प्रस्तुति के रूप में हिंदी नाटक का मंचन किया था। भारत के अनेक नगरों और ब्रिटेन के अलावा अनेक अन्य देशों में भी ऐसी प्रस्तुतियों ने लोगों और मीडिया का खूब ध्यान खींचा। जापान के हिंदी नाटय-मंचन ने केवल देशों की ही नहीं, बल्कि महाद्वीपों की सीमाओं का भी अतिक्रमण किया है। अब भी विश्वविद्यालय का हिंदी नाटय-दल हर वर्ष कोबे शहर में भी अपनी प्रस्तुतियां जरूर देता है, जहां एक बडा भारतीय समुदाय बसा हुआ है। ऐसे आयोजनों के समय भारतीय पहनावा, भारतीय भोजन और हिंदी की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कोबे शहर के दो भारतीय क्लब, एक जैन मंदिर व एक गुरूद्वारा भारतीयता के प्रमुख गढ़ हैं।

जापान में भारतीय भोजन की लोकप्रियता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि दो-ढाई दशक पहले तोक्यो व ओसाका जैसे जिन जापानी शहरों में एक हाथ की उंगलियों पर गिने जाने लायक भारतीय रेस्तरां भी नहीं थे, आज दर्जनों रेस्तरां हैं। सब अच्छा-खासा लाभ कमा रहे हैं। नूडल्ज, सुशी, तोहू, समुद्री खाद्य और उबले हुए चावल का जापानी स्वाद बदलने तथा तंदूरी चिकन, दाल मक्खनी, भिंडी मसाला, फ्राइड फिश, समोसे और नान-परांठे का उंगली-चाटू मजा लेने के लिए युवा पीढ़ी भारतीय ढाबों का ही रुख करती है।

हम सब इस बात से परिचित हैं कि 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद' द्वारा समय-समय पर जापान व अन्य देशों में भारत से कलाकार व संस्कृतिकर्मी भेजे जाते हैं। तोक्यो, ओसाका और कोबे जैसे जापानी नगरों में अनेक भारतीय कार्यक्रम होते हैं। भारतीय नृत्य, संगीत, हिंदी फिल्में और उनके नाच-गाने भारत में रुचि रखने वाले जापानियों को बहुत पसंद हैं। अनेक जापानी कलाकार भारतीय शास्त्रीय नृत्य और संगीत में पारंगत हैं। आज से आठ-नौ वर्ष पहले ओसाका-कोबे क्षेत्र के भारतीय कोंसुलेट द्वारा स्थानीय प्रशासन के सहयोग से कोबे बंदरगाह के किनारे स्थित ''मेरिकान कोए'' (अमेरिकी उद्यान) में तीन दिन का ''इंडिया मेला'' आयोजित करने की शुरूआत तत्कालीन कोंसुल जनरल श्री विकास स्वरूप के प्रयासों से हुई थी। प्रसंगवश बता दूं कि श्री विकास स्वरूप कथाकार भी हैं, जो ''स्लमडॉग मिलियनेयर'' फिल्म की आधार-कृति ''क्यू एंड ए'' तथा अपने अन्य उपन्यासों से काफी नाम कमा चुके हैं। त्रिदिवसीय वार्षिक इंडिया मेले में हजारों लोग भारतीय गीत-संगीत व भारतीय नृत्य का आनंद लेने तथा भारतीय व्यंजनों का भरपूर स्वाद लेने के लिए मेरिकान कोए में पधारते हैं। विशेष बात यह है कि भारतीय संगीत व नृत्य के अधिकतर कार्यक्रम स्थानीय जापानी कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। बहुत-सी जापानी महिलाएं साडी बांधे तो बहुत से पुरुष कुरता-पायजामा-बंडी पहने दिखाई पडते हैं। उन दिनों कोबे बंदरगाह का यह इलाका पूरी तरह भारतमय हो जाता है। मेले में शामिल होने वाले भारतीयों को ऐसा लगता है जैसे वे भारत में ही हों।

कहा जा सकता है कि जापान की बौद्ध-परंपरा द्वारा निर्मित सदियों पुराने भारत-जापान संबंधों के समकालीन विस्तार में भी भारतीय संस्कृति अपनी बहुविध, सक्रिय उपस्थिति दर्ज करती आ रही है।

✦✦✦

धर्म, संस्कृति और सभ्यता की प्रतीक गाय

—शशिकांत 'सदैव'

भारत वह देश है जहां हम कण-कण में भगवान की न केवल कल्पना करते हैं बल्कि उन्हें भगवान रूप में पूजते भी है यूं तो यहां छोटी सी चीटी से लेकर हाथी तक, जमीन पर रेंगने वाले सांप से लेकर आकाश में उड़ने वाले गरुण तक हर पशु-पक्षी का अपना ही महत्त्व हैं। परन्तु गाय का स्थान इन सबमें सबसे अलग और पूजनीय है। गाय न केवल हमारी संस्कृति, संस्कार का प्रतीक है बल्कि हमारे समाज और स्वास्थ्य का आधार भी है। गाय को हमने सिर्फ मां का दर्जा ही नहीं दिया बल्कि सभी सुखों की जननी भी कहा है।

भारतीय संस्कृति और धर्म में गाय का महत्त्व इसलिए नहीं है कि भारत प्राचीन काल से एक कृषि प्रधान देश रहा है। भारत जैसे और भी कई देश हैं, जो कृषि प्रधान रहे हैं लेकिन वहां गाय को इतना महत्त्व नहीं मिला जितना भारत में। दरअसल भारतीय संस्कृति में गाय को पूजने और मानने के कृषि के अलावा कुछ आध्यात्मिक, धार्मिक और चिकित्सीय कारण भी रहे हैं।

भारत पूरे संसार का विश्व गुरु है, क्योंकि पूरी पृथ्वी पर यही एक ऐसा देश है जहां सभी ग्रहों की अवशोषित किरणें सीधी पड़ती हैं। जहां षट्ऋतुएं होती हैं, उसी प्रकृति में सभी प्रकार की वनस्पतियां उगती हैं, उसी देश में सूर्यनारायण देवता की प्रतिविधि गाय माता पायी जाती है। हमारी प्रकृति केवल देती ही है, ठीक उसी प्रकार गाय माता भी देने वाली ही हैं।

गाय ही एक मात्र ऐसा प्राणी -पशु है, जो ऑक्सीजन ग्रहण करता है और ऑक्सीजन ही छोड़ता है, जबकि मनुष्य सहित सभी प्राणी ऑक्सीजन लेते और कार्बनडाई ऑक्साइड छोड़ते हैं। जिसकी सांस तक से प्राणी मात्र का भला होता हो वो पूजनीय और वंदनीय क्यों नहीं होगा?

गाय मां स्वरूप है

भारतीय संस्कृति में गाय को अपने विशिष्ट गुणों के कारण मां तथा देवी कहकर भी पुकारा व पूजा जाता है। जिस प्रकार माता अपने बच्चों के लिए पूर्ण रूप से समर्पित होती हैं, उसी प्रकार गाय भी अपने प्रत्येक स्वरूप में सर्वहितकारी हैं। गाय का हृदय

सम्पर्क: 9/60, गली नं- 12, तुगलकाबाद एक्सटेंशन, कालकाजी, नई दिल्ली - 110019, मो. 9810388549

भी मां की तरह कोमल और संवेदनशील होता है। स्वभाव से वह शांत और सहनशील होती है। इतना ही नहीं वह अपने पालनहार के प्रति भी बहुत वफादार होती है।

जिस तरह मां का मुख्य लक्षण देना, बांटना और पालना होता है, उसी तरह गाय भी अपने विभिन्न गुणों से मानव जाति को सदा कुछ न कुछ प्रदान करती रहती है, तथा अपने शरीर से मिलने व निर्मित होने वाले विभिन्न उत्पादों से संसार व मनुष्य जाति को लाभान्वित करती रहती है। हैरानी की बात तो यह है इसका दूध ही नहीं मल-मूत्र तक मनुष्य व पर्यावरण के लिए अमृत के समान है।

वेदों में गौ को माता इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह किसी माता की भांति नि:स्वार्थ भाव से अपना दूध प्रदान कर अपने पालकों एवं जातकों को स्वास्थ्य प्रदान करती है। मां के दुग्ध के अभाव में गौमाता का दूध ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम होता है। तभी कहा गया है 'गाय का दूध सो माय का दूध'। किसी भी अन्य पशुदुग्ध की तुलना में गौदुग्ध में विटामिन, प्रोटीन, कैल्शियम आदि बलवर्धक एवं बुद्धिवर्द्धक पोषक तत्त्व समुचित मात्रा में मिलते हैं। पौष्टिक एवं गुणसंपन्न गाय का दूध देवताओं को समर्पण करने की परम्परा वर्षों पुरानी है। यही दूध मानव शरीर से संग्रहणी, मोटापा आदि रोगों को दूर कर मेधा में वृद्धि करने में लाभदायक है।

गाय का धार्मिक महत्त्व

हिन्दू धर्म में गाय का विशिष्ट महत्त्व कई देवताओं, के कारण भी है। कई कथाओं एवं चित्रों में हम गाय को उनके साथ पाते है जैसे भगवान शिव के साथ नंदी बैल, भगवान दत्तात्रेय के साथ गाय, समुंद्र मंथन से प्राप्त हुई मनोकामना पूर्ण करने वाली कामधेनु गाय तथा भगवान कृष्ण का अपनी युवावस्था में गायों के बीच रहना, उन्हें पालना अपनी बांसुरी सुनाना आदि।

भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू धर्म के अनुसार गाय और मंदिरों का एक दूसरे से मजबूत रिश्ता है, धार्मिक अनुष्ठानों में गाय की अपनी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। गाय को दैविक माना गया है, तथा हिन्दू संस्कृति के अनुसार दिन की शुरुआत गाय की पूजा से शुरू होती है। गाय को खिलाना और उसकी पूजा करना दैविक अनुष्ठान है। पारिवारिक उत्सवों तथा त्योहारों में गाय की प्रधानता है, ऐसे अनेक त्योहार है, जहां गाय अपना एक प्रमुख स्थान रखती है। अनेक मंदिरों के प्रवेशद्वार पर गाय का छप्पर होता है जिससे मनुष्य में पवित्रता की भावना बढ़ती है।

गाय संपूर्ण ब्रह्मण्ड अथवा साक्षात नारायण का साक्षात स्वरूप हैं। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि 'मात्र गाय की पूजा-अर्चना करने से सृष्टि के 33 कोटि प्रकार के देवी-देवताओं की आराधना का फल मिलता है। गाय की सेवा करने वाले को अंत में वैकुंठ की प्राप्ति होती है।' वह आवागमन के चक्कर से छूट जाता है। जिस घर में गाय का वास होता है, वहां देवी-देवता निवास करते हैं। गाय की सेवा करने वाले को अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। घर परिवार में सुख-समृद्धि बढ़ती है।

प्राचीन काल से गाय हिन्दुओं के लिए आस्था, श्रद्धा और आदर की पात्र रही है। शास्त्रों में गाय को जीवन के चारों फल अर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-प्रदायिनी कहा गया है। गाय भारतीयों के लिए ही नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व की मानव जाति के लिए कल्याणकारी और रक्षक की भूमिका निभाती रही है।

हिन्दू ग्रंथों की मानें तो गाय के शरीर में 33 कोटि प्रकार के देवी - देवताओं का निवास है। शरीर का शायद ही कोई भाग ऐसा हो, जिस पर किसी देवता का वास न हो। यही कारण है कि दिवाली के दूसरे दिन गोवर्धन पूजा के अवसर पर गायों की विशेष पूजा की जाती है और उनका मोर पंखों आदि से शृंगार किया जाता है।

भारती संस्कृति यज्ञ की संस्कृति है और यज्ञों का अहम् हिस्सा है पंचामृत, जिसके बिना यज्ञों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, और पंचामृत गो मूत्र, दूध, गोबर, घी आदि के मिश्रण से बनता है साथ ही गाय का दूध पूजा एवं अभिषेक और अन्य पवित्र उद्देश्यों में प्रयोग किया जाता है।

स्वास्थ्य संबंधी लाभ

गाय की रीढ़ में स्थित सूर्यकेतु नाड़ी होती है जो सर्वरोगनाशक और सर्वविषनाशक होती है। सूर्यकेतु नाड़ी सूर्य के संपर्क में आने पर स्वर्ण का उत्पादन करती है। गाय के शरीर से उत्पन्न यह सोना गाय के दूध, मूत्र व गोबर में मिलता है। यह स्वर्ण दूध या मूत्र पीने से शरीर में जाता है और गोबर के माध्यम से खेतों में। कई रोगियों को स्वर्ण भस्म दिया जाता है।

गाय के मूत्र में पोटेशियम, सोडियम, नाइट्रोजन, फास्फेट, यूरिया, यूरिक एसिड होता है, दूध देते समय गाय के मूत्र में

लेक्टोज की वृद्धि होती है, जो हृदय रोगों के लिए लाभकारी है। गाय का दूध फैट रहित परंतु शक्तिशाली होता है, उसे पीने से मोटापा नहीं बढ़ता तथा स्त्रियों के प्रदर रोग आदि में लाभ होता है। गाय के गोबर के कंडे से धुआं करने पर कीटाणु, मच्छर आदि भाग जाते हैं तथा दुर्गंध का नाश होता है। गाय के समीप जाने से ही संक्रामक रोग कफ सर्दी, खांसी, जुकाम का नाश हो जाता है। गौमूत्र का एक पाव रोज सुबह खाली पेट सेवन करने से कैंसर जैसा रोग भी नष्ट हो जाता है।

गाय के सींग गाय के रक्षा कवच होते हैं। गाय को इसके द्वारा सीधे तौर पर प्राकृतिक ऊर्जा मिलती है। यह एक प्रकार से गाय को ईश्वर द्वारा प्रदत्त एंटीना उपकरण है। गाय की मृत्यु के 45 साल बाद तक भी यह सुरक्षित बने रहते हैं। गाय की मृत्यु के बाद उसके सींग का उपयोग श्रेठ गुणवत्ता की खाद बनाने के लिए प्राचीन समय से होता आ रहा है। गाय के गोबर में विटामिन बी-12 प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यह रेडियोधर्मिता को भी सोख लेता है।

गुणों की खान है गाय

परमात्मा की इस सृष्टि में गाय माता, प्रकृति और मानव शरीर का अनमोल उपहार हमें मिला है वह अतुलनीय है। गाय माता और प्रकृति में गजब की समानता है। प्रकृति पांच तत्त्वों से मिल कर बनी है, यह मानव शरीर भी पंच महा भूतों का पुतला है। यही पांच तत्त्व गाय माता के पांच गव्यों में मिलते हैं जिन्हें पंचगव्य कहा जाता है। कहीं देखा है ऐसा महा समन्वय?

प्रकृति मनुष्य और गायमाता, तीनों पंचमहा भूतों से निर्मित हैं। इन पांच तत्त्वों में से किसी एक की प्राप्ति को रोक दिया जाये तो मानव शरीर अस्वस्थ हो जाता है, ठीक ऐसे ही यदि किसी भी एक तत्त्व की अधिकता या उसकी कमी प्रकृति में हो जाये तो प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाता है, परंतु गाय माता में यह पांच तत्त्वों का संतुलन सदा बना रहता है। इससे यह तो साबित हो ही गया कि गायमाता इन दोनों से श्रेष्ठ है।

आखिर ये गव्य है क्या? साधारण शब्दों में अमृत ही गव्य होते हैं, जो हमें अमरता की ओर ले जाते हैं। जो भी मनुष्य इन पंचगव्यों का सेवन करता है वह अमरता की ओर अग्रसर हो जाता है। अर्थात् कभी भी अस्वस्थ नहीं होता। पंचगव्यों के सेवन से हमारा शरीर स्वस्थ, मन नियंत्रित एवं भावनाएं न्यायकारी होती हैं।

गाय माता से हमें तीन गव्य (दूध, मूत्र एवं गोमय) तथा दो उपगव्य घी (घृत) और छाछ मिलते हैं, इसीलिए इसे पंचगव्य भी बोला जाता है। विशेष बात यह है कि पांचों गव्य एक से बढ़कर एक हैं। प्रत्येक गव्य पंच महाभूत तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता है।

अग्नि-घृत, वायु-मूत्र, आकाश-छाछ, पृथ्वी-गोमय (गोबर) जल-दूध।

ये पांचों गव्य अमृत तुल्य हैं। मानव शरीर में जब भी पांच महाभूत तत्त्वों का असंतुलन होता है, तब ये पंच गव्य ही उसे संतुलित कर सकते हैं। ये पंचगव्य गुणों की खान हैं।

उपयोगिता

गाय का दूध बहुत ही पौष्टिक होता है। यह बीमारों और बच्चों के लिए बेहद उपयोगी आहार माना जाता है। इसके अलावा दूध से कई तरह के पकवान बनते हैं। दूध से दही, पनीर, मक्खन और घी भी बनाता है। गाय का घी और गोमूत्र अनेक आयुर्वेदिक औषधियां बनाने के काम भी आता है। गाय का गोबर फसलों के लिए सबसे उत्तम खाद है। गाय के मरने के बाद उसका चमड़ा, हड्डियां व सींग सहित सभी अंग किसी न किसी काम आते हैं।

अन्य पशुओं की तुलना में गाय का दूध बहुत उपयोगी होता है। बच्चों को विशेष तौर पर गाय का दूध पिलाने की सलाह दी जाती है क्योंकि भैंस का दूध जहां सुस्ती लाता है, वहीं गाय का दूध बच्चों में चंचलता बनाए रखता है। माना जाता है कि भैंस का बच्चा (पाड़ा) दूध पीने के बाद सो जाता है, जबकि गाय का बछड़ा अपनी मां का दूध पीने के बाद उछल-कूद करता है।

गोमूत्र (गाय का मूत्र) पंचगव्यों में से एक है। कुछ आधुनिक शोधों में इसके अत्यन्त गुणकारी औषधीय गुण बताये गए हैं। गाय के दूध में 7 एमीनो एसिड प्रोटीन पाया जाता है जिससे हड्डियों का रोग नहीं होता है। हाल ही में हुए शोध में यह बात सामने आई है कि भारतीय गाय के दूध में मिलने वाले प्रोट्रीन से हृदय घात, डायबिटीज और मानसिक रोग भी ठीक हो जाता है। नई रिसर्च में यह बात भी सामने आई है कि भारतीय नस्ल की गाय में सन ग्लैंडस होती है जो उसके दूध को पौष्टिक्ता के साथ औषधी में बदल देती है।

त्योहार एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम

हिंदुओं के हर धार्मिक कार्यों में सर्वप्रथम पूज्य गणेश उनकी माता पार्वती को गाय के गोबर से बने पूजा स्थल में रखा जाता है। इतना ही नहीं भारत में गोपाष्टमी के नाम से गाय को समर्पित एक पूर्ण त्यौहार भी मनाया जाता है।

यह ब्रज संस्कृति का एक प्रमुख पर्व है। गायों की रक्षा करने के कारण भगवान श्रीकृष्ण जी का नाम श्गोविन्दश पड़ा। कार्तिक, शुक्ल पक्ष, प्रतिपदा से सप्तमी तक गो-गोप-गोपियों की रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत को धारण किया था। 8वें दिन इन्द्र अहंकार रहित होकर भगवान की शरण में आये। कामधेनु ने श्रीकृष्ण का अभिषेक किया और उसी दिन से इनका नाम गोविन्द पड़ा। इसी समय से अष्टमी को गोपोष्टमी का पर्व मनाया जाने लगा, जो कि अब तक चला आ रहा है।

इस दिन लोग प्रातः काल गायों को स्नान कराके तथा गंध-धूप-पुष्प आदि से पूजा करते हैं और अनेक प्रकार के वस्त्रालंकारों से अलंकृत करके ग्वालों का पूजन करते हैं।

भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में गोपाष्टमी का उत्सव बड़े ही उल्लास से मनाया जाता है। विशेषकर गोशालाओं तथा पिंजरा पोलों के लिए यह बड़े ही महत्त्व का उत्सव है। इस दिन गोशालाओं की संस्था को कुछ दान देना चाहिए। इस प्रकार से सारा दिन गो-चर्चा में ही लगना चाहिए। ऐसा करने से ही गो वंश की सच्ची उन्नति हो सकेगी। इस दिन गायों को नहलाकर नाना प्रकार से सजाया जाता है और मेंहदी के थापे तथा हल्दी रोली से पूजन कर उन्हें विभिन्न भोजन कराये जाते हैं।

वर्तमान स्थिति

हालांकि गाय रूपी संपदा हमारे पास उपलब्ध है जिसे हम पवित्र और मां का दर्जा देते हैं, मगर इस मामले में भी स्थिति शर्मनाक है। सिर्फ पूजा करने के समय ही हमें पवित्र गाय की याद आती है, वर्ना तो हम इसे एक फालतू जानवर ही समझते हैं।

आज गौमाता पर बहुत बड़ा संकट आया हुआ है। केवल भारतवर्ष में ही कत्लखानों में प्रतिवर्ष करोड़ों की संख्या में गौहत्याएं हो रही हैं। यहां तक सुनने में आता है कि कुछ कत्लखानों में तो गौमाता पर पहले खौलता हुआ गर्म पानी छिड़का जाता है ताकि उनका चमड़ा नर्म हो जाए। तत्पश्चात उनके जीते जी ही शरीर से चमड़ा उतारा जाता है ताकि वह अधिक चमड़ा नर्म हो और अधिक से अधिक दाम में बिके। चमड़ा उतारने के बाद उन्हें बहुत निर्दयता से काटा जाता है। आज गौवंश समाप्त होने की स्थिति में आ गया है। यदि हमें स्वयं को बचाना है तो हमें गाय को बचाना पड़ेगा। गाय की रक्षा को हमें अपनी रक्षा समझनी चाहिए।

✧✧✧

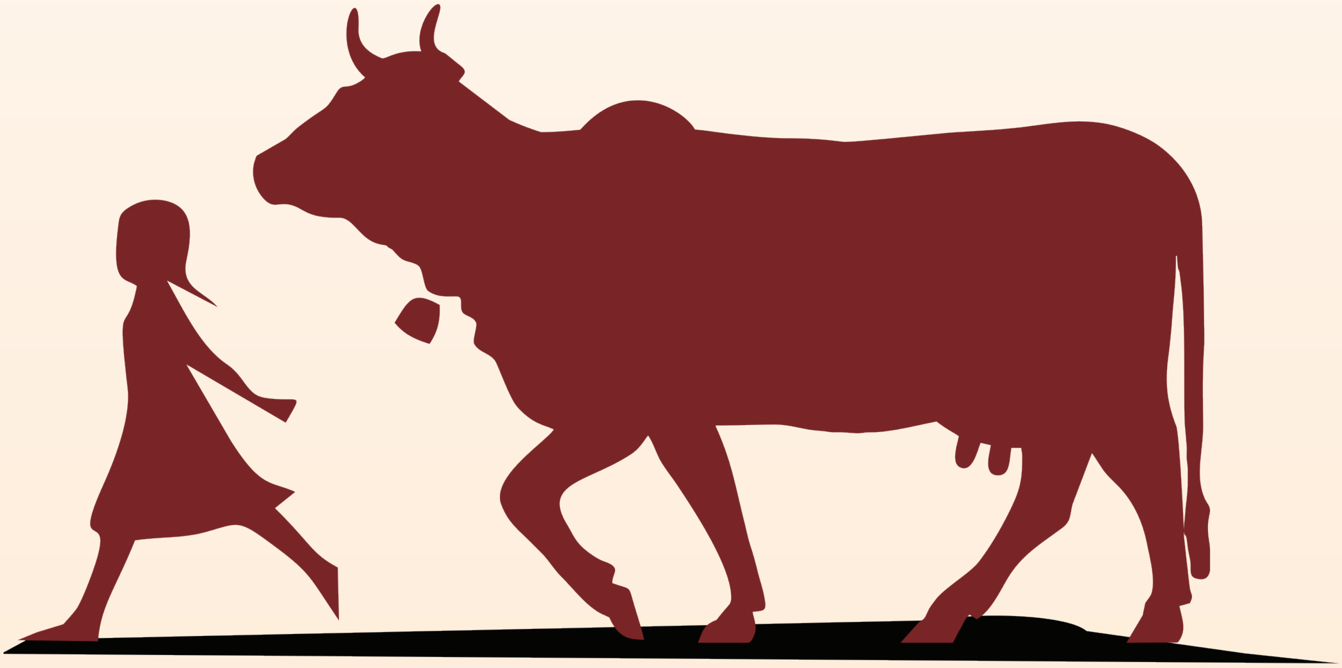

लीला पुरूषोतम कृष्ण

—प्रो. योगेश चंद्र शर्मा

भारतीय धर्मशास्त्रों में, अवतार के रूप में जिन महापुरुषों की चर्चा की गयी है, उनमें राम और कृष्ण विशेष उल्लेखनीय हैं। राम, राजा हैं, मर्यादा पुरूषोतम हैं और प्रजापालक हैं। इसलिए जनसाधारण की दृष्टि से वे आराध्य, पूज्य और श्रद्धा के पात्र हैं। इसके विपरीत कृष्ण, विशेष प्रतिभा और गुणों से युक्त होते हुए भी जनसाधारण के अपने मित्रवत हैं, जिन्हें भला-बुरा कहने में भी भक्त को संकोच नहीं, किसी तरह का दुराव नहीं। इसीलिए वे अपने जीवन-आदर्शों द्वारा जनता को प्रभावित कर सकने में कहीं अधिक समर्थ हैं।

कृष्ण अपने जीवन में विभिन्न प्रकार की बाधाओं का सामना करते हैं लेकिन कहीं भी वह पराजित नहीं होते। उनका तो जन्म ही कारागार की अंधेरी कोठारी में हुआ और जन्म लेते ही उन्हें अपने माता-पिता से बिछुड़ना पड़ा। राज-परिवार से होते हुए भी, साधारण परिवार में और साधारण परिस्थितियों में उनका पालन पोषण हुआ, किंतु वहाँ भी उनकी प्रतिभा और स्नेहसिक्त स्वभाव ने ऐसी मित्र-मंडली तैयार कर दी, जो उनकी अनुपस्थिति को तनिक भी सहन नहीं कर पाती। अपने ग्वाल-मित्रों के साथ रहकर कृष्ण भी गायें चराते हैं उनसे ठिठौली करते हैं और समान स्तर पर उनसे बतियाते हैं। कहीं किसी तरह का बड़प्पन या अभिमान का नामो निशान तक नहीं। ग्वालों में सामान्य रूप से प्रचलित वाद्य, वंशी को भी कृष्ण सहज रूप में अपनाते हैं और उनके हाथों में आकर यह वाद्य अपनी लोकप्रियता की चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है। मित्रों के बीच खेलते हुए वे खेल भावना को पूर्णत: अपनाते हैं और कहीं बड़प्पन का प्रदर्शन नहीं करते। यदा कदा कहीं झगड़ा होता भी है तो वह किसी ईर्ष्यावश नहीं, अपितु बाल सुलभ भावना के कारण ही है। देवराज इंद्र के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा का सुझाव देकर वे अपनी अल्पायु में ही वनों के महत्व की ओर इंगित करने लगते हैं।

कृष्ण पर आरोप लगाया जाता है बचपन में चोरी करने का।

सम्पर्क: 10/611, मानसरोवर, जयपुर-302020 (राज.)

यह चोरी मुख्यत: मक्खन की ही है, जो उन दिनों तक बहुमूल्य पदार्थ नहीं था। फिर यह चोरी लगभग उसी तरह की है जैसे कि आज का कोई बालक घर में कहीं रखी टॉफी को चुपचाप उठाकर खा जाए। कई बार परिवारों में ऐसा भी होता है कि हम किसी बालक को वस्तु खिलाना चाहें और वह उसे मना करे तो हम उस वस्तु को उसके सामने खुला रखकर और अपनी आँखें बंद करके कहते हैं कि 'देखो मुन्ना, तुम इस चीज को खा मत लेना।' इस पर वह बालक उस वस्तु को चुपचाप उठाकर मुँह में डाल लेता है और फिर खिलखिलाकर हँस पड़ता है। इस पर हम उसे इस प्रकार प्रेम से डाँटने का नाटक करते हैं, जिसका अर्थ उसे इस प्रकार की वस्तुओं को खाने के लिए प्रोत्साहित ही करना होता है, मना करना नहीं। ठीक यही स्थिति कृष्ण के साथ भी है। कृष्ण, बाबा नंद और यशोदा के ही दुलारे नहीं थे, अपितु संपूर्ण बृजभूमि की आँखों के तारे थे। सभी ग्वालिनें उन्हें अपने यहाँ बुलाकर उनकी बाल सुलभ क्रीड़ाओं को देखना चाहती थीं। इसलिए वे जानबूझ कर अपने मकान के दरवाजे खुले छोड़ देतीं और छुपकर कृष्ण की 'माखन चोरी' का दृश्य देखतीं। इसके बाद जब कृष्ण को उनकी उपस्थिति का ज्ञान होता तो वे वहाँ से तपती हुई धूप में ही दौड़ पड़ते। इस पर गोपिकाएँ स्नेह से उन्हें वापिस बुलाने का प्रयत्न करतीं—

नीतं नव नवनीतं नीतं च किं तेन।
आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव।।

अर्थात् यदि तुमने तत्काल का निकाला हुआ मक्खन ले लिया तो ले लिया। इससे क्या हुआ? किंतु धूप से तपती हुई भूमि पर तुम मत दौड़ो, मत दौड़ो।

कृष्ण और गोपिकाओं के संबंधों को लेकर भी काफी कुछ कहा गया है। श्रृंगार प्रिय साहित्यकारों ने इस संदर्भ में पर्याप्त सरस साहित्य-सृजन किया है, किंतु उसमें अधिकांशत: अतिशयोक्ति और कवि कल्पना ही है। मूलत: ये संबंध वैसे ही ममतापूर्ण या स्नेहसिक्त थे, जैसे कि एक सुंदर आकृति वाले और चंचल स्वभाव युक्त बालक के प्रति महिलाओं में सहज स्वाभाविक रूप में उभर आते हैं। उसमें कहीं किसी प्रकार की कलुषता नहीं थी। इस संबंध में चीरहरण लीला की भी चर्चा काफी अधिक की जाती है। इस संदर्भ में पहली बात तो यही देखने की है कि चीरहरण की घटना के समय कृष्ण की आयु क्या थी? घनघोर बरसात के समय गोवर्धन पर्वत की शरण (उसे अंगुली पर उठा लेने की बात अतिशयोक्ति और कवि कल्पना प्रतीत होती है) लेने के समय कृष्ण की आयु सात वर्ष का बतलायी गयी है। चीर हरण की लीला उससे पहले की है। तब, उनकी आयु उस समय छ: वर्ष के लगभग रही होगी। उस आयु में किसी बालक से कलुषित भावना की अपेक्षा करना व्यर्थ है। वास्तविकता यह थी कि गोपिकाएं पूर्णत: नग्न होकर सरोवर में स्नान कर रही थी, जो नीति विरुद्ध और धर्म विरुद्ध बात थी। इसीलिए कृष्ण को इस प्रकार का कार्य करना पड़ा, ताकि वे गोपिकाएं भविष्य में इस प्रकार का धर्म विरूद्ध कार्य न कर सकें। इस घटना पर कृष्ण उन्हें उपदेश देते हुए कहते हैं—

यूयं विवस्त्र यदपो धृतव्रता
व्यगाहतेतत्तदु देवहेलनम्।
बदध्वांजलिं मूर्ध्यपनुत्तयेंऽ हसः।
कृत्वा नमो ऽ धो वसनं प्रगृह्यताम्।।

अर्थात्, 'तुम सबने व्रत धारण करके भी जल में नग्न प्रवेश कर देवताओं की अवज्ञा की है (तुम मनुष्यों के सामने तो नग्न जाती हुई लज्जित होती हो, किंतु जल देवता की परवाह नहीं करती) इसलिए इस पाप की निवृत्ति हेतु हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाओ और सूर्य देवता को प्रणाम करके अपने वस्त्र ले लो।' स्पष्ट ही इन शब्दों में समाज सुधार की भावना मुखरित है अश्लीलता की नहीं।

कृष्ण बांसुरी-वादन में इतने प्रवीण और पटु थे कि उसकी ध्वनि सुनते ही गोपिकाएँ अपने-अपने घरों से निकलकर उन्हें घेर लेती थीं और मंत्रमुग्ध होकर उनकी बांसुरी सुनती रहती थीं। यहाँ भी गोपिकाओं में कला के प्रति आसक्ति के भाव अभिव्यक्त होते हैं, किसी प्रकार की विकृति के भाव नहीं। राधा के प्रति कृष्ण के प्रेम को काफी उछाला गया है। किंतु उस प्रेम में भी किसी प्रकार की वासना के भाव नहीं थे। इसके विपरीत सामान्य से ऊँचा उठकर वह प्रेम आत्मा की गहराइयों तक पैठा हुआ था जो शारीरिक आकर्षण से कहीं दूर भावनाओं की एकात्मकता में बदल गया था।

कृष्ण संपूर्ण ब्रजभूमि के कण कण में समाये हुए थे। वे सभी के लाडले थे, अपने थे और उनके लिए संपूर्ण ब्रजभूमि अपना सब कुछ न्यौछावर करने के लिए तैयार थी। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर ब्रजभूमि के लोग पागल हो उठे थे। उद्धव का ज्ञान भरा उपदेश भी उन्हें रुचिकर नहीं लगा। उनकी यह भावना कृष्ण की भावना के साथ जुड़ी हुई थी। जिस ब्रजभूमि की गोपिकाएँ कृष्ण को थोड़ी-सी छाछ के लिए नाचने पर विवश कर देती थी और जहाँ के ग्वाले खेल-खेल में उनसे लड़ते-झगड़ते रहते थे, उसी ब्रजभूमि के लिए वे अपने उद्गार सहज रूप में प्रकट कर उठते हैं—'उधो मोहिं ब्रज बिसरत नाहिं।' ब्रजभूमि के निवासियों के प्रति यह उनके स्नेह की अभिव्यक्ति है।

ब्रजभूमि और उसके निवासियों के साथ अपनी घनिष्ठ भावनाओं के बावजूद कृष्ण उन्हें अपने कर्तव्य पथ पर बाधक नहीं बनने देते। ज्योंही उन्हें अपने कर्तव्य की बुलावट सुनायी देती है, वे सभी प्रकार के मोह बंधन तोड़कर मथुरा की ओर चल देते हैं और वहां शोषित तथा पीड़ित जनता की सहायता में जुट जाते हैं। इस प्रकार वे आगे चलकर गीता में कहे गये अपने शब्दों को यहाँ से सार्थक करना शुरू कर देते हैं—

परित्रणाय साधूनां विनाशाय च दृष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

अर्थात् साधु पुरुषों के परित्राण, दुष्टों के विनाश और धर्म संस्थापन के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता है। इस संदर्भ में गीता के ये शब्द भी उल्लेखनीय है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमर्धस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

अर्थात् 'जब जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म की अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ।' स्पष्ट ही यहां 'मैं' से अभिप्राय ऐसे साहसी और धर्मप्राण महापुरुषों से है जो समाज को सुधार की दिशा में आगे बढ़ाते हैं और दुष्ट व्यक्तियों का विनाश करते हैं।

कृष्ण अच्छे बांसुरी-वादक हैं, श्रेष्ठ कलाकार हैं, प्रेमी हैं, मनमौजी मित्र हैं, कर्तव्य पथ के कठोर साधक हैं और इन सबके साथ वे श्रेष्ठ योद्धा भी हैं। जरासंध ने अपनी विशाल सेना के साथ मथुरा पर आक्रमण किया तो महाराज उग्रसेन भी घबरा गये। तब कृष्ण ही आगे बढ़कर उन्हें निश्चिंत करते हैं और स्वयं हाथ में शस्त्र लेकर शत्रु-सेना का मुकाबला करते हैं। कृष्ण के इस शौर्य का वर्णन, गुरु गोविंद सिंह ने अपने दशम् ग्रंथ में इन शब्दों में किया—

काटत एकन के सिर चक्र गदा गहि दूजन के तन झोरे।
तीजन नैन दिखाई गिरावत चउथन चोप चपेटन मारे।
चीर दिए अरि के उर श्री हरि सूरन के अंग अंग प्रहारे।
धीर जहाँ भट कउन धरै जदुबीर जबै तिह ओर सिधारे।।

कृष्ण माया मोह के बंधन से दूर हैं। कर्तव्य पालन ही उनके लिए सर्वोच्च है। ब्रज में अपने बाल सखाओं और गोपिकाओं को सहज रूप में छोड़कर वे मथुरा चले गये थे और वहाँ अत्याचारी राजा कंस का वध किया। इसके बाद भी उन्होंने न तो मथुरा के शासन पर अपना अधिकार जताया और न मथुरा से चिपके रहे। कर्तव्य पूरा होने पर द्वारिका चले गये। जब कृष्ण की सहायता से पांडवों ने महाभारत का युद्ध जीता तो कृष्ण ने हस्तिनापुर के शासन पर भी अपना कोई अधिकार नहीं जताया। चुपचाप वीतरागी के समान वहाँ से भी चल दिये। महाभारत के युद्ध में अनेक बड़े-बड़े महारथी मारे गये जिनमें अभिमन्यु, घटोत्कच और द्रौपदी के पांचों पुत्र जैसे उनके अत्यंत प्रिय भी थे। किंतु कृष्ण इन सब परिस्थितियों में अविचल रहे। कौरव कुल के विनाश पर जब गांधारी ने उन्हें शाप दिया, तो भी कृष्ण शांत और स्थिर रहे। बहेलिये ने भूलवश उनके चरणों में तीर मारा, तब भी कृष्ण ने उसका बुरा नहीं माना। संकट की प्रत्येक घड़ी में कृष्ण अडिग और निर्विकार बने रहे। इसीलिए तो कृष्ण योगेश्वर कहलाते हैं और अपने इस रूप में वे मानव-समाज के सामने कष्टों को प्रसन्नता से सहन करने का आदर्श उपस्थित करते हैं।

अर्जुन, कृष्ण के अभिन्न मित्र थे, किंतु मित्रता के लिए उन्होंने न्याय का पल्लू नहीं छोड़ा। दुर्योधन और अर्जुन, दोनों ही महाभारत-युद्ध में उनकी सहायता प्राप्त करने के इच्छुक थे। दोनों ही उनके पास इस उद्देश्य के लिए गये भी। संयोगवश दोनों ही वहां लगभग एक साथ पहुँचे। उस समय कृष्ण सो रहे थे। उनके

जागने की प्रतीक्षा में राजदर्प से भरा दुर्योधन उनके सिरहाने बैठ गया और अर्जुन सहज रूप में उनके चरणों की तरफ बैठ गया। कृष्ण की नजरें जागने पर स्वभावतः पहले अर्जुन पर पड़ीं और उसके बाद दुर्योधन पर। दोनों ही सहायता माँगने के लिए आये थे और इसलिए उनमें से किसी को भी निराश करना न्यायसंगत नहीं होता। सो उन्होंने एक तरफ अपनी संपूर्ण विशाल सेना रखी और दूसरी तरफ अकेले अपने आपको। पहले देखे जाने के कारण, इन दोनों में किसी एक को पसंद करने का पहला अधिकार अर्जुन को मिला। अर्जुन ने बिना किसी झिझक के स्वयं कृष्ण को माँग लिया और दुर्योधन, कृष्ण की संपूर्ण सेना लेकर प्रसन्न हो गया। अर्जुन ने कृष्ण को अपने सारथी का कार्य सौंपा। जिसे कृष्ण ने बिना किसी झिझक के स्वीकार कर लिया। स्पष्ट ही कृष्ण की विशिष्ट स्थिति को देखते हुए यह कार्य उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं था। लेकिन उन्होंने इसकी कोई चिंता नहीं की और सारथी के रूप में सदैव अर्जुन के निर्देशानुसार अपने कर्तव्य का पालन किया। कृष्ण की प्रारंभ से ही यह शर्त थी कि वे स्वयं युद्ध में शस्त्र ग्रहण नहीं करेंगे। अपनी इस बात का उन्होंने पालन भी किया। केवल एक बार उस समय उन्हें अपना सुदर्शन चक्र अवश्य उठाना पड़ा, जब अर्जुन भावुकतावश युद्ध में पूरी लगन के साथ भाग नहीं ले पा रहा था। फिर भी यह शस्त्र-ग्रहण, अर्जुन के लिए चेतावनी मात्र था। उसके प्रयोग की कृष्ण को आवश्यकता नहीं पड़ी।

श्रम की महत्ता को कृष्ण ने अपने जीवन को व्यावहारिक रूप से उतारा। इसलिए उन्हें सारथी के कार्य में कोई अरुचि उत्पन्न नहीं हुई। युधिष्ठिर ने जब यज्ञ का आयोजन किया तो कृष्ण ने स्वयं अपनी इच्छा से ब्राह्मणों के पैर धोने और जूठे बर्तन उठाने के कार्य स्वीकार किये। भुखमरी और गरीबी से पीड़ित अपने बालसखा सुदामा को अपने राज्य सिंहासन पर बैठाकर और स्वयं उसके पैर धोकर तो कृष्ण इस विश्व के प्रथम और सर्वोच्च समाजवादी बन गये।

महाभारत-युद्ध के प्रारंभ में ही जब अर्जुन ने युद्ध भूमि में अपने विरुद्ध खड़े अपने ही सगे संबंधियों को देखा तो भावुकतावश उसने अपना धनुष वापिस रख दिया। उन पर आक्रमण करने की उसकी इच्छा नहीं हुई। तब कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश (गीता) दिया, वह उनके सर्वथा नये और दार्शनिक स्वरूप को उजागर करता है। गीता का कर्मयोग विश्व प्रसिद्ध है, जिसमें कृष्ण व्यक्ति को बिना फल की इच्छा रखते हुए कर्त्तव्य पालन का उपदेश देते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्तव कर्मणि।

अर्थात् तुम्हारा कर्म करने मात्र पर ही अधिकार है, उसके फल पर कभी नहीं। तुम कर्मो के फल की वासना वाले मत हो और तुम्हारी कर्म न करने में भी रुचि न हो।

अर्जुन पर अपने उपदेशों का प्रभाव जमाने के लिए कृष्ण गीता में यत्र-तत्र अपने को अलौकिक शक्ति से युक्त भी बतलाते हैं, किंतु ऐसा कहते समय भी उनके अंदर किसी प्रकार के दंभ भाव न होकर, अर्जुन के आत्मबल को मजबूत करने की कामना ही व्यक्त होती है। कृष्ण के इन उपदेशों का वांछित प्रभाव भी पड़ता है और अर्जुन प्रबल आत्मविश्वास से भरकर अंत में यही कह उठता है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिमम्।।

अर्थात्—हे कृष्ण! विशेष क्या कहूँ? जहाँ योगेश्वर कृष्ण है और जहाँ गांडीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है। ऐसा मेरा मत है।

कृष्ण ऐतिहासिक और पौराणिक महापुरुष हैं। अपने विशिष्ट और असाधारण कार्यो के लिए वे भगवान के अवतार माने गये हैं। कृष्ण के विभिन्न रूपों को लेकर विस्तृत साहित्य रचा गया। इस साहित्य में काव्य कल्पना और आतिशयोक्ति सहज संभव है। किंतु इस सबके बावजूद कृष्ण के मूल चरित्र का मानवीय और आदर्श स्वरूप सर्वत्र उपलब्ध है।

✦✦✦

लोक संस्कृति नियामक नटराज

—डॉ. विनय कुमार सिंघल

सम्पर्क: 7233, बी-10, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070

शिव नटराज हैं, महा-तांडव के सूत्रधार हैं। जीवन-प्रत्यय दोनों के स्वामी हैं। जब भगवान शिव का अवतरण हुआ ब्रह्मांड में तो प्रथम नाद की उत्पत्ति हुई, बाद में ज्यों-ज्यों मानव का परिष्कार हुआ तो अनहद नाद को समझा-जाना गया। मानव के विकास के बाद ही नव-रसों की पहचान हुई किंतु बिना शिवमय हुए नवरसों को नहीं जाना जा सकता था, क्योंकि रसों का सीधा संबंध नृत्य और नर्तक/नर्तकी की भाव-भंगिमाओं से होता है और नटराजमय हुए बिना नृत्य की कल्पना और नृत्य का अस्तित्व दोनों ही असंभव है। हमारा संपूर्ण जीवन ही नव-रसों का प्रतीक है, यथा-1. श्रृंगार-रस, 2. हास्य-रस, 3. करुण-रस, 4. रौद्र-रस, 5. वीर-रस, 6. भयानक-रस, 7. वीभत्स रस, 8. अद्‌भुत-रस व 9. शांत-रस। श्रृंगार-रस (विष्णु-जनित), हास्य-रस (शिव के गणों द्वारा जनित), करुण-रस (यम-जनित), रौद्र-रस (रुद्र-जनित), वीर-रस (इंद्र-जनित), भयानक-रस (काम-जनित), वीभत्स-रस (महाकाल-जनित), अद्‌भुत-रस (ब्रह्मा-जनित) व शांत रस की उत्पत्ति का कारण कहीं नहीं मिलता। यहाँ तक कि महाकवि कालिदास भी केवल आठ रसों को ही मान्यता देते हैं। एक नर्तक अथवा नर्तकी उक्त सभी रसों की अभिव्यक्ति अपने नृत्य में अपने विविध अंगों के संचालन व अभिनय द्वारा करते हैं। तात्पर्य यह है कि महाशिव ने नृत्य की उत्पत्ति करके संपूर्ण मानव-जाति पर बहुत बड़ा उपकार किया है। एक और बिंदु विचारणीय है कि नृत्य हमें अनुशासन में बांधता है जो मानव-जीवन के लिए बहुत आवश्यक है। अनुशासित भू-संचालन, भुजा-संचालन, पग-संचालन, नेत्र-संचालन, अधर-संचालन, टांग-संचालन, वक्ष-संचालन आदि ही नृत्य के अलंकार है और नृत्य को प्रभावशाली बनाते हैं। इसलिए हमें स्वयं को अनुशासन में बाँधना सीखना चाहिए, नृत्य करें अथवा न करें। नृत्य की उत्पत्ति करके महादेव ने मानव-मात्र को प्रकारांतर से अनुशासन की अप्रतिम सीख दी है। अनेक भावों में एक भाव है जिससे मानव ग्रस्त रहा है वह है—अहंकार-भाव। मानव कुछ बन जाता है तब भी और जब कुछ भी नहीं होता तब भी अहंकार की चपेट में आ ही जाता है। अहंकार-भाव मानव के

पतन का सबसे बड़ा कारक है। इसके शमन के लिए परमशिव ने नृत्य की एक विधा उत्पन्न की–तांडव। और जब महाशिव तांडव–नृत्य करते हैं तो बहुत प्रलयकारी दृश्य उपस्थित हो जाता है और बड़े से बड़ा अहंकारी जीव भयाक्रांत हो जाता है, उसका समस्त अहंकार उड़नछू हो जाता है। तो फिर, अहंकार क्यों? किसलिए? अहंकार घेरने लगे तो तांडव को स्मरण करें बस, सब स्वत: ही ठीक हो जाएगा। शिव आदि रचयिता हैं सृष्टि के। महादेव हैं, परमात्मा हैं, उनसे ऊपर कोई नहीं है। समुद्र तट पर भगवान राम ने शिव की ही स्तुति की थी जो तट रामेश्वरम् तीर्थ बन गया। शिव संपूर्ण हैं। शिव सम्मत हैं। शिव जगत–पिता हैं। शिव भोले हैं। शिव अनंत है। शिव के पास असंख्य शक्तियाँ हैं। ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्माजी महाशिव के पास गए और पूछा–प्रभु! आपके सम्मुख कौन सी लीला (क्रीड़ा, नाटक) खेली जाए तो महाशिव बोले–समुद्र मंथन की क्रीड़ा करो जिससे काम व धन–धान्य की उत्पत्ति होगी और सबके काम आएगी। अत: समुद–मंथन की भाव–भूमि तैयार हुई और समुद्र मंथनोपरांत चौदह रत्न का उद्भव हुआ। समुद्र–मंथन के समय महाशिव ने तांडव–नृत्य किया था। महाशिव ने ब्रह्मा जी के निवेदन पर समुद्र–मंथन से पहले अंग–संचालन की समस्त भाव–भंगिमाएँ समझाई थीं।

नृत्य के लिए मंडप बनाने के लिए भी नियम तय होते थे, यथा लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई, आकार (आयताकार, त्रिभुजाकार, गोलाकार आदि)। वाद्य आदि भी तय होते थे, यथा–बांसुरी, सितार, सारंगी, मृदंग आदि। मंडप–प्रवेश के लिए भी नियम तय होते थे, यथा–किस दिशा से नर्तक/नर्तकी मंडप में प्रवेश करेगा/करेगी, किस रस–भाव का प्रदर्शन/संचालन होगा, कौन विशिष्ट गुरु निरीक्षक होंगे जिनके समक्ष प्रस्तुति होगी। इतना अनुशासन तभी अंगीकार किया जा सकता है जब प्रत्येक प्रतिभागी का चारित्रिक बल प्रबल होगा, तो नृत्य एक बहुआयामी दिशा–निदेशक होता था। प्रत्येक नर्तक/नर्तकी अपने हाव–भाव, अंग–संचालन में सात्विक–तत्व अंगीकार करने के पश्चात् ही मंडप में प्रवेश करें ऐसा नियम था। जो गीत–गायन चुना जाता था नृत्य के साथ–साथ गाने के लिए वह मंडप–प्रवेश से लेकर अंत तक भिन्न–भिन्न भाव समेटे रहता था। ऐसा अद्भुत दृश्य प्रस्तुत होता था कि दर्शक–श्रोता मंत्र–मुग्ध हो देखते–सुनते रह जाएँ। नृत्य को नटराज ने मानव–जीवन में रस–भाव संगीत का आधार बना दिया। आज भारत में भिन्न–भिन्न प्रांतों में भिन्न–भिन्न नृत्य–शैलियाँ प्रचलित हैं। सभी नृत्य–शैलियों के पीछे धार्मिक, सांस्कृतिक रीति–रिवाज रहे हैं। कतिपय नृत्य–शैलियाँ देखें–ओडिशी (ओडिशा का), कुचिपुड़ी (आंध्र प्रदेश का), मणिपुरी (मणिपुर का), कथक (उत्तर भारत का), कथकली (केरल का), भरत नाट्यम् (चेन्नई का), रास लीला (उत्तर प्रदेश का), कराकट्टम (चेन्नई का), रौतनाचा (छत्तीसगढ़ का), घूमर (राजस्थान का), बीहू (असम का), लावनी (महाराष्ट्र का), मटकी नृत्य (मध्य प्रदेश का), घूमरा (ओडिशा का), वीरानृत्यम् (आंध्र प्रदेश का), पुली काली (केरल का), रोफ डांस (जम्मू कश्मीर का), गरबा (गुजरात का), छाऊ (पश्चिमी बंगाल का), होलूकुनीथा (कर्नाटक का), भांगड़ा (पंजाब का)। भारत में विभिन्न लोक–संस्कृतियों की पावन धारा बहती है। नृत्य–गायन भारत के कण–कण में व्याप्त है। जितने भी नृत्य प्रकार हैं सबका आधार लोक–शैलियाँ ही हैं व नृत्यों के साथ गाए जाने वाले सभी लोक–गीतों, लोक–संगीत व शास्त्रीय संगीत पर आधारित हैं। संगीत से सजे ये नृत्य–गीत भारत की सांस्कृतिक पहचान व धरोहर हैं। देश–विदेश से लोग यहाँ आते हैं इन्हें देखने, सुनने और सीखने। और आनंद की बात तो यह है कि अनेक विदेशी इनके मोहवश यहीं रच–बस जाते हैं सदा–सदा के लिए। भारत के अनेक कलाकारों ने विश्व भर में भारत की ख्याति में चार चाँद लगाए हैं अपनी उक्त कलाओं द्वारा। वस्तुत: वे सभी कलाकार भारत के सांस्कृतिक दूत हैं। विदेशों में स्थान–स्थान पर भारतीय नृत्य–संगीत, गीत–संगीत के विद्यालय चल रहे हैं और वहाँ के स्थानीय प्रशासन/सरकारें उन्हें पूरा सहयोग देते हैं। भगवान शिव का यह नृत्य प्रसाद न जाने कहाँ–कहाँ तक वितरित हो चुका है और सुगंध निसृत कर रहा है?

नृत्य–संगीत के सभी प्रणेताओं को जोर–शोर से नटराज–शिव की इस देन का बढ़–चढ़ कर प्रचार–प्रसार करना चाहिए। भारत सरकार भी पूरा प्रोत्साहन दे रही है। भारत के कोने–कोने में प्रतिभाएँ भरी पड़ी हैं उन्हें खोजकर आगे लाने की आवश्यकता है।

कुछ कलाकार सामाजिक व आर्थिक विसंगितयों के चलते पिछड़ जाते हैं।

भगवान नटराज सब पर कृपा करें।

✦✦✦

मानवता और संस्कृति

—डॉ. सुधेश

सम्पर्क: 314, सरल अपार्टमेंट्स, द्वारका, सेक्टर-10, दिल्ली-110075

मानवता और संस्कृति अन्योन्याश्रित अवधारणाएँ हैं। जैसे विश्व का मानव जैविक दृष्टि, प्राकृतिक दृष्टि से लगभग एक समान है, वैसे विश्व की संस्कृति भी लगभग समान है। दुनिया भर में सभी मानवों के दो हाथ दो पाँव, एक हृदय और मस्तिष्क होते हैं, उनकी भूख प्यास, सृजन क्षमता, काम, क्रोध, वात्सल्य, करुणा, लालच आदि मनोविकार लगभग मिलते जुलते हैं और उनकी प्राकृतिक जरूरतें वातावरण और भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार होती हैं। इसी प्रसार तात्विक दृष्टि से विश्व की संस्कृति भी एक जैसी है। उदाहरण के लिए ईमानदारी, सत्याचरण, करुणा, दया के भाव, सच्चरित्र, साहस और वीरता आदि के उदात्त गुण सभी देशों की संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। तो मैं कह सकता हूँ विश्व का मानव और उसकी संस्कृति विश्व जनीन अथवा वैश्विक है। पर व्यावहारिक दृष्टि से सभी देश और समाज अपनी-अपनी मानवीय विशेषताओं और मानव गुणों की बात करते हैं और अपनी अपनी संस्कृति के गुण गाते हैं और उसे महान बताते नहीं थकते। इसके कुछ आधार हो सकते हैं, जिनका संबंध उनकी प्राकृतिक और भौगोलिक स्थितियों की भिन्नता हो सकती है। जैसे पश्चिमी देशों और ठंडी जलवायु में रहने वाले लोग प्राय: गौर वर्ण के होते हैं, जिसके आधार पर यूरोपीय शासकों को यह कहने में कोई संकोच नहीं हुआ कि वे काले वर्ण के लोगों से अधिक सभ्य हैं और वे भारत और विश्व के कोने-कोने में रहने वाले कालों को सभ्य बनाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर वहाँ शासन करने आए हैं जिसे white's man burden की संज्ञा दी गई। चाहे अब यह सिद्ध हो चुका है कि शरीर के रंग के कारण सांस्कृतिक नहीं जलवायुगत भिन्नताएँ हैं लेकिन पुराने आग्रह अब भी चले आ रहे हैं।

दुनिया भर की भौगोलिक परिस्थिति एक जैसी नहीं है और जलवायु भी सब जगह एक जैसी नहीं है और न हो सकती है। अनेक देश उत्तरी गोलार्द्ध के पास हैं और अनेक दक्षिणी गोलार्द्ध के पास हैं और अनेक उन दोनों के बीच हैं। सूर्य का प्रकाश सब जगह एक जैसा नहीं पड़ता क्योंकि धरती गोल है जो सूर्य के चारों तरफ घूमती है। गर्मी सर्दी सूर्य की ऊर्जा पर निर्भर है। तो शरीर का रंग प्राकृतिक कारणों तथा जलवायु की भिन्नता के कारणों पर आधृत है। इसका संस्कृति से क्या संबंध है?

यह विचारणीय है कि सभी देश अपनी-अपनी संस्कृति और सभ्यता पर गर्व करते हैं, जो स्वाभाविक है। तो उनकी संस्कृतियाँ क्या अलग-अलग हैं? तात्विक दृष्टि से तो अलग अलग नहीं

हैं, जैसा मैंने शुरू में ही कहा, पर व्यावहारिक दृष्टि से वे अलग दीखती हैं। इसीलिए संस्कृति के अनेक विभाजन किये जाते हैं, जैसे पश्चिमी संस्कृति प्राच्य संस्कृति, अफ्रीकी और चीनी संस्कृतियाँ, यूरोपीय और एशियाई संस्कृतियाँ, केरेबियन और लातीनी, अमरीकन संस्कृतियाँ आदि। ये सब विभाजन क्षेत्र या क्षेत्रों पर आधृत होने के कारण क्षेत्रीय है। यहाँ क्षेत्र का सीमित अर्थ न लिया जाए। क्षेत्र व्यापक भी हो सकते हैं। संस्कृति के विभाजन अनेक आधारों पर किये गये हैं, जैसे भौतिक संस्कृति, आध्यात्मिक संस्कृति आदि। ये अथवा इस प्रकार के विभाजन संस्कृति को सम्यक रूप से समझने के लिए कुछ उपयोगी हो सकते हैं अथवा विभिन्न स्थानों की संस्कृतियों में अंतर बताने की सुविधा दे सकते हैं।

कुछ लोग संस्कृति को सीमित दृष्टि से देखते हुए शहरी और ग्रामीण संस्कृतियों की बात करते हैं। कुछ सूक्ष्मता प्रेमी इस मोहल्ले की भिन्न संस्कृति की चर्चा कर सकते हैं। धर्म के आधार पर हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, बौद्ध आदि संस्कृतियों की चर्चा भी मिल जाएगी। ये सब प्रयत्न संस्कृति को अपनी दृष्टि, विचारधारा, आग्रह के आलोक में देखने की कोशिशें हैं। इनसे संस्कृति को विभिन्न प्रकार से समझने में कुछ मदद मिल सकती है, पर ये सब बाहरी प्रयत्न हैं। ये संस्कृति के आंतरिक तत्व नहीं। आंतरिक तत्व तो मानव जीवन को उन्नति, परिष्कृत और उदात्त गुणों की प्राप्ति की यात्रा है। जो अनवरत चलती रहती है। जब से मानव का जन्म हुआ तबसे उसकी संस्कृति की यात्रा बिना बाधित चल रही है।

यदि संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया पर विचार किया जाए तो कहना होगा कि संस्कृति प्रवाहमान, गतिशील और परिवर्तन शील अवधारणा है। जबसे मानव और समाज का जन्म हुआ आदिम युग से आज तक उस में कुछ न कुछ परिवर्तन हो रहे हैं। एक समय था कि लोग आदिम कबीलों के रूप में जंगलों में रहते थे और पशुओं के शिकार और जंगलों में उपलब्ध फलों, पत्तों आदि पर ही गुजारा करते थे। पाषाण युग में उनके शिकार के अस्त्र पत्थरों को काट कर और घिसकर बनाये जाते थे। जब पत्थरों की टक्कर से उन्होंने चिंगारी निकलती देखी तो अग्नि का आविष्कार हुआ। धीरे-धीरे अनेक धातुओं से भी उनका परिचय हुआ। तब उनकी दैनिक जरूरतों के बर्तन, अस्त्र शस्त्र लोहे आदि धातुओं के बनने लगे। आदिम कबीलाई मानव समाज कृषि के आविष्कार के बाद एक जगह रहने पर विवश हुआ। तब आदिम गाँव का जन्म हुआ। स्त्री पुरुष के उन्मुक्त संबंध परिवार के रूप में विकसित हुए। घुमंतू आदि मानव एक स्थान पर परिवार के रूप में एक स्थान पर रहने लगा। इस प्रकार गाँव, परिवार और विवाह जैसी अवधारणाएँ मूर्त रूप में साकार हुईं। जनसंख्या बढ़ने से गाँवों की संख्या बढ़ी और वे दूर-दूर के स्थानों तक फैलते गये। कृषि के कारण भूमि के स्वामित्व की अवधारणा सामने आई। मानव जाति के विकास के प्रत्येक चरण में उसके रहन सहन, घर निर्माण, खान पान, कृषि उपज के भंडारण, वितरण के साथ उसकी रक्षा की जरूरतें पैदा हुईं, जिसके लिए कबीलों, गाँवों, परिवारों में कार्य के विभाजन की आवश्यकता सामने आई। इस कार्य विभाजन से विभिन्न वर्णों का उदय हुआ। तो आदि मानव से ग्रामीण, फिर नगरीय मानव की सभ्यता संस्कृति का विकास निरंतर होता रहा। यह नहीं कहा जा सकता कि आदि मानव निरा असभ्य असंस्कृत था। उस की भी कोई संस्कृति थी, चाहे वह अविकसित, कम विकसित थी। आधुनिक मानव के पास ही संस्कृति का ठेका नहीं है। संस्कृति का विकास आदि युग से अब तक निरंतर होता रहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि वह निरंतर परिवर्तनशील और विकासमान है।

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि संस्कृति किसी खास जाति, वर्ण, वर्ग, समुदाय, उसके निवासियों के शरीर के रंग या उनकी शारीरिक विशेषताओं अथवा देश या देशों तक सीमित नहीं है और न सीमित की जा सकती है। दूसरों शब्दों में कह सकता हूँ कि संस्कृति विश्वजनीन अथवा वैश्विक है और उसका विकास देश, काल, भौगोलिक भिन्नता के बावजूद होता रहा है। जहाँ संस्कृति का प्रकाश देर से पहुँचा वहाँ भी उसका विकास हो रहा है।

आशय यह कि मानव संस्कृति तात्विक दृष्टि से विश्व व्यापक है, थोड़े अंतर के साथ और ये अंतर भौगोलिक, प्राकृतिक भिन्नताओं, जलवायु की भिन्नताओं के परिणाम हैं। जो क्षेत्र अनेक कारणों से विकसित नहीं हो पाये वे हमें सभ्यता, संस्कृति की दृष्टि से पिछड़े लगते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें अधिक सभ्य, संस्कृत होने की संभावना नहीं है। संस्कार, परिष्कार और बेहतर से बेहतर होने की चेतना संसार के हर प्राणी और विश्व के सभी समाजों में मौजूद है। संस्कार की चेतना का परिणाम ही संस्कृति है।

संस्कृति का बाहरी रूप ही सभ्यता है, जिस में रहन सहन के तरीके, खानपान के ढंग, व्यवहार के रूप, मकानों, पूजा घरों की भिन्न रचनाएँ, भाषा, साहित्य, विभिन्न कला रूप गिने जा सकते हैं। सभी देशों की सभ्यता उनकी संस्कृति का अनुकरण करती है। विकास कहीं कम कहीं अधिक गति से सब देशों में, समाजों में हो रहा है। एक समय ऐसा आएगा कि विश्व की सभ्यता, संस्कृति का बाहरी रूप भी एक जैसा हो जाएगा। उदाहरण के लिए पैंट, बुशर्ट और टाई, सूट की पोशाक दुनिया के सभी देशों में एक जैसी दिखाई देती है। मकानों के डिजाइन या वास्तुकला के निर्माणों में भी एक समानता विकसित हो रही है। कुछ भिन्नताएँ या विशिष्टिताएँ तो फिर भी बनी रहेंगी, क्योंकि मानव का स्वभाव भिन्नता का प्रेमी है।

✦✦✦

भारतीय आभूषण संस्कृति

—आर.के. जायसवाल

आभूषण व नारी का साथ बहुत प्राचीन है। सिंधु घाटी की सभ्यता तक में नाना प्रकार के आभूषण मिले हैं। वैदिक काल में स्त्री व पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे और आज भी करते हैं। ...लेकिन महिलाओं का तो श्रृंगार है आभूषण। इसके बिना मानो वे अधूरी हैं। आधुनिक से आधुनिक महिलाएँ भी गहने पहनने का मोह नहीं त्याग पातीं।

आभूषणों को **सोलह श्रृंगारों** में सबसे प्रमुख माना गया है। एक पुरानी कविता याद आती हैं:

अंगशुची, मंजन, वसन, माँग, महावर, केश।
तिलक भाल, तिल चिबुक में, भूषण, मेंहदी वेश।।
मिस्सी, काजल अरगजा, वीरी और सुगंध।

मतलब–अंगों में उबटन लगाना, स्नान करना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, माँग भरना, महावर लगाना, बाल सँवारना, माथे पर बिंदी या तिलक लगाना, ठोड़ी पर तिल बनाना, **आभूषण धारण करना,** मेंहदी रचाना, दाँतो में मस्सी, आँखों में काजल, सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग, पान खाना, माला पहनना और नीलकमल धारण करना–ये सब विवाहिता स्त्रियों के सोलह श्रृंगार हैं।

अन्य विद्वानों द्वारा दी गई सूचियों में थोड़ा बहुत अंतर भी मिलता है। 12वीं शताब्दी के संस्कृत कवि **वल्लभदेव** ने जो सूची दी है, उसमें स्नान, चीर मतलब की साड़ी, हार, तिलक, अंजन, काजल, कुंडल, नासामुक्ता अर्थात् नाक की कील, केशविन्यास, चोली नूपुर, अंगराम मतलब अर्थात् सुगंध, कंकण, चरणराग अर्थात् पाँवों में आलता, करधनी, तांबूल मतलब अर्थात् पान और करदर्पण अर्थात् आरसी नामकी एक अँगूठी का उल्लेख है। स्पष्ट है कि वल्लभदेव की सूची में 16 में से सात का श्रृंगार तो अकेले आभूषणों के ही हैं।

आभूषण पत्थर के भी हो सकते हैं, धातु के भी और यहाँ तक कि मिट्टी व लकड़ी के भी। आदिवासी संस्कृति में सीपी, कौड़ी, गुंचे, फूल-पत्ते, फलों के बीज-प्रकृति में जो कुछ मिल जाएँ

सम्पर्क: मो: 09131057593

सब आभूषण हैं, क्योंकि उनका पूरा जीवन ही प्रकृति के साथ स्थाई सहयोग है। आभूषण पहनने के प्रश्न यहाँ यह है कि **क्या आभूषण केवल श्रृंगार के लिए पहने जाते हैं** या इनका कोई अन्य कारण भी है। क्या शरीर को सजाने-सँवारने के अलावा और भी कोई भूमिका निभाते हैं ये आभूषण! कुछ कहने से पहले हम आपका ध्यान **भगवान श्रीकृष्ण** की ओर ले चलते हैं। ये स्त्री नहीं पुरुष थे, लेकिन उनका पूरा शरीर गहनों से लदा रहता था। क्या यूँ ही था यह! हरगिज नहीं। केवल सजने के लिए गहने नहीं पहनते थे। इसके पीछे वैज्ञानिक कारण भी थे।

धातु के आभूषण शरीर की गर्मी को कम करते हैं और शीलतला पहुँचाते हैं। ये ज्यादातर सोने वे चाँदी के बनवाए जाते हैं। इनमें सोना, सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है, तो चाँदी चंद्रमा का। अत: ये पहनने वाले में सूर्य व चंद्र की सकारात्मक ऊर्जाओं का संचार करते हैं और नकारात्मक ऊर्जाओं का शमन करते हैं।

पंच महाभूतों की दृष्टि से देखें तो सोने में अग्नि तत्व व चाँदी में जल तत्व की प्रधानता है। अत: सोने व चाँदी की आभूषण हमारे शरीर में इन दो तत्वों का संतुलन स्थापित करते हैं। बता दें, हमारे शरीर में तीन नाड़ियाँ होती हैं-सूर्य नाड़ी, चंद्र नाड़ी व ब्रह्म नाड़ी। सूर्य नाड़ी दाहिनी ओर होती है, जो हमारी क्रिया शक्ति को संचालित करती है और चंद्र नाड़ी बाई ओर होती है, जो हमारी इच्छा शक्ति को संचालित करती हैं। सांसारिक कामकाज में ये दो नाड़ियाँ ही भाग लेती हैं। जबकि तीसरी ब्रह्म नाड़ी बीच में होती है, जो आध्यात्मिक उत्थान के लिए होती है। इस तरह सोने व चाँदी के आभूषण हमारे शरीर की क्रिया व इच्छा शक्तियों को जागृत करते हैं।

स्पिरिचुएल साइंस के अनुसार **कमर से ऊपर सोने के और कमर से नीचे चाँदी के आभूषण पहने जाने चाहिए।** लेकिन क्यों! इस संबंध में कई स्पष्टीकरण मिलते हैं, जैसे कि सोने में सूर्य का वास होता है और सूर्य को पैरों की ओर नहीं पहना जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से सूर्य कुपित हो जाते हैं और जीवन में समस्याएँ आने लगती हैं।

एक और स्पष्टीकरा मिलता है इसका। वह यह कि हमारे शरीर में ऊर्जा का प्रवाह सिर से पैर की तरफ होता है। ऐसे में सोना शरीर के ऊपरी भाग में व चाँदी निचले भाग में पहनने पर यह प्रवाह सुचारू रूप से होता रहता है। हम जानते हैं कि सौर मंडल में सूर्य से ऊर्जा चंद्रमा की ओर प्रवाहित होती है, न कि चंद्रमा से सूर्य की ओर। सूर्य के प्रकाश से ही चंद्रमा प्रकाशित होता है। सोना चूँकि सूर्य का प्रतिनिधि होने से गर्म प्रकृति का होता है और चाँदी चंद्रमा की प्रतिनिधि होने से ठंडी प्रकृति की होती है, अत: भौतिक शास्त्र के नियमों के अनुसार भी ऊर्जा सोने से चाँदी की ओर प्रवाहित होगी। अर्थात् भौतिक शास्त्र के नियमों के अनुसार भी ऊर्जा सोने से चाँदी की ओर प्रवाहित होगी। अर्थात सिर से पाँव की ओर, जो कि अच्छे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

फर्ज कीजिए इस क्रम को हम उलट दें तो। सोने को पाँव में और चाँदी को सिर में पहन लें तो क्या हो। शरीर में ऊर्जा का प्रवाह भी पैर से सिर की ओर होने लगा। यह क्रम शरीर की प्राकृतिक प्रणाली के विरूद्ध है, जो कि हानिकारक है।

महिलाएँ पायल क्यों पहनती हैं

पायल प्राचीन भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है और स्त्री के पैरों का श्रृंगार है। छन-छन और झुन-झुन करती इसकी आवाज मन को एक मिठास से भर देती है। सूने पैरों की तुलना में पायल वाले पैर कहीं ज्यादा खूबसूरत दिखाई देते हैं। हालांकि आधुनिकता की दौड़ में एक दौर वह भी आया, जब पायल भारतीय स्त्रियों के पैर से नदारद होने लगी, क्योंकि इसे दकियानूसी और ओल्ड फैशन का प्रतीक माना गया। लेकिन आज एक बार फिर पायलों का दौर लौट आया है। चलिए जरा पता करते हैं कि क्या पायलों का महत्व एक आभूषण तक ही है या इससे अधिक भी कुछ है।

मान्यता यह है कि चाँदी की पायल पहनने से शरीर की ऊर्जा का क्षय नहीं होता, बल्कि यह रिवाइब्रेट होकर शरीर में ही प्रिजर्व हो जाती है। चाँदी की पायल वातावरण में व्याप्त **रजोगुणी तरंगों** को अपनी ओर आकृष्ट करती है। पैरों में इसकी उपस्थिति के कारण दैवी चैतन्य लहरियों का प्रवाह इसकी ओर खिंचता है। यह प्रवाह इसके चारों ओर स्पाइरेल शेप में घूमता रहता है, जो कि निगेटिव पॉवर्स को नष्ट करने वाला होता है।

दूसरी बात यह कि **पायल के छनकने** से जा स्वर लहरियाँ उठती हैं, वे बहुत ही मधुर होती हैं। ये वातावरण में सकारात्मक ऊर्जा उत्पन्न करती हैं और नकारात्मक ऊर्जा का नाश करती हैं। ये

वातावरण में व्याप्त क्रिया शक्ति को सक्रिय करती हैं और चारों ओर ऊर्जा का संचार करती हैं। विंड चाइना का जो प्रयोग आज हम लोग घरों में कर रहे हैं, कुछ उसी टाइप का समझ लीजिए।

ज्योतिष की दृष्टि से देखें तो पावों में मीन राशि होती है, जिसका स्वामी गुरु होती है। गुरु और चंद्रमा का संयोग बहुत ही शुभ माना जाता है। इससे दोनों की शुभता बढ़ती है। अत: पैरों में चाँदी की पायल ज्योतिषीय दृष्टि से भी शुभ है। गुरु विवेक का प्रतीक है और चंद्रमा भावुकता का। विवेक व भावुकता का समन्वय बहुत ही जरूरी है जीवन में। यही कारण है कि पाँवों में सोने की पायल पहनना वर्जित माना जाता है। ऐसा करके एक ओर तो हम सूर्य का निरादर करते हैं तो दूसरी ओर सूर्य के साथ गुरु अस्त हो जाता है। अर्थात विवेक की समाप्ति।

कहते हैं कि जब किसी स्त्री पर जब नकारात्मक शक्तियों का बहुत अधिक आक्रमण होने लगता है तो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं कि वह स्त्री किसी न किसी कारण से पायल पहनने से वंचित हो जाती है। जैसे कि पायल बार-बार खो जाएगी और ढूंढने पर भी नहीं मिलेगी या यह हर महीने कुछ इस तरह टूट जायेगी कि उसकी मरम्मत न हो सके... या इतनी ढीली हो जाएगी कि बार-बार पैरों से स्लिप होती रहे।

दुबई की एक महिला ने अपना अनुभव साझा करते हुए बताया-'' *मैंने बार-बार पाया कि मेरी पायल उतरकर बिस्तर पर गिर जाती थी, जबकि इसका हुक बिल्कुल टाइट होता था और पायल की फिटिंग भी बिल्कुल टाइट होती थी। उस पायल को जब दुबारा पहनने की कोशिश की जाती तो वह इतनी कसी होती कि हुक खोले बिना पैरों में वापस न जाती। फिर समझ में न आता कि यह पैरों से नीचे कैसे आ जाती थी। अंतत: मैंने रियलाइज किया कि किसी निगेटिव एनर्जी के कारण ऐसा हो रहा है।*

पायल की आध्यात्मिक ऊर्जा और हीलिंग पॉवर का प्रमाण एक यूरोपियान महिला को भी मिला। वे स्पिरिचुरल साइंस का रिसर्च करने के लिए बार-बार भारत आया करती थी। भारत आने पर वे पार्ती कि उनके पैरों में अकस्मात जलन शुरू हो गई है और उनमें सूजन आ गई है। बहुत ही परेशान थीं वे। फिर किसी ने उनसे पैरों में चाँदी की पायल पहनने को कहा। पायल पहनने पर उन्होंने पाया कि जलन तुरंत खत्म हो गई और दो घंटे के भीतर सूजन भी चली गई।

सामाजिक दृष्टि से भी पायल पहनने का एक खास महत्व हैं। अब तो वह दौर गुजर गया, मगर कभी हमारे यहाँ संयुक्त परिवार की प्रथा हुआ करती थी, जिसमें ससुर, जेठ वगैरह हुआ करते थे। नई बहुओं से वे एक दूरी बनाकर रखते थे। यह मर्यादा का अंग था। अब घर में बहू दिन भर इधर उधर घूमती रहे, तो उसके मूवमेंट की सूचना हो जाया करती थी। यह सूचना उसके पैरों की पायल की आवाज से हो जाया करती थी।

महिलाएँ पैरों में बिछिया क्यों पहनती हैं

अब बात बिछिया की। कहते हैं कि विवाहिता स्त्रियों को पैर की तर्जनी अंगुली यानी कि अंगूठे के बगल वाली अंगुली में चाँदी का बिछिया अवश्य पहनना चाहिए! चलिए इसका कारण तलाशते है। पैर की तर्जनी अंगुली में गुरु ग्रह का वास होता है और चाँदी की बिछिया में चंद्रमा का। तो एक कारण तो गुरु-चंद्रमा संयोग का हुआ, जिसकी चर्चा पायल के संदर्भ में हम कर चुके हैं। एक अन्य कारण यह है कि पैर की तर्जनी अंगुली में शरीर की अनेक नाड़ियाँ आकर मिलती हैं, खासकर के गर्भाशय व हृदय को जोड़ने वाली। अब अगर पैर में बिछिया है तो दिनभर के काम काज के दौरान वह बार-बार उस अंगुली में रगड़ खाती है और उसे दबाती है। इससे उसके नर्व सक्रिय हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि स्त्री का हृदय स्वस्थ रहता है और संतानोत्पत्ति की दृष्टि से अनुकुलता रहती है एक अन्य कारण यह है कि बिछिया भूमि को स्पर्श करता है। और चाँदी है एक सुचालक पदार्थ तो लाभ यह होता है कि यह ध्रुवों की पॉजिटिव एनर्जी को शरीर के भीतर सोखता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री को थकावट नहीं महसूस होती है।

स्पिरिचुएल साइंस के शोधकर्ताओं का कहना है कि बिछिया में श्री लक्ष्मी व श्री सरस्वती की कृपा समावेशित होती है। यानी धन व धर्म की संयोग। वह विवाहिता नारी को हमेशा उसके ध र्म की याद दिलाती रहती है और कहती है कि कभी भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करो।

बिछिया स्त्री की प्राण शक्ति का शुद्धिकरण भी करती है। पायल अगर वातावरण की क्रियात्मक तरंगों को अपनी ओर आकृष्ट करती है तो बिछिया इच्छा तरंगों को। इच्छा व क्रिया-ये दो

प्रवृत्तियाँ लौकिक कार्यकलापों का मूलभूत आधार है। इनके सहयोग से संसार के सारे कामकाज चलते हैं। जानकार यह भी कहते हैं कि ब्रह्मांड में दो तरह की शक्तियाँ सतत क्रियाशील हैं-मारक शक्ति व तारक शक्ति। मारक शक्ति हर व्यक्ति को अपने चंगुल में लेना चाहती है, जबकि बिछिया से तारक शक्ति का प्रसार होता है, जो इसे धारण करने वाली स्त्री की रक्षा करती है।

करधनी का महत्व

करधनी को कटिबंध, कटिसूत्र या कटिमेखला भी कहा जाता है। यह, वह गहना है, जो महिलाएँ अपने कमर पर पहनती हैं। यह सोने या चाँदी किसी की भी हो सकती है। इसके पहनने से सौंदर्य वृद्धि तो होती ही है, शरीर को भी लाभ पहुँचता है। बताया जाता है कि पेट के भीतर, कमर में और पीठ की ओर जो ब्लैक एनर्जी होती है, उसे यह करधनी खींचकर बाहर निकाल देती है और चैतन्य शक्ति को अपने भीतर खींचकर शरीर करे ट्रांसमिट करती है।

आध्यात्मिक शब्दावली में बताया गया है कि करधनी स्त्री के मणिपुर और स्वाधिष्ठान चक्रों को ढँककर रखती है। आपको बता दें कि स्वाधिष्ठान चक्र में हमारी इच्छाएँ होती हैं और मणिपुर चक्र खोज के लिए प्रेरित करता है। इन चक्रों पर अगर नकारात्मक शक्तियों का आक्रमण हो जाए तो ये चक्र दूषित हो जाते हैं। अत: इन चक्रों को ढँकने का अर्थ है कि स्त्री में अनियंत्रित व अमर्यादित इच्छाएँ उत्पन्न होने से रोकना। दोनों, यह बताना आवश्यक नहीं कि आज अधिकतर समस्याओं की जड़ हमारी अनियंत्रित इच्छाएँ ही हैं।

काम-काज व चलने-फिरने के दौरान शरीर व करधनी के बीच जो रगड़ होती है, उससे शरीर के एक फीट के घेरे में ऊर्जा का एक सुरक्षा कवच तैयार हो जाता है। इतना ही नहीं, इस रगड़ के दौरान कमर के स्थित एक्यूप्रेशर प्वाइंट्स भी दबते हैं और क्रियाशील होकर अच्छा स्वास्थ्य प्रदान करते हैं।

इस संबंध में एक महिला ने अपने अनुभव साझा करते हुए लिखा: *करधनी पहनने के बाद अपने कमर क्षेत्र में मैंने अच्छा महसूस किया। पहले शरीर में एक सुन्नपन सा रहता था, जो अब घट गया। अपनी रीढ़ की हड्डी व गले में भी मुझे अच्छी संवेदनाएँ आई। पहले मैं हमेशा कुछ न कुछ सोचती व चिंता करती रहती थी, लेकिन अब मेरे विचार शांत होने लगे और दिमाग की क्षमता बढ़ने लगी।*

नाक व कान के आभूषण

नाक की नथ भी स्त्री का एक आवश्यक श्रृंगार होती है। **आदि शंकराचार्य** ने **त्रिपरसुंदरि स्तोत्र** में इसे देवी को अर्पित करते हुए लिखा है-*हे गिरिजा, कृपा करके मेरे द्वारा अर्पित नाक का यह आभूषण आप स्वीकार कीजिए।* नाक की नथ को **लौंग** या **बेसर** भी कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें मोती जड़ा होता है। मोती जल तत्व प्रधान होता है और यह ठंडी चैतन्य लहरियों को नाम के माध्यम से फेफड़ों में पहुँचाता है। इससे प्राणशक्ति बढ़ती है।

नाक की नथ के ही समान **कानों में पहने जाने वाली विभिन्न गहनें,** जैसे कुंडल या बाली और झुमके भी अपना विशेष महत्व रखते हैं। चलिए सबसे पहले कानों का स्पिरिचुएल साइंस समझते हैं। दाहिने कान के छेद से रजोगुणी तरंगें और बाएँ कान के छेद से तमोगुणी तरंगें लगातार निकलती रहती है।

दूसरी बात ये है कि कान शरीर के बहुत ही संवेदनशील अंग हैं। ये किसी भी प्रकार की बाहरी एनर्जी के लिए बड़े सुग्राही होते हैं। जाड़ों में भी हम सबसे पहले अपना कान बाँधते हैं। तीसरी बात ये कि कानों का संबंध में हमारे विशुद्धि चक्र से होता है। वस्तुत: कान ही क्यों नाक व गला भी विशुद्धि चक्र से संबंधित होते हैं। अत: कानों पर किसी भी निगेटिव एनर्जी का हमला विशुद्धि चक्र को खराब कर सकता है।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर कानों में आभूषण पहनने की परंपरा पड़ी है। ये आभूषण रज व तम गुणों के प्रवाह को नियंत्रित करके सत्व गुण को बढ़ाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो इन्हें पहनने से सात्विक प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं।

ज्योतिष से भी थोड़ा बात करें तो सात्विक प्रवृत्तियाँ जन्मकुंडली के बुरे प्रभावों का शमन करती हैं। यही कारण है कि ज्योतिषी अनेक बच्चों को चाहे वे लड़के ही क्यों न हो, विभिन्न परेशानियों से बचाने के लिए कानों में बालियाँ पहनने की सलाह देते हैं। अनेक सेलेब्रिटीज को आज भी हम ऐसी बालियाँ पहने देख सकते हैं। हम सोचते हैं कि वे फैशन के लिए ऐसा करते हैं। हो सकता

है कुछ लोग फैशन के लिए भी ऐसा करते हों। लेकिन ज्यादातर मामलों में वे ज्योतिषियों की सलाह पर ही ऐसा करते हैं।

कानों के आभूषण सात्विक प्रभाव वाली चैतन्य लहरियों को खींचकर और उन्हें सोखकर हमारे शरीर में और विशेष रूप से विशुद्धि चक्र में ट्रांसमिट करते हैं। विशुद्धि चक्र के संबंध में एक बात और बता दें कि आपको कि **माया का निवास** भी इसी चक्र में होता है। यह जातक को भ्रमित करके उससे गलतियाँ कराती है और ऐसी चीजों की ओर ले जाती है, जो उसके लिए अहितकर होती हैं। अत: जो भी आभूषण विशुद्धि चक्र की सुरक्षा करते हैं और उन्हें सक्रिय बनाते हैं, उनका अपना ही महत्व है।

कान के आभूषण कान में मौजूद एक्यूप्रेशर प्वाइंट्स को भी ऐक्टीवेट करते हैं और हीलिंग का काम करते हैं। ...कान का झुमका तो एक और भी भूमिका निभाता है। इससे निकलने वाली मधुर संगीत लहरियाँ ध्वनि तरंगों के माध्यम से वातावरण में सकारात्मक ऊर्जा यानी कि पॉजीटिव एनर्जी का संचार करती हैं।

विभिन्न आभूषणों के संबंध में अन्य तथ्य

मंगलसूत्र में काले मनकों की जो दो लाइनें होती हैं, वे शिव व शकित का प्रतिनिधितव करती हैं। ये दोनों मिलकर शिव व शक्ति की एकाकारिता को प्रकट करती हैं। इससे चैतन्य का आर्शीर्वाद मिलता है। तो **नेकलेस** या हार धारण करने का उद्देश्य महिलाओं के विशुद्धि व अनहत चक्रों की सुरक्षा करना है। बता दें कि गले में विशुद्धि चक्र व हृदय में अनहत चक्र स्थित होते हैं। नेकलेस का जो हिस्सा गले के इर्द-गिर्द लिपटा होता है, वह विशुद्धि चक्र के पूरे क्षेत्र को घेर कर रखता है और नकारात्मक शक्तियों के हमले से बचाता है तथा ईश्वरीय चैतन्य को आकृष्ट करता है। इसका मुख्य परिणाम स्त्री की वाणी पर आता है। विशुद्धि चक्र बिगड़ने की स्थिति में व्यक्ति में वाणी दोष आ जाता है। वह कटु वाणी व मिथ्या वचन बोलने लगती है।

नेकलेस से लटका पेंडेट हृदय में स्थित अनहत चक्र को स्पर्श करता है और इसे ढँककर रखता है। इससे अनावश्यक भय व असुरक्षा की भावना से रक्षा होती है और हृदय में प्रेम व करुणा का संचार होता है। यह निर्विवाद है कि ये सभी गुण न केवल वैवाहिक जीवन में बल्कि आम जीवन में भी कितने आवश्यक है।

हाथों में प्लास्टिक की चूड़ियों के बजाय **काँच की चूड़ियाँ** अधिक अच्छी मानी गई है। काँच कभी भी अशुद्ध नहीं होता। कोई भी निगेटिव एनर्जी इसे छू नहीं सकती, जबकि प्लास्टिक तो स्वयं ही निगेटिव एनर्जी वाला होता है। आध्यात्मिक शब्दावली में कहा गया है कि काँच सात्विक प्रभाव वाला होता है और सुंदर चैतन्यलहरियाँ उत्पन्न करता है, जबकि प्लास्टिक में तमोगुण की प्रधानता होती है।

स्पिरिचुएल साइंस के रिसर्च में बताया गया है कि कुछ महिलाएँ आभूषण केवल इसलिए धारण करती हैं कि यह एक फैशन है, तो कुछ महिलाएँ इन्हें धारण नहीं करतीं क्योंकि यह फैशन के खिलाफ है। रिसर्च यह कहता है कि फैशन का मुद्दा गौण है, असली मुद्दा तो चैतन्य ऊर्जा की वृद्धि का है। अत: आभूषणों की डिजाइन सात्विक होनी चाहिए, तभी ये सकारात्मक ऊर्जा प्रभावित करने में सक्षम होते हैं।

आभूषणों के आकार के संबंध में कहा गया है कि बड़े आकार के आभूषण के बड़े भाग को घेरते हैं, इससे शरीर का एक बड़ा हिस्सा चैतन्य के संरक्षण के अंतर्गत आ जाता है।

क्यों आभूषणों को शरीर के उचित भाग पर ही धारण किया जाना चाहिए

हमारी संस्कृति में विभिन्न आभूषणों के लिए शरीर के स्थान निश्चित हैं। इनमें मनमानी नहीं की जा सकती। इस संबंध में एक महिला अपना एक अनुभव बताती हैं। वे कहती हैं कि एक दिन मैंने अपने गले में चेन धारण किया। इस चेन को पहले मेरा बेटा कौशल अपने बचपन में करधनी के रूप में पहना करता था। दो-तीन दिनों बाद ही मैंने अपने गले में भारीपन महसूस करना शुरू कर दिया। तो मैंने उस चेन को उतार दिया और मैं अच्छा महसूस करने लगी।

स्पिरिचुएल साइंस के विशेषज्ञ बताते हैं कि अलग-अलग अंगों के गहनों के आकार व डिजाइन अलग-अलग होते हैं। अब जो चीज करधनी हैं, वह उस तरह के डिजाइन की जाती है। इसमें मौजूदा शक्ति कमर के स्वाधिष्ठान व मणिपुर चक्र के लिए अच्छा काम करती है, लेकिन गले के विशुद्धि चक्र के लिए नहीं। ठीक वैसे ही जैसे पेट के दर्द की दवा आप गले के दर्द में नहीं खा सकते।

✦✦✦

भारतीय तिलक संस्कृति

—निर्दोष खुराना

ॐ चंदनस्य महत्वपुण्यं पवित्रं पापनशनम्।
आपदां हरते नित्यं, लक्ष्मीस्तिष्ठति सर्वदा।।
-(कर्मकांड भास्कर गायत्री परिवार)

अर्थात् चंदन की शीतलता का बहुत महत्व है। जो इसका तिलक करे उसे ठंडक व शांति प्राप्त होती है तथा बुराईयों से दूरकर पवित्रता प्रदान करता है। उस व्यक्ति पर लक्ष्मी की कृपा बनी रहती है।

भारत की सभ्यता और संस्कृति के अनुसार किसी भी पूजा अर्चना में तिलक आवश्यक है। तिलक लगाकर हम अपने इष्ट देवी देवताओं और गुरुजनों को सम्मान और आदर देते हैं। यह हमारी आस्था श्रद्धा का प्रतीक भी है। हिंदू और जेन धर्म में प्राय: लोग मंदिर में जाकर पूजा अर्चना के बाद अपने मस्तक पर भी तिलक लगाते है। तिलक धारण को शांति और शक्ति मिलती है, वह अपने सान्निध्य में आने वाले को भी शक्ति की तरंगों से प्रभावित करता है।

तिलक का स्थान हमारे मस्तक के बीच आज्ञाचक्र पर है। यह स्थान हमारे मन-मस्तिष्क को नियंत्रित और संतुलित करता है। यह हमारे विचारों को एकाग्र करने का केंद्र बिंदु है। विचारों की एकाग्रता ही व्यक्ति को सिद्ध, वैज्ञानिक, संगीतकार व आविष्कारक बना देती है। आज्ञाचक्र को कुछ लोग तीसरा नेत्र भी कहते हैं। पश्चिम के लोग इस स्थान को छठी इंद्री (सिक्स सैंस) कहते हैं। एकाग्रता को साधकर व्यक्ति सिद्ध तथा तील काल का ज्ञाता अर्थात् त्रिकालदर्शी हो जाता है, इस स्थिति तक पहुंचने के लिए लंबे समय तक स्वाध्याय एवं अभ्यास की आवश्यकता है। पौराणिक काल से चली आ रही तिलक लगाने की प्रथा पर ऋषि मुनियों ने शोध और परीक्षण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है। ''यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'' अर्थात् जो कुछ ब्रह्मांड में घटित हो रहा है उसकी तरंगें आकाशतत्व द्वारा प्रत्येक मानव पिंड तक पहुंच रही है। मानवपिंड में वह स्थान मस्तिष्क है, इसी स्थान में कुंडलिनी (दिव्य शक्ति) के सहस्त्रारचक्र और आज्ञाचक्र हैं।

सम्पर्क: एम.आई.जी. 94, भारती निकेतन भोपाल-462023

इस प्रकार तिलक लगाते समय हम व्यक्ति के अंतरंग में समष्टि कल्याण एवं प्रेम का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं।

भारत के सभी प्रांतों और धर्मों के लोग विभिन्न रंगों और रूपों में तिलक लगाते हैं। दक्षिण के राज्यों में राख अथवा भस्म का तिलक लगाने की परंपरा, यह कि प्रतिदिन सुकर्म करते रहे अंततः यह शरीर राख की ढेरी में बदलने वाला है। राजस्थान में राजपूत जब युद्ध में जाने की तैयारी करते हैं तब वहां की महिलाएं उन्हें विजयश्री का ऊर्जावान तिलक लगाकर शुभमंगल कामनाओं के साथ उन्हें विदाई देती हैं। श्रीलंका नरेश रावण चार वेद का ज्ञाता महावैज्ञानिक तथा शिव का भक्त था, वह तीन धारी वाला त्रिपुण्ड तिलक धारण करता था। त्रिपुण्ड तिलक में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के ज्ञान-विज्ञान पर विमर्श करते रहने की प्रेरणा निहित है। राजाओं का राजतिलक भी बहुत विधि विधान और धूमधाम से किया जाता रहा है। आज के युग में जब कोई नई जिम्मेदारी का पद सम्हालता है, तब भी उसका तिलक कर उसे सम्मानित किया जाता है।

पुराणों के अनुसार समुद्र मंथन में निकली संपदा में विष भी निकला जिसे पीने के उपरांत शंकर जी नीलकंठ हुए। तब शीतलता हेतु मस्तक पर उन्होंने चंद्रमा धारण किया था। भारत के आरण्यक समुदायों में शिवभक्त अत्यधिक हैं। इनमें माथे पर चंद्र तिलक सरीखा गुदना कराने का चलन है। गुदने की स्याही रमतिला के फूलों से बनाते हैं। गोदने की प्रथा अमेरिका सहित भारत के महानगरों में टेटू-कला के नाम से प्रसिद्ध हो रही है। अधिक सुंदर बच्चों को ईर्ष्यालु व्यक्तियों की बुरी नजर से बचाने के लिए, उनके मुखड़े पर काजल का तिलक करना भी कारगर रहता है।

तिलक सामग्री में मुख्यता कुमकुम, रोली, चंदन, गोपी चंदन, हल्दी, केसर, अक्षत आदि का उपयोग होता है। हल्दी अक्षत हर घर की रसोई में उपलब्ध है। केसर कश्मीर में तथा सिंदूर की खेती मध्यप्रदेश में होती है। गोपीचंदन गुजरात से आता है। पारिजात, पलाश आदि पुष्पों का रस अष्टगंध आदि का उपयोग भी तिलक में किया जाता है।

जिस प्रकार देश के शीर्ष राष्ट्रपति भवन एवं सुप्रीट कोर्ट के शीर्ष पर उस देश का ध्वज शोभा पाता है। उसी प्रकार कुलीन व्यक्तियों के मस्तक पर तिलक बहुत शोभायमान होता है। सनातन काल से चली आ रही तिलक परंपरा का प्रतीकों के रूप में भी प्रयोग हुआ है। इससे गुरु अथवा पंथ की पहचान मिलती है, मूल्यबोध, संकल्पबोध सौंदर्यबोध आदि दृष्टि से भी तिलक किया जाता है। शंकराचार्य पूरे मस्तक पर पीलाचंदन लगाते हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्य तथा माहेश्वरी संप्रदाय के अनुयायी अंग्रेजी के 'यू' अर्थात् पांव के आकार सदृश्य तिलक को अतिश्रद्धा के साथ भगवान का चरण बिंदु मानकर धारण करते हैं। रामानुज संप्रदाय में भी तिलक आकर्षक होता है। भूमध्य का ध्यान, तिलक द्वारा पूजन हमारा नैतिक दायित्व है। यह स्थूल किंतु श्रद्धापूर्वक किया गया कृत्य हमारी आत्मा को परमात्मा से मिलाने का कार्य करता है। नागरिक सम्मान के अवसर पर तिलक करते हुए ब्राह्मणों द्वारा कुछ विशेष मंत्रों का सामूहिक उच्चारण किया जाता है जैसे

ऊँ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्ति न पूषा विश्ववेद्दा,
स्वस्ति नंः स्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनोः बृहस्पतिदधातु''

भावार्थ—मंत्रों में उच्चारित विभिन्न देवों से अनुरोध है कि वे उत्सव के नायक पर अपने आशीवार्दों की वर्षा करें। वैवाहिक प्रसंग में दूल्हे के आगमन पर वधुपक्ष पर मनोहर दृश्य का विवरण बाल्मीकि एवं गोस्वामी तुलसीदास जी ने दिया है।

''प्रथम तिलक वशिष्ठ मुनि कीन्हा, पुनि सब विप्रन्ह आयुस दीन्हा।
सुत विलोक हरषिं महतारी, बार-बार आरती उतारी।।

रामचरित मानस उत्तरकांड दोहा।। चौ. 3

नारी के सोलह श्रृंगारों में तिलक अथवा स्वर्ण आभूषण मांगटीका को भी महत्व दिया जाता है। भारत की प्रथम महिला राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल और लोकसभा की माननीया अध्यक्षा सुमित्रा महाजन तथा विदेश मंत्री श्रीमती सुषमा स्वराज भी तिलक धारण करने पर और आकर्षक, प्रसन्न तथा दीप्तिमान दिखाई देती है। यह हमारा पारंपरिक सौंदर्यदाता, सम्मान व ऊर्जा देने वाला एवं चुंबकीय आकर्षण भी है। गृह में प्रवेश करने वाले अतिथि का सम्मान तिलक द्वारा करना, अपने मित्रों व रिश्तेदारों में संबंधी की सुदृढ़ स्थापना करने जैसा है। धरोहर तथा सार्वजनिक समारोह में प्रवेश द्वार पर आगुंतकों को तिलक करने से उनमें सकारात्मकता अलंकृत होने लगती है। ऐसा करने से कार्यक्रम की गरिमा तथा उसके उल्लास में कई गुणा वृद्धि हो जाती है। लुप्त हो रही इस सनातन परंपरा को निर्मल हृदय के साथ पुनः जीवित करने की आवश्यकता है। ✦✦✦

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

सदस्यता शुल्क फार्म

प्रिय महोदय,

कृपया गगनांचल पत्रिका की एक साल/तीन साल की सदस्यता प्रदान करें।

बिल भेजने का पता

....

....

....

....

पत्रिका भिजवाने का पता

....

....

....

....

विवरण	शुल्क	प्रतियों की सं.	रुपये/ US$
गगनांचल वर्ष................	एक वर्ष ₹ 500 (भारत) US$ 100 (विदेश) तीन वर्षीय ₹ 1200 (भारत) US$ 250 (विदेश)		
कुल	छूट, पुस्तकालय 10% पुस्तक विक्रेता 25%		

मैं इसके साथ बैंक ड्राफ्ट सं.. दिनांक ....

रु./US$ .... बैंक ....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली के नाम भिजवा रहा/रही हूं।

कृपया इस फॉर्म को बैंक ड्राफ्ट के साथ
निम्नलिखित पते पर भिजवाएं:
कार्यक्रम अधिकारी (हिंदी)
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-110002, भारत
फोन नं. 011-23379309, 23379310

हस्ताक्षर और स्टैंप ....

नाम...

पद..

दिनांक ....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

प्रकाशन एवं मल्टीमीडिया कृति

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद द्वारा गत 40 वर्षो से हिन्दी पत्रिका गगनांचल का प्रकाशन किया जा रहा है जिसका मुख्य उद्देश्य देश के साथ-साथ विदेशों में भी भारतीय साहित्य, कला, दर्शन तथा हिन्दी का प्रचार-प्रसार करना है तथा इसका वितरण देश-विदेश में व्यापक स्तर पर किया जाता है।

इसके अतिरिक्त परिषद ने कला, दर्शन, कूटनीति, भाषा एवं साहित्य विभिन्न विषयों पर पुस्तकों का प्रकाशन किया है। सुप्रसिद्ध भारतीय राजनीतिज्ञों व दार्शनिकों जैसे महात्मा गांधी, मौलाना आजाद, नेहरू व टैगोर की रचनाएं परिषद की प्रकाशन योजना में गौरवशाली स्थान रखती हैं। प्रकाशन योजना विशेष रूप से उन पुस्तकों पर केन्द्रित है, जो भारतीय संस्कृति, दर्शन व पौराणिक कथाओं, संगीत, नृत्य व नाटयकला से संबद्ध हैं।

परिषद द्वारा भारत में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय महोत्सवों के अंतर्गत सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा विदेशी सांस्कृतिक दलों द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रमों की वीडियो रिकॉर्डिंग तैयार की जाती है। इसके अतिरिक्त परिषद ने ध्वन्यांकित संगीत के 100 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर दूरदर्शन के साथ मिल कर ऑडियो कैसेट एवं डिस्क की एक श्रृंखला का संयुक्त रूप से निर्माण किया है।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की स्थापना, सन् 1950 में स्वतंत्र भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद द्वारा की गई थी। तब से अब तक, हम भारत में लोकतंत्र की दृढ़ीकरण, न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना, अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास, महिलाओं का सशक्तीकरण, विश्व-स्तरीय शैक्षणिक संस्थाओं का सृजन और वैज्ञानिक परम्पराओं का पुनरुज्जीवन देख चुके हैं। भारत की पांच सहस्त्राब्दि पुरानी संस्कृति का नवजागरण, पुनः स्थापना एवं नवीनीकरण हो रहा है, जिसका आभास हमें भारतीय भाषाओं की सक्रिय प्रोन्नति, प्रगति एवं प्रयोग में और सिनेमा के व्यापक प्रभाव में मिलता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, विकास के इन आयामों से समन्वय रखते हुए, समकालीन भारत के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही है।

पिछले पांच दशक, भारत के लम्बे इतिहास में, कला के दृष्टिकोण से सर्वाधिक उत्साहवर्द्धक रहे हैं। भारतीय साहित्य, संगीत व नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला व शिल्प और नाट्यकला तथा फिल्म, प्रत्येक में अभूतपूर्व सृजन हो रहा है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, परंपरागत के साथ-साथ समकालीन प्रयोगों को भी लगातार बढ़ावा दे रही है। साथ ही, भारत की सांस्कृतिक पहचान-शास्त्रीय व लोक कलाओं को विशेष सम्मान दिया जाता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद सहभागिता व भाईचारे की संस्कृति की संवाहक है, व अन्य राष्ट्रों के साथ सृजनात्मक संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करने के लिए परिषद ने अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय संस्कृति की समृद्धि एवं विविधता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

भारत और सहयोगी राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक व बौद्धिक आदान-प्रदान का अग्रणी प्रायोजक होना, परिषद के लिए गौरव का विषय है। परिषद का यह संकल्प है कि आने वाले वर्षों में भारत के गौरवशाली सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक आंदोलन को बढ़ावा दिया जाए।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद मुख्यालय

अध्यक्ष	:	23378616 23370698
महानिदेशक	:	23378103 23370471
उप-महानिदेशक (एन.के.)	:	23370228 23378662
उप-महानिदेशक (पी)	:	23370784
वरिष्ट कार्यक्रम निदेशक (हिंदी)	:	23379386
प्रशासन अनुभाग	:	23370834
अनुरक्षण अनुभाग	:	23378849
वित्त एवं लेखा अनुभाग	:	23379638
भारतीय सांस्कृति केंद्र अनुभाग	:	23379274
अंतरराष्ट्रीय विद्यार्थी प्रभाग-1	:	23370391
अंतरराष्ट्रीय विद्यार्थी प्रभाग-2	:	23370234
अंतरराष्ट्रीय विद्यार्थी (अफगान)	:	23379371
हिंदी अनुभाग	:	23379309-10 एक्स. 3388, 3347

पंजीयन संख्या, आर.एन/32381/78
ISSN-0971-1430

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
फोन : 91-11-23379309, 23379310
ई-मेल : pohindi.iccr@nic.in
वेबसाइट : www.iccrindia.net

आवरण परिकल्पना : ममता गोयनका